प्रकाशक :—
अग्रिमपत्रनिर्दिष्टाभिधानानामुदाराशय-
सज्जनानामार्थिकसाहाय्येन मुम्बापुरी-
महावीरजिनालयस्थश्रीजिनदत्तसूरि-
ज्ञानभाण्डागारकार्यवाहको
झवेरी झवेरभाई केसरीभाई

मुद्रक :—
शाह गुलाबचंद लल्लुभाई
श्रीमहोदय प्रीन्टींग प्रेस
दाणापीठ, भावनगर (सौराष्ट्र)

पुस्तकप्राप्तिस्थाने—

श्रीमहावीरस्वामी जैनमन्दिर
पायधुनी, मुंबई नं० ३

श्रीजिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार
शीतलवाडी उपाश्रय
गोपीपुरा, सुरत (द. गुजरात)

vartamAn

अस्य ग्रन्थस्य मुद्रणे द्रव्यसहायकानां शुभनामानि—

रु० ३५१ शा० भीखमचंदजी नवाजी चूंडा (मारवाड)
„ २७१ शा० चुनीलाल चंदणमल नथाजी „ „
„ २०१ शा० झुमकलाल मलूकचन्द कच्छ—मांडवी
„ १५१ शा० माणकचन्द थावरभाई „ „
„ १५१ शा० सांकलचंदजी दानाजी चूंडा (मारवाड)
„ १५१ श्रीखरतरगच्छ संघ
(शेठ जोयता हरखानी पेढी)राधनपुर (उ. गुजरात)
„ १५० ज्ञानपूजाके,हस्ते शा० पूनसीभाई मोनजी कच्छ-लायजा
„ १०१ शा० प्रेमचंद कचराभाई छाजेड की धर्मपत्नी अखंड
सोभाग्यवंती श्राविका मृगाबाई कच्छ—मांडवी
„ १०१ शा० शांतिलाल गोकलभाई „ „

रु० १०१ शा० अचरतलाल शिवलाल, स्वज्येष्ठ पुत्र
सद्गत अश्विनकुमार की स्मृति निमित्त
राधनपुर (उ गुजरात)
„ १०१ सद्गत शा० कक्कलभाई न्यालचंद के
वील में से, ह. शा० अचरतलाल शिवलाल
तथा शा० दलपतभाई मोहनलाल पारेख
राधनपुर (उ. गुजरात)
„ १०० शा० रूपचंदजी छोगमलजी चूंडा (मारवाड)
„ १०० शा० गणेशमलजी कपूरजी „ „
„ १०० जौहरी इंद्रचंदजी जरगड की धर्मपत्नी
श्राविका शिखरुबाइ जयपुर सीटी (राजस्थान)

रु० ७६ शा० जुहारमलजी वनाजी आहोर (मारवाड)
„ ७७ शा० सांकलचंद भगाजी की दीक्षा
समय की खोल भराइ के श्रीसंघ चूंडा (मारवाड)
„ ५१ मूता साहिबचंदजी गेनाजी आहोर (मारवाड)
„ ५१ शा० रिखबचंदजी भूताजी अगवरी (मारवाड)
„ ५० शा० छगनमलजी वागाजी छाजेड
गढसिवाणा (मारवाड)

रु० ५० शा० जवानमलजी सुजाजी चूंडा (मारवाड)
„ ४५ ज्ञानपूजा के, श्री संघ कच्छ लायजा
„ ४० साध्वीजी मुक्तिश्रीजी–ललितश्रीजी की
प्रेरणा से श्राविका संघ तरफ से ज्ञान-
पूजा के अमरेली तथा रु. १० देवगाम (सौराष्ट्र)
„ २५ शा० हीराजी सिरेमलजी गुलेछा मोकलसर (मारवाड)
„ २५ शा० जखुभाई पेथड मोटा आसंबीया (कच्छ)



उपोद्घात

कृत्वा समीपेऽभयदेवसूरे-र्येनोपसम्पद्ग्रहणं प्रमोदात् । पपौ रहस्यामृतमागमानां, सूरिस्ततः श्रीजिनवल्लभोऽभूत् ॥[1]

पिण्डविशुद्धि का यह उपोद्घात लिखते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। इस ग्रन्थ के यशस्वी लेखक के व्यक्तित्व और कृतित्व की ओर मैं बहुत दिनों से आकृष्ट रहा हूँ। यही कारण है कि मैंने और मेरे विद्यागुरु श्रद्धेय डॉ. श्री फतहसिंहजी एम. ए, डी. लिट्,ने वल्लभभारती के नाम से आचार्य श्रीजिनवल्लभसूरि की समस्त रचनाओं का एक आलोचनात्मक संग्रह प्रकाशित करने की योजना कई वर्ष पूर्व बनाई थी और यह हर्ष की बात है कि वह अब शीघ्र ही पूरी भी होने जा रही है। अतः श्रीबुद्धिमुनिजी गणिने जब मुझ से यह अनुरोध किया कि उनके द्वारा सम्पादित इस पुस्तक की भूमिका में लिखूं तो मैंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। सच पूछिये तो मैं गणिजी का अत्यन्त आभारी हूँ कि उन्होंने सुविहित संघ के पुनरुद्धारक नवाङ्गवृत्तिकार श्रीअभयदेवाचार्य के पट्टधर कविचक्रवर्ति श्रीजिनवल्लभसूरि के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जली भेट करने का अवसर प्रदान किया।

कवि का जीवन-वृत्त

जिनवल्लभसूरि के जीवन-चरित्र के विषय में अधिक खोज करने की आवश्यकता नहीं, उनके योग्य शिष्य युगप्रधान दादोपनामधारक श्रीजिनदत्तसूरिने श्रीगणधरसार्द्धशतक में ६१ पद्यों में अपने गुरु की जो स्तुति की है उसकी टीका करते हुए

१-अष्टलक्षार्थी ।

उन्हीं के प्रशिष्य श्रीसुमति गणिने आचार्य जिनवल्लभसूरि का विस्तार से जीवन–वृत्त दे दिया है; इसीका आधार लेकर आचार्य का जीवन–चरित परवर्ती कई लेखकों ने लिखा और श्रीसुमतिगणि के गुरुभ्राता श्रीजिनपालोपाध्याय ने ' खरतरगच्छालङ्कार युगप्रधानाचार्य गुर्वावली ' में जिनवल्लभसूरि का जो जीवन–चरित लिखा है, वह लगभग अक्षरशः सुमतिगणि द्वारा दिए हुए चरित से मिलता है, अन्तर है तो केवल इतना ही है कि सुमतिगणि की भाषा आलङ्कारिक वर्णनों से परिपूर्ण है तो उपाध्यायजी की भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है। इसलिये इसी वृत्ति को आधार मानकर हम भी उनका संक्षेप में जीवन–चरित दे रहे हैं:—

बाल्यकाल और दीक्षा

बालक जिनवल्लभ ने अपना पठन–पाठन आसिका(हांसी) नामक स्थान में एक चैत्यालय में प्रारंभ किया। कूर्चपुरीय जिनेश्वराचार्य ने इस बालक की प्रतिभा की सब से पहिले परख की। उन्होंने देखा कि बालक जिनवल्लभ अपने सभी सहपाठियों से अधिक मेधासम्पन्न है। इसी बीच में एक चमत्कार हुआ! बालक जिनवल्लभ ने चैत्यालय के बाहर एक पत्र पाया, जिसमें ' सर्पाकर्षिणी ' और ' सर्पमोचिनी ' नाम की दो विद्याएँ लिखी हुई थीं। बालकने दोनों को कण्ठस्थ कर लिया, परन्तु ज्योंही उसने सर्पाकर्षिणी विद्या को पढा त्योंही बड़े बड़े भयंकर सर्प उसकी ओर आने लगे; परन्तु वह बालक उस स्थान पर निर्भयता पूर्वक खड़ा रहा और उसने अनुमान किया कि यह इसी विद्या का प्रभाव है। जैसे ही उसने दूसरी विद्या का उच्चारण करना प्रारंभ किया वैसे ही सब सर्प भाग गये। इस घटना को सुनकर जिनेश्वराचार्य बहुत ही प्रभावित हुए। उन्होंने समझ लिया कि यह बालक कोई सात्विक गुणसंपन्न होनहार व्यक्ति है। अतः उन्होंने उसको शिष्य बनाने की मन में ठान ली। उन दिनों

चैत्यालयों में आचारभ्रष्टता बहुत आगई थी और प्रलोभन आदि देकर भी शिष्यों को फांसना बुरा न समझा जाता था, इसलिये जिनेश्वराचार्यने न केवल उस बालक को द्राक्ष, खजूर आदि देकर वश में किया अपितु उसकी माता को भी द्रव्य देकर और मीठी-मीठी बातें बनाकर जिनवल्लभ को अपने अनुकूल कर लिया और तुरन्त ही उसको दीक्षा दे दी।

विद्याभ्यास

जिनेश्वराचार्यने बड़े मनोयोग के साथ जिनवल्लभ को पढाना प्रारंभ किया। उनके शिष्यत्व में शीघ्र ही उन्होंने तर्क, अलङ्कार, व्याकरण, कोष आदि अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर लिया। जिनवल्लभ की प्रखरबुद्धि जैसी विद्याध्ययन में सफल होती थी वैसी ही व्यावहारिक क्षेत्र में भी। एक बार जिनेश्वराचार्य किसी काम से आसिका से बाहर गये। जाते समय उन्होंने उस चैत्यालय तथा उससे संबन्धित वाटिका, विहार, कोष्ठागार इत्यादि की व्यवस्था का सारा भार जिनवल्लभ को सौंप दिया। जब वे वापिस आये तो यह जानकर बहुत प्रसन्न हुए कि जिनवल्लभने सारा प्रबन्ध बड़ी कुशलता के साथ किया और उसमें कोई भी कमी नहीं आने दी।

अपने गुरु के प्रवास काल में बालक जिनवल्लभ को संयोगवश एक वस्तु और मिली, जिसका महत्त्व संभवतः उस समय उनको न मालूम हुआ होगा। परन्तु कौन कह सकता है कि उनके जीवन की दिशा को बदलने में उसने अप्रत्यक्षरूप से बहुत बड़ा काम नहीं किया! घटना इस प्रकार है—

जब जिनेश्वराचार्य दूसरे ग्राम में चले गये तब बाल-सुलभ कौतुहलवश उन्होंने एक पुस्तकों से भरी हुई पेटी की छान-बीन प्रारंभ की। उसमें उनको एक सिद्धान्त-पुस्तक मिली। उस पुस्तक में उन्होंने जो पढा उससे उन्हें पता चला कि चैत्यवासियों

का जो आचार-विचार है वह (दशवैकालिकादि) सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत है। उसमें लिखा था "साधु को ४२ दोषों से रहित होकर गृहस्थों के घरों से थोड़ा थोड़ा भोजन उसी प्रकार लाना चाहिए जिस प्रकार मधुकर विभिन्न फूलों से रस को एकत्र करता है-इस वृत्ति के द्वारा साधु की देहधारणा हो जाती है और किसी को कष्ट भी नहीं होता। साधुओं को एक स्थान पर निवास नहीं करना चाहिये और न सचित्त फूल-फलादि को स्पर्श‌हा करना चाहिये।" यह पढ़ते ही बालक जिनवल्लभ का मन उद्वेलित हो उठा और उन्होंने सोचा "अहो! अन्य एव स कश्चिद् व्रताचारो, येन मुक्तौ गम्यते, विसदृशस्त्वस्माकमेष समाचारः, स्फुटं दुर्गतिगर्तायां निपततां एतेन न कश्चिदाधारः।" अर्थात् "अहो! जिससे मुक्ति प्राप्त होती है वह तो व्रत और आचार कोई दूसरा ही है, हमारा तो यह आचार बिल्कुल विपरीत ही है। हम तो स्पष्टतया ही दुर्गति के गड्ढे में पड़े हुए हैं और हम बिल्कुल निराधार हैं।"

अभयदेवसूरि से विद्याध्ययन

महापुरुषों के जीवन का यह एक व्यापक रहस्य है कि उनके मन में उठनेवाले महत्त्वपूर्ण संकल्पों की सिद्धि का मार्ग स्वतः ही तैयार हो जाता है। जिनवल्लभ के विषय में भी यही हुआ। उनके मन में साधु के सच्चे व्रताचार के लिये जो उत्कण्ठा थी उसके लिये समुचित साधन स्वतः ही उपस्थित हो गये। जिनेश्वराचार्यने स्वयं सोचा कि जिनवल्लभ को सिद्धान्त-ग्रन्थों की शिक्षा दिलवाना आवश्यक है। उस समय सिद्धान्त-ग्रन्थों के ज्ञान में श्रीअभयदेवसूरि की बड़ी प्रसिद्धि थी। उन्होंने जिनवल्लभ को उन्हीं आचार्य के पास पाटण में भेज दिया। सिद्धान्त ग्रन्थ पढने के लिये यह आवश्यक है कि पढनेवाला

व्यक्ति उसका अधिकारी हो; यही अधिकार प्रदान करने के लिये उन्हें वाचनाचार्य बनाकर भेजा+ । जिनवल्लभगणि के साथ उनके गुरुभ्राता जिनशेखर भी गये ।

उन दिनों चैत्यवासियों और वसतिवासियों में पर्याप्त संघर्ष रहा करता था, अतः एक चैत्यवासी आचार्य के शिष्य को आगम की वाचना देना स्वीकार कर लेना एक वसतिवासी आचार्य के लिये संकट से खाली नहीं था । इसलिये श्रीअभयदेवसूरि के मन में भी संशय उठा कि वह जिनवल्लभ को वाचना दें या नहीं ? परन्तु जब उनको विश्वास हो गया कि जिनवल्लभ के मन में सिद्धान्त–वाचना के लिये उत्कट अभिलाषा है और उसके लिये उपयुक्त पात्रता भी; तो उन्होंने सोचा कि—

"मरिज्जा सह विज्जाए, कालम्मि आगए विऊ । अपत्तं च न वाइज्जा, पत्तं च न विमाणए ॥"

अर्थात्–अवसान समय के आने पर विद्वान् मनुष्य अपनी विद्या के साथ भले मर जाय, परंतु अपात्र को शास्त्रवाचना न कराय और पात्र के आने पर उसका (वाचना न कराके) अपमान न करे । इसलिये उन्होंने गणि जिनवल्लभ को वाचना देना स्वीकार कर लिया । और जैसे जैसे जिनवल्लभगणि अपने विद्याभ्यास से उन्हें सन्तुष्ट करते गये वैसे ही वे विद्यादान में अधिकाधिक उत्साही होते गये । इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने थोड़े से समय में ही सारे सिद्धान्त–ग्रन्थों का अध्ययन पूर्ण कर लिया । जिनवल्लभगणि की प्रखरबुद्धि और ज्ञान–पिपासा को देखकर आचार्यने उन्हें एक बहुत बड़े ज्योतिषज्ञ के पास भेजा । इस विद्वानने आचार्य से पहिले ही कह रखा था कि आपका कोई योग्य शिष्य हो तो उसे मेरे पास भेजें जिससे मैं

+ यहा से आपकी ख्याति 'जिनवल्लभ गणि' के नाम से हुई ।

उसको अपना समग्र ज्योतिष-ज्ञान सिखला दूँ। योग्य शिष्य को पाकर किस गुरु का मन प्रसन्न न होगा ? वह ज्योतिषाचार्य भी जिनवल्लभगणि जैसे छात्र को पाकर बहुत सन्तुष्ट हुआ और उसने उन्हें अपनी सारी विद्या सिखा दी। उन्होंने कौन-कौन से ग्रन्थ पढे-इसका तो पता नहीं चलता, परन्तु इस सम्बन्ध में सुमतिगणि और जिनपालोपाध्याय दोनों ने ही यही लिखा है कि उन्होंने 'सर्व ज्योतिषशास्त्र' पढे थे।

जिनवल्लभगणि की विद्वत्ता का वर्णन करते हुए उक्त दोनों लेखकोंने जिन लेखकों का और ग्रन्थों का उल्लेख किया है उनसे पता चलता है कि उन्होंने जैन सिद्धान्त और ज्योतिष शास्त्र के अतिरिक्त और भी बहुत से ग्रन्थ पढे थे। इसके अतिरिक्त पत्तन में उन्होंने जो अध्ययन किया उसमें जैन-दर्शन और ज्योतिष शास्त्र के अतिरिक्त किन्हीं अन्य ग्रन्थों के अध्ययन करने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतः यह मानना पड़ेगा कि इनके अतिरिक्त उन्होंने जो कुछ अध्ययन किया उसके लिये तो अधिकांशतः वे चैत्यवासी जिनेश्वराचार्य के ही ऋणी थे। यही कारण है कि वे अपने प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतक काव्य में जहां अपने 'सद्गुरु अभयदेवाचार्य'[1] का स्मरण करते हैं तो "मद्गुरवो जिनेश्वरसूरयः"[2] कह कर उन चैत्यवासी आचार्य को भी नहीं भूलते।

---

१ पाके धातुरवाचि कः ? क भवतो भीरोर्मनः प्रीतये ?, सालङ्कारविदग्धया वद कया रज्यन्ति ? विद्वज्जनाः।
पाणौ किं मुरजिद् बिभर्ति ? भुवि त ध्यायन्ति ? के वा सदा, के वा सद्गुरवोऽत्र चारुचरणश्रीसुश्रुता विश्रुताः ॥ १५८ ॥ उत्तरं-" श्रीमदभयदेवाचार्याः।"

२ कः स्यादम्भसि वारिवायसवति ? क द्वीपिनं हन्त्ययं ?, लोके प्राह हयः प्रयोगनिपुणैः कः शब्दधातुः स्मृतः ?।
ब्रूते पालयिताऽत्र दुर्धरतरः कः क्षुभ्यतोऽम्भोनिधे-र्ब्रूहि श्रीजिनवल्लभ ! स्तुतिपदं कीदृग्विधाः के सताम् ? ॥ १५९ ॥ उत्तरं-"मद्गुरवो जिनेश्वरसूरयः।"

इससे सिद्ध होता है कि जिनेश्वराचार्य भी बड़े प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने जो ग्रन्थ संभवतः जिनवल्लभ को पढाये, उसमें पाणिनीय आदि के आठों व्याकरण, मेघदूतादि काव्य, रुद्रट, उद्भट, दण्डी, वामन और भामह आदि के अलङ्कार ग्रन्थ, ८४ नाटक, जयदेव आदि के छन्दःशास्त्र के ग्रन्थ, अनेकान्तजयपताकादि जैन न्यायग्रन्थ तथा तर्ककन्दली, किरणावली, न्यायसूत्र तथा कमलशीलादि जैनेतर दार्शनिक ग्रन्थ थे। एक और ग्रन्थ या ग्रन्थकार जिसका उल्लेख उनकी विद्वत्ता के प्रसंग में मिलता है वह है 'शङ्करनन्दन।' यह ठीक नहीं कहा जा सकता कि शङ्करनन्दन से अभिप्राय किससे है ? संभवतः यह कोई वेदान्ती आचार्य रहा हो।

चैत्यवास त्याग और उपसम्पदा ग्रहण

पत्तन में विद्याध्ययन समाप्त करने के पश्चात् जब वे अपने गुरु जिनेश्वराचार्य के पास वापिस जाने लगे तो आचार्य अभयदेवसूरिने कहा कि "बेटा ! सिद्धान्त के अनुसार जो साधुओं का आचार व्रत है वह तुम सब समझ चुके, अतः उसके अनुसार जिस प्रकार आचरण कर सको वैसा ही प्रयत्न करना।" यह वस्तुतः जिनवल्लभगणि के अन्तरात्मा की पुकार थी; उनके मन में चैत्यवास के प्रति अरुचि और वसतिवास के प्रति उत्कट प्रेम पहिले से ही उत्पन्न हो चुका था, अतः जिनवल्लभगणिने भी अभयदेवाचार्य के चरणों पर गिर कर कहा कि "गुरुदेव ! आपकी जो आज्ञा है वैसा ही निश्चित रूप से करूंगा।" इस वचन का पालन उन्होंने मार्ग में ही करना प्रारंभ कर दिया। जैसे ही वे मरुकोट (मरोट) में पहूंचे, (जहां कि उन्होंने आते समय देवगृह की स्थापना की थी) तो उन्होंने देवगृह में एक विधिवाक्य के रूप में निम्नलिखित श्लोक लिखा, जिसका

पालन करके अविधिचैत्य भी विधिचैत्य होकर मुक्ति का साधन बन सकेः—

अत्रोत्सूत्रिजनक्रमो न च न च स्नात्रं रजन्यां सदा, साधूनां ममताश्रयो न च न च स्त्रीणां प्रवेशो निशि ।
जातिज्ञातिकदाग्रहो न च न च श्राद्धेषु ताम्बूलमि–त्याज्ञाऽऽत्रेयमनिश्रिते विधिकृते श्रीजैनचैत्यालये ॥ १ ॥

जब उन्होंने जिनेश्वराचार्य से पृथक् होने का दृढ संकल्प कर लिया था, यह कोई सरल कार्य नहीं था, उस बूढे की जिनवल्लभजी पर प्रगाढ ममता थी और इनका भी उनके प्रति अनुराग और भक्तिभाव होना स्वाभाविक था, अतः इस सुदृढ स्नेह–बन्धन को काट कर निकल भागना साधारण कार्य न था। जिनवल्लभगणि के मन में भी परिस्थिति की गम्भीरता आई और उन्होंने सोचा कि संभवतः जिनेश्वराचार्य के चैत्य में पहूँच कर पूर्वस्मृतियाँ अत्यधिक वेग से जागृत हो उठेंगी और उस समय अपने संकल्प पर दृढ रहना कठिन हो जायगा। इसीलिये उन्होंने वहां न जाकर निकटवर्ती माइयड ग्राम में ही रह कर अपने गुरु को पत्र लिखकर मिलने के लिये बुलाया। पत्र में उन्होंने लिखा था–" मैं गुरु से विद्याध्ययन करके माइयड ग्राम में आगया हूँ, यदि भगवन्! यहीं आकर मुझ से मिलेंगे तो अति कृपा होगी " यह पत्र पढकर जिनेश्वराचार्य को बहुत आश्चर्य और दुःख हुआ। परन्तु फिर भी वे बड़े समारोह के साथ शिष्य को लेने माइयड ग्राम गये। यह सुनते ही कि गुरुजी अनुग्रह करके पधारे हैं, जिनवल्लभगणि गद्गद हो गये और तत्काल उनके सामने पहूँचे और विधिवत् प्रणाम किया। स्नेह की सरिता उमड उठी। गुरुने क्षेमकुशल पूछी, उसका उन्होंने यथोचित उत्तर दिया। इसी समय उनको अपना ज्योतिष का ज्ञान दिखाने का भी अवसर उपस्थित हुआ। एक ब्राह्मण वहां आया और उसने ज्योतिष की कइ समस्याओं को उपस्थित किया, जिनवल्लभगणि द्वारा

उनका समुचित समाधान देखकर जिनेश्वराचार्य बहुत ही आश्चर्यचकित हुए और उनके हृदय में अपार हर्ष और उल्लास उत्पन्न हो गया। ऐसी अवस्था में जिनवल्लभगणि के आसिका न जाने से उनके मन में जो शंका उत्पन्न हुई थी वह एक पहेली बनकर उनके मन में फिर उठी और उन्होंने पूछा कि जिनवल्लभ! यह क्या बात है कि तुम सीधे आसिका के अपने चैत्यवास में न आये और मुझे यहां बुलाया? यह जिनवल्लभगणि के संकल्प-संयम और धैर्य की परीक्षा का समय था। कोई साधारण जन होता तो ममता और मोह के ऐसे पारावार में डूब गया होता, परन्तु जिनवल्लभगणिने अत्यन्त दृढता के साथ विनीत स्वर में कहा—"भगवन्! सद्गुरु के श्रीमुख से जिनवचनामृत का पान करके भी अब उस चैत्यवास का सेवन कैसे करूं? जो कि मेरे लिये विष-वृक्ष के समान है।" यह सुनते ही आचार्य जिनेश्वर की आशाओं पर तुषारापात हो गया। उस समय उनकी दशा बड़ी दयनीय थी। वे बोले-जिनवल्लभ! मैंने यह सोचा था कि मैं अपना सारा उत्तराधिकार देकर और चैत्यालय, गच्छ तथा श्रावक संघ का सारा भार तुम्हें सौंप कर स्वयं सद्गुरु के पास जाकर वसतिवास को स्वीकार करूंगा। उनके यह वचन सुनकर जिनवल्लभगणि का मुख हर्षोल्लास से जगमगा उठा और वे बोले "भगवन्! यह तो बहुत ही सुन्दर बात है, हेय वस्तु का परित्याग करके उपादेय वस्तु का ग्रहण करना ही विवेक का काम है, अतः अपने दोनों एक साथ ही सद्गुरु के समीप चलकर सन्मार्ग को स्वीकार करें।" यह सुनकर जिनेश्वराचार्यने एक दीर्घ निःश्वास ली और करुण स्वर में कहा कि "बेटा! मुझ में इतनी निःस्पृहता कहां? कि गच्छ, चैत्य आदि को ऐसे ही छोड़ दूं? हाँ जब तुम तुल गये हो तो अवश्य ही वसतिवास को स्वीकार करो।"

इस प्रकार गुरु से अनुमति प्राप्त करके वे पुनः पत्तन में गये और अभयदेवसूरि को अत्यन्त आदरपूर्वक प्रणाम किया।

आचार्य अभयदेवसूरि भी हृदय में अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने सोचा कि मैंने इसको जैसा योग्य समझा था वैसा ही सिद्ध हुआ। उनके मन में यह दृढ विश्वास था कि जिनवल्लभ ही हमारा उत्तराधिकारी(पट्टधर) होने के सर्वथा योग्य है। "परन्तु क्या उसको समाज स्वीकार करेगा? वह एक चैत्यवासी आचार्य का शिष्य था, पर इससे क्या? क्या पङ्क से पङ्कज उत्पन्न नहीं होता?" इस प्रकार सोचते हुए भी अभयदेवसूरि जैसे प्रभावशाली आचार्य–शिरोमणि भी जिस बात को न्याय, धर्म और समाजहित की दृष्टि से सर्वथा उचित समझते थे, उसको अन्धविश्वासी समाज का विरोध सहन करके भी करते। संभवतः वे भी यही सोचकर संतुष्ट हो गए कि "यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं, न करणीयं नाचरणीयम्"। अतः आचार्यश्री के मन की बात मन में ही रह गई और उन्होंने समाज के सामने मत्था टेककर अपनी अन्तरात्मा की पुकार के विरुद्ध अपने दूसरे शिष्य वर्धमान को आचार्य–पद देकर जिनवल्लभगणि को उपसम्पदा प्रदान की और सर्वत्र विचरण करनेकी अनुमति प्रदान की। तत्पश्चात् आचार्य अभयदेवसूरि के कथनानुसार प्रसन्नचन्द्राचार्य की आज्ञासे उनके पश्चात् देवभद्राचार्यने इनको पट्टधर बनाने का प्रयत्न किया, परन्तु जब जिनवल्लभगणि को यह पद प्राप्त हुआ, तो उनके जीवन का सूर्य अस्त होने वाला था।

चित्रकूट गमन

उपसम्पदा ग्रहण करके वे कुछ दिन गुर्जरप्रदेश में विहार करते रहे, परन्तु यहां उन्हें सुविहित सिद्धान्त–प्रचार में वैसी सफलता नहीं मिली, जैसी कि वे चाहते थे। उस समय गुजरात चैत्यवासियों का सब से बड़ा गढ था; यहां पर जिनवल्लभगणि जैसे क्रान्तिकारी विचारक, कटु आलोचक और निर्भय वक्ता की दाल गलना सरल न था, यह तो अभयदेवाचार्य जैसे सुलझे

हुए और व्यवहार–कुशल व्यक्ति का ही काम था, जो चैत्यवासियों के प्रधानाचार्य आचार्य द्रोणसूरि तक से समुचित सन्मान प्राप्त कर सके और अपने नवाङ्गों की टीका पर उनकी छाप लगवा कर चैत्यवासियों द्वारा मान्य भी करा सके। जहां श्रीअभयदेवाचार्य के इस प्रयत्न को स्तुत्य कहना पड़ता है वहां यह भी मानना पड़ता है कि उन्हें उसके लिये कई बार अपने सिद्धान्तों को बलि देकर आचार–शैथिल्य भी स्वीकार करना पडा था। परन्तु जिनवल्लभगणि दूसरे ही प्रकार के व्यक्ति थे, वे जिसका विरोध करते थे उसका बडे उग्ररूप में; और उन्हें किसी विषय में और किसी समय शिथिलता तनिक भी पसन्द नहीं थी। इनकी असफलता का एक कारण यह भी हो सकता है कि चैत्यवास त्याग करने से चैत्यवासी इनको अपना शत्रुसा समझने लगे होंगे और चैत्यवास के संसर्ग में रहने के कारण वसतिमार्गियों से उन्हें समुचित आदर और सहयोग न मिला होगा। इसी कारण संभवतः उन्होंने गुर्जरप्रदेश को छोड़कर मेदपाट(मेवाड़) में जाना स्वीकार किया। यद्यपि वहां भी सर्वत्र चैत्यवासियों का जोर था, परन्तु नये प्रदेश में एक प्रतिभाशाली व्यक्ति के लिये अपना स्थान बना लेना अधिक सरल होता है। 'घर का जोगी जोगिया, आन गांव का सिद्ध।' यह कहावत प्रसिद्ध ही है। इसीके अनुसार महात्मा गौतम बुद्ध को जो आदर बाहर मिला वह उनकी जन्मभूमि कपिलवस्तु में नहीं; भगवान महावीर को भी लिच्छवी गण में सफलता तब ही मिली जब वे अन्यत्र प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। यही बात आधुनिक काल में आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द के जीवन में भी हुई। अतः जिनवल्लभगणि को मेदपाट में अधिक सफलता प्राप्त होना स्वाभाविक ही था।

मेदपाटप्रदेश में जाकर उन्होंने पहिले पहल चित्रकूट(चित्तोड) में कुछ दिन विताने का निश्चय किया। वहां पर उनके

गुरु आचार्य अभयदेवसूरि की कीर्ति और प्रतिष्ठा पर्याप्त थी। अतः वहां के लोग उनका कोई बिगाड़ तो न कर सके परन्तु फिर भी उन्हें कुछ क्षुद्रजनों का पर्याप्त विरोध सहन करना पड़ा। वहां के श्रावकों से उन्होंने रहने के लिये स्थान मांगा तो उत्तर मिला "यहां एक चण्डिकामठ है वहां यदि ठहरना चाहें तो ठहर जांय।" गणिजी उनके दुष्ट अभिप्राय को अच्छी तरह से समझते थे, परन्तु फिर भी वे देवगुरु के प्रसाद पर विश्वास रख के वहीं पर ठहर गये। चण्डिका देवी भी उनके ज्ञान, ध्यान और अनुष्ठान से प्रसन्न हुई और उनकी सिद्धिदात्री बन गई। उनके पास प्रतिदिन अनेक दार्शनिक ब्राह्मण आने लगे, इनमें से प्रत्येक निज निज शास्त्रों के विषय में उनसे वार्तालाप करता था और उनके उत्तर से सन्तोषलाभ करता था। धीरे धीरे उनकी विद्वत्ता की प्रसिद्धि और उनके पाण्डित्य का प्रभाव व सुयश सर्वत्र फैल गया। जैन श्रावक भी उनकी ओर आकर्षित हुए और उनको विश्वास होने लगा कि यही एक साधु है जो सर्व संशयों को दूर करके हमारे हृदय के अन्धकार को दूर कर सकता है। गणिजी में जो बात सब से अधिक आकर्षण करने वाली थी वह यह थी कि उनकी 'कथनी' और 'करणी' एक थी। वे जिन सिद्धांतवचनों की व्याख्या अपने वचनों में करते थे उन्हीं को वे अपने आचरण में भी उतारते थे।

गणिजी के चमत्कार

चित्रकूट में रहते हुए जिनवल्लभगणिने कई चमत्कारपूर्ण कार्य किये। इनका साधारण नाम का एक भक्त-श्रावक एक वार उनके पास आया। वह चाहता था कि अपने जीवन में परिग्रह की एक सीमा निर्धारित करलूँ। इसका संकल्प लेने के लिये जब वह उनके पास आया तो उन्होंने पूछा कि तुम अपने सर्व संग्रह की सीमा कितनी रखना चाहते हो? साधारण श्रावक का

वैभव साधारण ही था, अतः उसने सर्व संग्रह की सीमा २० हजार की रखी। परन्तु जिनवल्लभगणि जो अपने ज्योतिष-ज्ञान से उसके भावी ऐश्वर्य को देख सकते थे, अतः उन्होंने उस सीमा को और बढाने के लिए कहा, तब साधारण ने तीस सहस्र कहे, परन्तु जिनवल्लभगणि ने कहा कि 'यह पर्याप्त नहीं है और अधिक बढाओ।' साधारण को इस पर बहुत आश्चर्य हुआ, क्योंकि उसके गृह की समस्त वस्तुओं का मूल्य ५०० भी नहीं होता था, फिर भी गणिजी के वारंवार आग्रह करने पर उसने एक लाख का सर्व परिग्रह निश्चित किया। स्वल्प कालान्तर में ही उसकी संपत्ति इतनी बढी कि वह एक लक्षाधीश कहलाने लगा और वह सम्पूर्ण संघ में अग्रगण्य हो गया। इस चमत्कार से वे सारे सेठ भी उनकी ओर आकर्षित हो गये; जो साधुओं के पास धर्म और चारित्र की शिक्षा के लिये नहीं अपितु ऋद्धि-सिद्धि दोहने के लिये जाते हैं।

एक दूसरा चमत्कार उन्होंने और दिखलाया। उनके ज्योतिष-ज्ञान की कीर्त्ति सर्वत्र फैल गई थी। एक ज्योतिषी ब्राह्मण उनके यश को सहन न कर सका और वह जिनवल्लभगणि को नीचा दिखाने की दृष्टि से उनके पास आया। आसन देने के पश्चात् निम्निलिखित वार्तालाप प्रारंभ हुआः—

जि०—भद्र! आपका निवासस्थान कहां है? और आपने किस शास्त्र का अभ्यास किया है?। ब्रा०—मेरा निवासस्थान यहां ही है और मैंने अभ्यास—व्याकरण, काव्य, अलङ्कार आदि सब ही शास्त्रों का किया है। जि०—ठीक है, परन्तु विशेष रूप से किस विषय का किया है?। ब्रा०—ज्योतिष का। जि०—चन्द्र और आदित्य के लग्नों के विषय में आप जानते हैं?। ब्रा०—इसमें क्या है? बिना गणना किये ही एक दो या तीन लग्नों का प्रतिपादन कर सकता हूँ। जि०—बहुत सुन्दर ज्ञान है!। ब्रा०—लग्न

के विषय में क्या आप भी कुछ जानते हैं ? । जि०—हां कुछ थोड़ा सा । ब्रा०—अच्छा, तो आप कुछ कहें । जि०—भूदेव ! आप बतलाइये, मैं दस या बीस कितने लग्नों का प्रतिपादन करूं ?

यह बात सुनकर ब्राह्मण आश्चर्यचकित हो गया और उसके आश्चर्य का तो ठिकाना ही न रहा, जब उन्होंने शीघ्र गणना करके उन लग्नों को बतला दिया । इसके बाद गणिजी आकाश की ओर संकेत करके बोले—" विप्रवर ! देखो वह आकाश में दो हाथ का जो मेघ–खण्ड दिखाई पड़ता है, क्या आप बता सकते हैं कि उससे कितनी वर्षा होगी ? " ब्राह्मण बेचारा हतप्रभ हो गया । उसको निरुत्तर देख कर गणिजीने बतलाया—वह मेघखण्ड दो घड़ी के भीतर सम्पूर्ण गगनमण्डल में व्याप्त होकर इतनी जल–वृष्टि करेगा कि दो ' भाजन ' भर जायेंगे । सचमुच ऐसा हुआ भी । इसके परिणाम स्वरूप वह ब्राह्मण जब तक वहां रहा, तब तक उनके चरणों की वन्दना करके ही भोजन करता था ।

षट्कल्याणक–प्ररूपणा

जिनवल्लभगणि जैन सिद्धान्त के कितने मर्मज्ञ थे और उसका प्रतिपादन वे कितने निर्भय होकर करते थे; इस बात का प्रमाण उनके द्वारा की गई छठे कल्याणक की प्ररूपणा में मिलता है । साधारणतया प्रत्येक तीर्थंकर के निम्नलिखित पांच कल्याणक माने जाते हैं:—

१—देवलोक से च्युत होकर माता के गर्भ में प्रवेश करना । २—जन्म ग्रहण करना । ३—संसार से विरक्त होकर प्रव्रज्या (दीक्षा) ग्रहण करना । ४—तपश्चर्या द्वारा केवलज्ञान–केवलदर्शन प्राप्त करना । ५—निर्वाण (मुक्ति) प्राप्त करना ।

भगवान महावीर के विषय में यह विशेष माना जाता है कि पहिले उन्होंने देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में प्रवेश किया और वहां से उस गर्भ को इन्द्र-आदेश से हरिणगमेषी देव द्वारा महारानी त्रिशला के गर्भ में लाया गया। सूत्रग्रन्थों में जैसा कि आगे बतलाया गया है, इस गर्भापहरण को भी उपर्युक्त पांच के समान ही एक कल्याणक माना गया है। जिनवल्लभगणिने कल्पसूत्रादि के पाठ पर सम्यग् विमर्श कर इसको छठा कल्याणक प्रसिद्ध किया। अन्य पांच कल्याणकों के उपलक्ष में तो उस समय चैत्यवासी लोग भी एक उत्सव मनाकर भगवान की पूजा किया करते थे, परन्तु गर्भापहरण नाम का कल्याणक तत्कालीन जनता में विस्मृत हो चुका था। इसलिये जब आश्विन-कृष्णा त्रयोदशी के आने पर जिनवल्लभगणिने श्रावकों से कहा कि आज हमें श्रमण भगवान महावीर का छठा कल्याणक मनाना है तो वे बड़े आश्चर्य में पड़ गये। परन्तु जब उनको आगमों के प्रमाण देकर समझाया गया तो वे लोग उस छठे कल्याणक को मनाने के लिये सहर्ष तैयार हुए। वहां के सभी देवालय चैत्यवासियों के थे; अतः प्रश्न यह था कि उसको कहां मनाया जाय? प्रथम तो जिनवल्लभगणि के नेतृत्व में सभी श्रावक एक चैत्यालय पर गये, परन्तु उनको देखते ही उस चैत्यालय की एक आर्या धरना देकर द्वार पर बैठ गई। उसका कहना था कि ऐसा काम कभी भी नहीं हुआ, इसलिये मैं अपने जीते जी कदापि न होने दूंगी। बहुत समझाने बुझाने पर भी जब उसने अपना हठ नहीं छोड़ा, तो जिनवल्लभगणि सारे श्रावकों को लेकर वापिस अपने स्थान पर लौट आये। अन्त में एक श्रावक के घर पर ही भगवान की मूर्ति की स्थापना कर वह उत्सव सम्पन्न किया गया।

विधिचैत्यों की स्थापना

इस घटना से जिनवल्लभगणि के श्रावकों को अपनी उपासना के लिये एक स्वतंत्र देवगृह की आवश्यकता प्रतीत हुई। अतः उन्होंने गणिजी के सामने दो देवालय बनाने की इच्छा प्रकट की। गणिजीने भी उनके इस पुण्य प्रयत्न को श्रावकों का आवश्यक कर्त्तव्य व आचार बतलाया और श्रावकों ने भी निर्माण का कार्य प्रारंभ कर दिया। सत्कार्य में विघ्न होते ही हैं। इस कार्य में भी अकारण ही वसुदेव नामक सेठ विघ्नरूप बन कर उपस्थित हुआ और उसने इन देवगृह-निर्माण करने वाले श्रावकों को कापालिक तक कह डाला। एक दिन बाहर जाते हुए गणिजी को वह मिल गया, तो उन्होंने बड़े प्रेम-पूर्वक उससे कहा कि 'भद्र वसुदेव! गर्व करना ठीक नहीं है। जो श्रावक देवालय बनवा रहे हैं उनमें कोई ऐसा भी होगा जो तुम्हें कभी बन्धन-मुक्त करेगा।' उस समय तो वसुदेव संभवतः इन शब्दों के मर्म को न समझ सका। परन्तु कुछ दिनों बाद जब वह किसी अपराध के कारण राजा का कोपभाजन हुआ और उसे ऊंठ के साथ बांधकर के लेजाने की आज्ञा हुई तो जिनवल्लभगणि के भक्त-श्रावक साधारण नाम के सेठने ही उसको छुड़ाया। अन्त में उक्त दोनों मन्दिर पूर्ण हो गए और वाचनाचार्य जिनवल्लभ गणि ने पार्श्वनाथ और महावीर विधिचैत्यों की स्थापना कर दी।

षड्यन्त्र का भण्डाफोड

जिनवल्लभ गणि के बढते हुए प्रभाव को कुछ लोग सहन न कर सके और वे उसको कम करने के लिये तरह तरह के उपाय करने लगे। किन्हीं मुनिचन्द्राचार्य ने अपने दो शिष्यों को जिनवल्लभजी के पास भेजा। प्रत्यक्ष में तो वे गणिजी से

सिद्धान्तवाचना के लिये आये थे परन्तु अप्रत्यक्ष में वे एक षड्यन्त्र का आयोजन कर रहे थे। जिनवल्लभगणि शुद्ध मन से उन दोनों को सिद्धान्तों का अध्ययन कराते थे, परन्तु वे दोनों येन केन प्रकारेण जिनवल्लभगणि के श्रद्धालु श्रावकों में उनके प्रति असद्भाव उत्पन्न करने में लगे हुए थे, और अपने सब कारनामों का समाचार अपने गुरु मुनिचन्द्राचार्य को लिखते रहते थे। एक वार संयोगवश उनका लिखा पत्र जिनवल्लभजी के हाथ आगया और सारा भण्डाफोड हो गया। सारा प्रसंग जानकर उनके मन में खेद उत्पन्न हुआ और उनके मुख से निकल पडाः—

आसीज्जनः कृतघ्नः, क्रियमाणघ्नस्तु साम्प्रतं जातः। इति मे मनसि वितर्को, भवितालोकः कथं भविता ? ॥ १ ॥

जिनवल्लभगणि बड़े स्पष्टवादी थे और उनकी आलोचना बड़ी कटु होती थी। सभी विद्वान लोग बैठे हुए थे, बहुत से ब्राह्मण विद्वान भी आए हुये थे। इस वार व्याख्यान में निम्नलिखित गाथा आगईः—

धिज्जाईण गिहीणं, जाईणं [? जइ] पासत्थाईण वावि दट्ठूणं। जस्स न मुज्झइ दिट्ठी, अमूढदिट्ठिं तयं बिंति ॥ १ ॥

इस गाथा की व्याख्या उन्होंने बड़े विस्तार के साथ की और इस प्रसंग में चैत्यवासियों के साथ साथ ब्राह्मणों की भी तीव्र आलोचना की। ब्राह्मण लोग इस बात को सहन न कर सके और क्रुद्ध होकर व्याख्यान से उठ गये। उन्होंने एकत्र होकर सोचा कि किसी प्रकार जिनवल्लभ के साथ विवाद करके इनको निष्प्रभ करना चाहिये। परन्तु जिनवल्लभगणि इससे तनिक भी भयभीत नहीं हुए और उन्होंने निम्निलिखित पद्य भोजपत्र पर लिखकर उनके पास भेजाः—

मर्यादाभङ्गभीतेरमृतमयतया धैर्यगाम्भीर्ययोगाद्, न क्षुभ्यन्ते च तावन्नियमितसलिलाः सर्वदैते समुद्राः।

आहो ! क्षोभं व्रजेयुः कचिदपि समये दैवयोगात् तदानीं न क्षोणी नाद्रिचक्रं न च रविशशिनौ सर्वमेकार्णवं स्यात् ॥ १ ॥
यह श्लोक वृद्ध ब्राह्मणने पढा और अन्य कुपित हुए ब्राह्मणों को समझा बुझाकर शांत किया।

प्रतिबोध और प्रतिष्ठाएँ

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिनवल्लभगणिने द्रोह, दर्प और विरोध के सामने कभी शिर नहीं झुकाया, साथ ही वे यह भी समझते थे कि मनुष्य कितना निरीह प्राणी है जो लोभादि का शिकार सहज ही में हो जाता है। ऐसे लोगों पर वे क्रोध नहीं करते थे, क्योंकि वे दया के पात्र होते हैं। इस प्रकार के लोग भी उनके पास आते थे, तो वे उनको आध्यात्मिक रोगी समझ कर उनकी चिकित्सा–विधान किया करते थे, शर्त इस बात की थी कि उस व्यक्ति में पूर्ण श्रद्धा होनी आवश्यक थी। एक वार गणदेव नाम का एक श्रावक उनके पास आया, उसे स्वर्ण(सोना) सिद्धि की आवश्यकता थी। उसने सुन रखा था कि जिनवल्लभजी के पास स्वर्णसिद्धि है, वह उनके स्थान पर वारंवार आने लगा। गणिजी को उसका यह भाव ज्ञात हो गया, उन्होंने लिप्सा की लपट से दग्ध होते हुये उसके हृदय को परख लिया, अतः उन्होंने ऐसे उपदेशामृत की वृष्टि करना प्रारंभ किया कि वह सेठ स्वर्णार्थी से धर्मार्थी हो गया। तब गणिजीने पूछा 'भद्र! कहो क्या तुम्हें स्वर्णसिद्धि की आवश्यकता है?' तो, उसका यही उत्तर था कि मैं तो श्राद्ध–धर्म का ही व्यवहार करना चाहता हूं। यही सेठ बाद में इनके लिखित 'द्वादशकुलक' नामक उपदेशों को लेकर वाग्जड(वागड़) प्रदेश में गया और उनका प्रचार करके जिनवल्लभगणि की कीर्तिपताका फैलाई। इसके

फलस्वरूप वहां की सारी जनता में गणिजी के प्रति अपार श्रद्धा और स्नेह का वातावरण बन गया।

इसके पश्चात् उनकी कीर्त्ति दिन-प्रतिदिन बढती गई और वे अपने ज्ञान और चारित्र के लिये प्रसिद्ध होते गये। दूर-दूर स्थानों से श्रावक लोग उनको आमन्त्रित करने लगे। नागपुर(नागोर) में जाकर उन्होंने नेमिनाथ विधिचैत्य की प्रतिष्ठा की[2], और तत्रस्थ संघने आदर-पूर्वक सर्व सम्मति से इनको गुरु-रूप में स्वीकार किया। इधर नरवरपुर के श्रावकों के हृदय में भी यह अभिलाषा उत्पन्न हुई कि जिनवल्लभजी को अपने गुरु-रूप में स्वीकार करके उनके द्वारा देवमन्दिर और देवप्रतिमा की स्थापना करवॉय। उनकी प्रार्थना स्वीकार हुई और जिनवल्लभगणिने नरवरपुर जाकर उनको कृतार्थ किया। जिन जिन मन्दिरों में उन्होंने प्रतिष्ठा करवाई, उनकी विशेषता यह थी कि उनमें यह स्पष्ट आदेश लिखवा दिया गया था कि 'वहां रात्रि के समय पूजा-अर्चन, स्त्री का प्रवेश तथा ऐसे ही अन्य कार्य जो चैत्यवासियों के मन्दिरों में होते थे-नहीं होंगे।' इस प्रकार अब जिनवल्लभगणि का सन्देश स्पष्टतया सफल होने लगा था। अब उनको सन्तोष हो चला था कि उन्होंने अपने गुरु अभयदेवाचार्य को जो वचन दिया था, वे उसके अनुसार आचरण करने में पूर्ण सफल हो रहे हैं।

---

१ जिसका लाभ सूरिजी के पट्टधर अंबिकाप्रकटित युगप्रधान पद विभूषित दादा श्रीजिनदत्तसूरिजी को प्राप्त हुआ।

२ इसका उल्लेख तत्कालीन ही देवालय के निर्मापक सेठ धनदेव के पुत्र कवि पद्मानन्द अपने वैराग्यशतक में भी करते हैं:—

"सिक्तः श्रीजिनवल्लभस्य सुगुरोः शान्तोपदेशामृतै.। श्रीमन्नागपुरे चकार सदनं श्रीनेमिनाथस्य यः।
श्रेष्ठी श्रीधनदेव इत्यभिधया ख्यातश्च तस्याङ्गजः, पद्मानन्दशत व्यधत्त सुधियामानन्दसम्पत्तये ॥ १ ॥"

प्रवचनशक्ति

जिनवल्लभगणि की व्याख्यानपटुता, प्रवचनशक्ति की भी बहुत प्रसिद्धि हुई। एक वार विक्रमपुर[1] के आसपास विहार कर रहे थे। मरुकोट्ट[2] निवासियोंने उनके प्रवचन की प्रशंसा सुनकर उनको अपने नगर में बुलाना चाहा। बहुमानपूर्वक वीनती करने पर जिनवल्लभगणि विक्रमपुर होते हुए मरुकोट्ट पधारे। वहां पहूँचने पर श्रावकोंने एकत्र होकर बड़े ही विनीतभाव से प्रार्थना की कि 'हे भगवन्! हम लोग आपके श्रीमुख से भगवद् वचनों पर प्रवचन सुनना चाहते हैं।' जिनवल्लभगणिने कहा—श्रावकों की यह इच्छा सर्वथा उचित और श्लाघ्य है।' अतः शुभ दिवस से प्रवचन प्रारंभ हुआ। अपने व्याख्यान के लिये उन्होंने श्रीधर्मदासगणि कृत उपदेशमाला की निम्नलिखित गाथा को चुना:—

" संवच्छरमुसभजिणो, छम्मासा वद्धमाणजिणचंदो। इय विहरिया निरसणा, जइज्ज एओवमाणेणं ॥ ३ ॥ "

इसी गाथा को लेकर वाचनाचार्य जिनवल्लभजीने अनेक दृष्टान्त, उदाहरण आदि देते हुए सिद्धान्त–प्ररूपण करते करते छ महीने लगा दिये। इसको देख कर सभी लोग आश्चर्यचकित हुए और कहने लगे 'ये तो स्वयं भगवान तीर्थंकर ही मालूम पड़ते हैं, अन्यथा इस प्रकार की अमृतस्राविणी वाणी कहां मिल सकती है?'

समस्यापूर्ति

व्याख्यान देने और शास्त्रार्थ करने में जो प्रसिद्धि गणिजीने प्राप्त की, वही समस्या–पूर्ति के क्षेत्र में भी उन्हें सहज सुलभ

1 जैसलमेर राज्यवर्ती वीकमपुर। 2 मरोठ।

हुई। समस्या–पूर्ति में न केवल उनकी काव्य–प्रतिभा, छन्दयोजना तथा प्रबन्धपटुता का परिचय मिलता है अपितु उनकी प्रत्युत्पन्नमति एवं उक्तिसौष्ठव का भी ज्ञान हमें होता है। एक समय की बात है वे कहीं जा रहे थे, एक विद्वान् उनको मार्ग में मिल गया। उसने उनके पाण्डित्य की प्रसिद्धि पहिले से ही सुन रखी थी, अतः परीक्षा करने की दृष्टि से उसने निम्नलिखित समस्यापद उनके सामने रखाः—

" कुरङ्गः किं भृङ्गो मरकतमणिः किं किमशनिः ? । "

इस पद को सुनते ही गणिजीने इसकी पूर्ति तुरन्त ही इस प्रकार कर डालीः—

" चिरं चित्तोद्याने चरसि च मुखाब्जं पिबसि च, क्षणादेणाक्षीणां विरहविषमोहं हरसि च ।
नृप ! त्वं मानाद्रिं दलयसि च किं कौतुककरं, कुरङ्गः किं भृङ्गो मरकतमणिः किं किमशनिः ? ॥ १ ॥"

इसको सुनकर वह विद्वान् अत्यन्त प्रसन्न हुआ और बोला–मैंने आपके विषय में जैसा सुना था वैसा ही आपको पाया। ऐसा कहकर वह उनके चरणों पर गिर पड़ा।

ऐसी ही दूसरी घटना धारानगरी की है। उस समय धारा में श्रीनरवर्मा नामक नृपति राज्य कर रहे थे। एकवार राजसभा में दो पण्डित बाहर से आये। उन्होंने पण्डितों के सामने यह समस्यापद रखा—

" कण्ठे कुठारः कमठे ठकारः । "

राजसभाके सभी पण्डितोंने अपनी बुद्धि के अनुसार इस समस्या की पूर्ति की, परन्तु उन दोनों विदेशी पण्डितों का चित्त

पिण्ड- विशुद्धि० कादृयो- पेतम्
॥ ११ ॥

प्रसन्न नहीं हुआ। तब किसीने राजा से कहा—हे देव ! पण्डितों के द्वारा की हुई समस्या—पूर्ति इन दोनों को पसन्द नहीं आई। तब राजाने पूछा कि इन दोनों को सन्तुष्ट करने का कोई अन्य उपाय संभव है ? इस पर राजा को उत्तर मिला कि चित्रकूट (चित्तोड़) में जिनवल्लभगणि नाम के श्वेताम्बर साधु हैं जो सब विद्याओं में निपुण माने जाते हैं। तब राजाने साधारण नामके सेठ के पास एक पत्र भेजा, जिसमें उससे अनुरोध किया गया था कि वह अपने गुरु जिनवल्लभगणि के द्वारा इस समस्या की पूर्ति करवाकर शीघ्र ही भेजे। प्रतिक्रमण के बाद जब गणिजी को पत्र सुनाया गया तो उन्होंने तत्काल ही इस प्रकार उस समस्या को पूर्ण किया—

"रे रे नृपाः ! श्रीनरवर्मभूप-प्रसादनाय क्रियतां नताङ्गैः। कण्ठे कुठारः कमठे ठकार-श्चक्रे यदश्वोग्रखुराग्रघातैः॥ १ ॥"

यह पूर्ति जब राजसभा में पहूँची तो न केवल विदेशी विद्वान् ही सन्तुष्ट हुए अपितु स्वयं राजा भी जिनवल्लभगणि का सदा के लिये भक्त हो गया। यही कारण है कि जब गणिजी कुछ काल उपरान्त धारानगरी पधारे तो राजाने उनको तीन लाख मुद्रा या तीन ग्राम लेने के लिये बहुत कुछ आग्रह किया। परन्तु जब यह आग्रह उस अपरिग्रही और निस्पृह साधुने स्वीकार नहीं किया तो राजाने गणिजी की अनुमति से चित्रकूट में श्रावकों द्वारा निर्मापित दो विधिचैत्यों की पूजा के लिये वह धन दान में दे दिया। इसी बात का उल्लेख उनके गुरुभ्राता, जिनशेखराचार्य के प्रशिष्य श्रीअभयदेवसूरिने जयन्तविजय नामक काव्य (र. स. १२७८) में भी किया है:—

"तच्छिष्यो जिनवल्लभो प्रभुरभूद् विश्वम्भराभामिनी—भास्वद्भालललामकोमलयशःस्तोमः शमारामभूः।

यस्य श्रीनरवर्मभूपतिशिरःकोटीररत्नाङ्कुर–ज्योतिर्जालजलैरपुष्यत सदा पादारविन्दद्वयी ॥ १ ॥
कश्मीरानपहाय सन्ततहिमव्यासङ्गवैराग्यतः, प्रोन्मीलद्गुणसम्पदा परिचिते यस्यास्यपङ्केरुहे।
सान्द्रामोदतरङ्गिता भगवती वाग्देवता तस्थुषी, धारालामलभव्यकाव्यरचनाव्याजादनृत्यच्चिरम् ॥ २ ॥

आचार्यपद और स्वर्गवास

जिनवल्लभगणि की प्रसिद्धि और प्रभाव को सुनकर श्रीदेवभद्राचार्य को अपने गुरु प्रसन्नचन्द्राचार्य का अन्तिमवाक्य स्मरण हो आया। उन्होंने सोचा कि मैं अभी तक अपने गुरुश्री के आदेश के अनुसार जिनवल्लभगणि को श्रीअभयदेवाचार्य का पट्टधर नहीं बना सका। ऐसा विचार कर उन्होंने जिनवल्लभगणि को पत्र लिखा। उस पत्र में लिखा था–"तुम शीघ्र ही अपने समुदाय सहित विहार कर चित्रकूट आओ, मैं भी वहीं पर आरहा हूं।" जिनवल्लभगणि उस समय नागपुर(नागोर) में थे। वहां से वे विहार करके चित्रकूट(चितोड़) पहुँचे। देवभद्राचार्य भी अपने समुदाय सहित वहां पधारे। देवभद्राचार्य उस समय के परम प्रतिष्ठित गीतार्थसाधु और विद्वान थे। इनके द्वारा रचित महावीरचरियं, पासनाहचरियं, कहारयणकोस इत्यादि महाग्रन्थ आज भी जैन कथा–साहित्य में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। उन्होंने उस समय पं. सोमचन्द्र (जो कि आगे चल कर जिनवल्लभसूरि के पट्टधर युगप्रधान श्रीजिनदत्तसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए) को भी बुलाया था परन्तु वे किसी कारणवश न आ सके। आचार्य देवभद्रसूरिने विधिवत् श्रीजिनवल्लभगणि को श्रीअभयदेवसूरि के पट्ट पर स्थापित किया और उस समय से वे श्रीजिनवल्लभसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए। परन्तु वे इस पद पर अधिक समय तक न रह सके। उन्होंने ज्योतिष गणना

के अनुसार अपनी आयु छह वर्ष और समझी थी, परन्तु छह महीने ही बीते थे कि एकाएक उनका शरीर अस्वस्थ हो गया। यह देखकर उनको आश्चर्य हुआ और उन्होंने पुनर्गणना की तो, पता चला कि पहिले कुछ अङ्क छूट गये थे जिसके कारण छ महीने के स्थान पर छ वर्ष आये। ऐसा निश्चय होजाने पर उन महानुभावने अपने शरीरत्याग की तैयारी धैर्य और सन्तोष के साथ कर दी। संघ एकत्र हुआ; सर्व जीवों के प्रति आपने मैत्रीभाव को प्रकट करते हुए-अपराधों की क्षमा याचना की, अरिहंत, सिद्ध, साधु और केवलीप्रणीत धर्म का शरण अंगीकार किया और तीन दिन का अनशन किया। इस प्रकार तैयार होकर सं. ११६७ कार्तिक कृष्णा अमावास्या-दीपावलि की मध्यरात्रि में पञ्चपरमेष्ठि का स्मरण करते हुए इस असार संसार को त्याग कर श्रीजिनवल्लभसूरिने चतुर्थ देवलोक की यात्रा की।

शास्त्रविरुद्ध आचरणा करनेवाले चैत्यवासियों के विरोध में आचार्य हरिभद्रसूरिने जो प्रचण्ड आवाज उठाई थी वह सफल हुई या नहीं कह नहीं सकते, परन्तु आचार्य जिनेश्वरसूरिने पत्तन में जाकर चैत्यवास, और चैत्यवासियों का समूलोच्छेदन करने के लिये जो चिनगारी छोड़ी थी उसको अपने प्रकाण्डपाण्डित्य और अपूर्व प्रतिभा से विभूषित जिनवल्लभगणि जिस प्रबल प्रभञ्जन को लेकर आगे बढे, उसमें चैत्यवास का महाद्रुम निर्मूल होकर धराशायी हो गया और उसके रहेसहे अवशेष आचार्य जिनदत्त-सूरि से लेकर द्वि. आचार्य जिनेश्वरसूरि तक के आचार्यादिने (गणिजी के अनुयायियोंने) सफाया कर दिया। अतएव जिनवल्लभ-गणि का जीवन एक क्रान्तिकारी जीवन था, जिसकी पवित्र और प्रभूत देनों के लिये जैन समाज उनका सदा के लिये ऋणी होगा। वे एक सच्चे सत्यप्रेमी साधु थे। आडम्बर से उन्हें घृणा थी और मिथ्याचरण से था हार्दिक विरोध। उन्होंने जिसको

और साहित्य-जगत् में यथार्थ स्थिति का दिग्दर्शन होजाय, इसलिये उनके प्रमुख प्रमुख विकल्पों पर विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है। सागरजीने जिनवल्लभगणि के विषय में जो विभिन्न विवाद उठाये हैं उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं:—

१—आचार्य अभयदेवसूरि के पास इनने उपसम्पदा ग्रहण नहीं की थी, अर्थात् शिष्य नहीं बने थे। २—षट्कल्याणक की प्ररूपणा उनकी उत्सूत्रप्ररूपणा थी। ३—उत्सूत्रप्ररूपणा के कारण वे संघ बहिष्कृत थे। ४—पिण्डविशुद्धि आदि सैद्धान्तिक ग्रन्थों के प्रणेता जिनवल्लभ नाम के कोई दूसरे आचार्य थे। अतः अब इन चारों विकल्पों पर हम क्रमशः विचार करते हैं:—

उपसम्पदा

वस्तुतः यदि कोई व्यक्ति गच्छ—व्यामोह से प्रमाणों के सद्भाव में भी केवल 'येन केन प्रकारेण प्रसिद्धिमान् पुरुषो भवेत्' नीति को अपनाकर अपने हृदय की कालिमा को महापुरुषों पर लगाने का प्रयत्न करता है तो वह दया का पात्र ही है। आधुनिक समय में ही देखिये, महात्मा गांधी के सत्प्रयत्नों को सहन न कर अपनी दूषित मनोवृत्तियों से उनका वध करनेवाला गोडसे, महात्मा के नाम के साथ ही सर्वदा के लिये अमर हो गया! उसी प्रकार अपनी निह्नवताभरी प्ररूपणाओं से संघर्ष—साहित्य में धर्मसागरजी भी सदा के लिये उल्लेखनीय हो गये।

आचार्य जिनवल्लभसूरि के वृत्त को हम ऊपर देख आये हैं कि मूल में आप कूर्चपुरीय चैत्यवासी जिनेश्वराचार्य के शिष्य थे और आचार्य अभयदेवसूरि से सैद्धान्तिक वाचना प्राप्तकर, सुविहित साधुओं के आचरण—व्यवहारों को समझकर, चैत्यवास त्यागकर अभयदेवाचार्य के पास उपसम्पदा (पुनर्दीक्षा) ग्रहण की। धर्मसागरजी से चार शताब्दि पूर्व ही श्रीसुमतिगणि और

के अनुसार अपनी आयु छह वर्ष और समझी थी, परन्तु छह महीने ही बीते थे कि एकाएक उनका शरीर अस्वस्थ हो गया। यह देखकर उनको आश्चर्य हुआ और उन्होंने पुनर्गणना की तो, पता चला कि पहिले कुछ अङ्क छूट गये थे जिसके कारण छ महीने के स्थान पर छ वर्ष आये। ऐसा निश्चय होजाने पर उन महानुभावने अपने शरीरत्याग की तैयारी धैर्य और सन्तोष के साथ कर दी। संघ एकत्र हुआ; सर्व जीवों के प्रति आपने मैत्रीभाव को प्रकट करते हुए–अपराधों की क्षमा याचना की, अरिहंत, सिद्ध, साधु और केवलीप्रणीत धर्म का शरण अंगीकार किया और तीन दिन का अनशन किया। इस प्रकार तैयार होकर सं. ११६७ कार्तिक कृष्णा अमावास्या–दीपावलि की मध्यरात्रि में पञ्चपरमेष्ठि का स्मरण करते हुए इस असार संसार को त्याग कर श्रीजिनवल्लभसूरिने चतुर्थ देवलोक की यात्रा की।

शास्त्रविरुद्ध आचरणा करनेवाले चैत्यवासियों के विरोध में आचार्य हरिभद्रसूरिने जो प्रचण्ड आवाज उठाई थी वह सफल हुई या नहीं कह नहीं सकते, परन्तु आचार्य जिनेश्वरसूरिने पत्तन में जाकर चैत्यवास, और चैत्यवासियों का समूलोच्छेदन करने के लिये जो चिनगारी छोड़ी थी उसको अपने प्रकाण्डपाण्डित्य और अपूर्व प्रतिभा से विभूषित जिनवल्लभगणि जिस प्रबल प्रभञ्जन को लेकर आगे बढे, उसमें चैत्यवास का महाद्रुम निर्मूल होकर धराशायी हो गया और उसके रहेसहे अवशेष आचार्य जिनदत्त-सूरि से लेकर द्वि. आचार्य जिनेश्वरसूरि तक के आचार्योदिने (गणिजी के अनुयायियोंने) सफाया कर दिया। अतएव जिनवल्लभ-गणि का जीवन एक क्रान्तिकारी जीवन था, जिसकी पवित्र और प्रभूत देनों के लिये जैन समाज उनका सदा के लिये ऋणी होगा। वे एक सच्चे सत्यप्रेमी साधु थे। आडम्बर से उन्हें घृणा थी और मिथ्याचरण से था हार्दिक विरोध। उन्होंने जिसको

और साहित्य–जगत् में यथार्थ स्थिति का दिग्दर्शन होजाय, इसलिये उनके प्रमुख प्रमुख विकल्पों पर विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है। सागरजीने जिनवल्लभगणि के विषय में जो विभिन्न विवाद उठाये हैं उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं:—

१–आचार्य अभयदेवसूरि के पास इनने उपसम्पदा ग्रहण नहीं की थी, अर्थात् शिष्य नहीं बने थे। २–षट्कल्याणक की प्ररूपणा उनकी उत्सूत्रप्ररूपणा थी। ३–उत्सूत्रप्ररूपणा के कारण वे संघ बहिष्कृत थे। ४–पिण्डविशुद्धि आदि सैद्धान्तिक ग्रन्थों के प्रणेता जिनवल्लभ नाम के कोई दूसरे आचार्य थे। अतः अब इन चारों विकल्पों पर हम क्रमशः विचार करते हैं:—

उपसम्पदा

वस्तुतः यदि कोई व्यक्ति गच्छ–व्यामोह से प्रमाणों के सद्भाव में भी केवल 'येन केन प्रकारेण प्रसिद्धिमान् पुरुषो भवेत्' नीति को अपनाकर अपने हृदय की कालिमा को महापुरुषों पर लगाने का प्रयत्न करता है तो वह दया का पात्र ही है। आधुनिक समय में ही देखिये, महात्मा गांधी के सत्प्रयत्नों को सहन न कर अपनी दूषित मनोवृत्तियों से उनका वध करनेवाला गोडसे, महात्मा के नाम के साथ ही सर्वदा के लिये अमर हो गया! उसी प्रकार अपनी निह्नवताभरी प्ररूपणाओं से संघर्ष–साहित्य में धर्मसागरजी भी सदा के लिये उल्लेखनीय हो गये।

आचार्य जिनवल्लभसूरि के वृत्त को हम ऊपर देख आये हैं कि मूल में आप कूर्चपुरीय चैत्यवासी जिनेश्वराचार्य के शिष्य थे और आचार्य अभयदेवसूरि से सैद्धान्तिक वाचना प्राप्तकर, सुविहित साधुओं के आचरण–व्यवहारों को समझकर, चैत्यवास त्यागकर अभयदेवाचार्य के पास उपसम्पदा (पुनर्दीक्षा) ग्रहण की। धर्मसागरजी से चार शताब्दि पूर्व ही श्रीसुमतिगणि और

उपोद्घात.
उपसम्पदा
ग्रहण
विचार।

इन ग्रन्थों में सार्द्धशतक, षडशीति और पिण्डविशुद्धि ये तीनों ही सैद्धान्तिक ग्रन्थ बहुत ही महत्व के हैं। इन ग्रन्थों पर आचार्य मलयगिरि, धनेश्वराचार्य, हरिभद्राचार्य, मुनिचन्द्राचार्य, श्रीचन्द्राचार्य, यशोदेवाचार्य आदि ने तत्काल ही अर्थात् १२ वी शती में ही टीकाएं रचकर इनकी सार्वजनिक उपयोगिता सिद्ध की। और भी इनके प्रायः समग्र ग्रन्थों पर अनेक टीकाएं प्राप्त होती हैं, उन सब का उल्लेख, और गणिजी के काव्यवैशिष्ट्य पर वल्लभभारती की प्रस्तावना में हम प्रकाश डालेंगे। अतः यहां पर कवि की विशदप्राज्ञता और टीकाकारों के व्यक्तित्व आदि पर विचार नहीं कर रहे हैं।

विरोधियों के असफल प्रयत्न

आचार्य जिनवल्लभसूरि के व्यक्तित्व और असाधारण–प्रतिभा से उत्पीडित परवर्ती कई लेखकोंने असंभाव्य कल्पनाएं उत्पन्न कर उनके व्यक्तित्व को दूषित करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार के अवांछनीय दुष्प्रयत्न करनेवालों में, (साहित्य में शोध करने पर) हमें सर्वप्रथम उपाध्याय धर्मसागरजी के दर्शन होते हैं। धर्मसागरजी जैसे उद्भट विद्वान थे वैसे ही यदि शान्तिप्रिय और शासनप्रेमी होते तो निश्चित ही महापुरुषों की कोटि में आते। पर शोक!!, उस शताब्दि में उनके जैसा दुराग्रही, कलहप्रेमी, उच्छृंखल और निह्नव दूसरा व्यक्ति नहीं हुआ, जिसको तत्कालीन गणनायकों–विजयदानसूरि तथा विजयहीरसूरि जैसों को–वारंवार बोल (आदेशपत्र) निकाल कर गच्छ बहिष्कृत करना पड़ा और उनके उत्सूत्र प्ररूपणामय ग्रन्थों को जलशरण करवाना पड़ा। अतः ऐसी अवस्था में धर्मसागरजी कल्पित विकल्पों का उत्तर देना तो नहीं चाहिये किन्तु आज भी उन्हीं के वचनों का उद्धरण देकर समाज में विष फैलानेवाले मानविजयजी आदि कई विघ्नप्रेमी मौजूद हैं। अतः उनका कुछ समाधान होजाय

४ पौषधविधि प्रकरण, ५ प्रतिक्रमणसामाचारी, ६ सर्वजीवशरीरावगाहनास्तव, ७ श्रावकव्रतकुलक, ८ द्वादशकुलक, ९ धर्मशिक्षा, १० सङ्घपट्टक, ११ प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतकाव्यम्, १२ शृङ्गारशतक, १३–१७ आदिनाथादि चरित्र पञ्चक, १८ वीरचरित्र (जय भववण० प्रा. गा. १५), १९ चतुर्विंशति जिनस्तोत्र (आ. भीमभव. गा. १४५), २० पञ्चकल्याणकस्तव (सम्मं नमिऊण. प्रा. गा. २६) २१ सर्व जिनपञ्चकल्याणकस्तव (पणमियसुर. प्रा. गा. ८), २२ नन्दीश्वरस्तोत्र (वंदिय नंदिय. प्रा. गा. २५), २३ ऋषभजिनस्तोत्र (सयलभुवणिक्क. प्रा. गा. ३३), २४ लघु अजितशान्तिस्तव (उल्लासि० प्रा. गा. १७), २५ ऋषभस्तुतिः (मरुदेवीनाभि० प्रा. गा. ४), २६ पार्श्वस्तोत्र (सिरिभवण० प्रा. गा. ११), २७ क्षुद्रोपद्रवहर पार्श्वस्तोत्र (नमिरसुरासुर० प्रा. गा. २२), २८ महावीरविज्ञप्तिका (सुरनरवइकयवंदण. प्रा. गा. १२), २९ महाभक्तिगर्भा सर्वविज्ञप्तिका (लोयालोय० प्रा. गा. २७), ३० भावारिवारणस्तोत्र (समसंस्कृतप्राकृत गा. ३०), ३१ पञ्चकल्याणकस्तोत्र (प्रीतिद्वात्रिंशत् सं. प. १३), ३२ कल्याणकस्तव (पुरन्दरपुरस्पर्द्धि० सं. प. ७), ३३ सर्वजिनस्तोत्र (प्रीतिप्रसन्नमुख० सं. प. २३), ३४ वीतरागस्तुतिः (देवाधीशकृते० सं. प. १०), ३५ पार्श्वस्तोत्र (नमस्यद्गीर्वाण. सं. प. ३३, प्रथमकृति[1]), ३६ पार्श्वस्तोत्र (पायात्पार्श्वः सं. प. २९) ३७ पार्श्वस्तोत्र (समुद्यन्तो० सं. प. १८) ३८ पार्श्वस्तोत्र (विनयविनमद्. सं. प. १९), ३९ पार्श्वस्तोत्र (त्वमेव माता त्वं पिता. सं. प. ९), ४० सरस्वतीस्तोत्र (सरभसलसद् सं. प. २५), ४१ नवकारस्तव (किं किं कप्पतरु० अपभ्रंश प. १३),

अनुपलब्ध—१ स्वप्नाष्टकविचार, २ अष्टसप्तति ।

---

१ " अज्ञानाद् भणिति स्थितेः प्रथमकाभ्यासात् कवित्वस्य यत्, किञ्चित्सम्भ्रमहर्षविस्मयवशाद्वायुक्तमुक्तं मया ॥ ३३ ॥ "

एक वार सत्य समझा उसको अपनी ' कथनी ' और ' करणी ' में निर्भीक होकर उतारा । मनसा वाचा कर्मणा जिस सत्य की उपासना का आदर्श उन्होंने जैन–समाज के सामने रखा वह आज भी एक उच्च ज्योतिःस्तम्भ की भांति विद्यमान है। परन्तु क्या हम उसकी प्रखर–प्रभा को अपने अन्धकारपूर्ण हृदयों में आज घुसने दे रहे हैं ?

ग्रन्थरचना

गणिवरजी १२ वीं शती के सुप्रसिद्ध उद्भट विद्वानों में से एक थे। इनका अलङ्कारशास्त्र, छन्दशास्त्र, व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष, नाट्यशास्त्र, कामतन्त्र और सैद्धान्तिक विषयों पर एकाधिपत्य था। इन्होंने अपने जीवनकाल में विविध विषयों पर सैकड़ों ग्रन्थों की रचना की थी, जिसका उल्लेख सुमतिगणि गणधरसार्द्धशतक की वृत्ति में इस प्रकार करते हैं:—

" परमद्यापि भगवतामवदातचरितनिधीनां श्रीमरुकोट्टसप्तवर्षप्रमितकृतनिवासपरिशीलितसमस्तागमानां समग्रगच्छादृतसूक्ष्मार्थ-सिद्धान्तविचारसार–षडशीति–सार्द्धशतकाख्यकर्मग्रन्थ–पिण्डविशुद्धि–पौषधविधि–प्रतिक्रमणसामाचारी–सङ्घपट्टक–धर्मशिक्षा–द्वादशकुलकरूपप्रकरण–प्रश्नोत्तरशतक–शृङ्गारशतक–नानाप्रकारविचित्रचित्रकाव्य–शतसङ्ख्यस्तुतिस्तोत्रादिरूपकीर्तिपताका सकलं महीमण्डलं मण्डयन्ती विद्वज्जनमनांसि प्रमोदयति । "

किन्तु दैवदुर्विपाक से बहुत से अमूल्य ग्रन्थ नष्ट होगए और इस कारण से इस समय केवल ४१ रचनायें ही प्राप्त हैं और दो के केवल नामोल्लेख ही मिलते हैं। उपलब्ध ग्रन्थों की तालिका निम्न हैः—

१ सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार (सार्द्धशतक) प्रकरण, २ आगमिकवस्तुविचारसार (षडशीति) प्रकरण, ३ पिण्डविशुद्धि प्रकरण,

जिनपालोपाध्याय (जिनका अस्तित्व दीक्षा पर्याय १२२४ से १३१० तक है) ने अपने ग्रन्थों में यह बात स्वीकार की है।

आचार्य जिनेश्वरसूरि के शिष्य और नवाङ्गटीकाकार श्रीअभयदेवसूरि के सतीर्थ्य-गुरुभ्राता श्रीजिनचन्द्रसूरिने सं. ११२५ में संवेगरंगशाला नामक कथा-ग्रन्थ की रचना पूर्ण की। उसकी पुष्पिका में लिखा है—

"इति श्रीमज्जिनचन्द्रसूरिकृता तद्विनेयश्रीप्रसन्नचन्द्रसूरिसमभ्यर्थितेन गुणचन्द्रगणि(ना) प्रतिसंस्कृता, जिनवल्लभगणिना च संशोधिता, संवेगरङ्गशालाऽऽराधना समाप्ता।" अर्थात्–श्रीजिनचन्द्रसूरिप्रणीत उनके विनेय प्रसन्नचन्द्राचार्य की अभ्यर्थना से गुणचन्द्रगणि (जो आचार्य बनने पर देवभद्राचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए) द्वारा प्रतिसंस्कृत और गणि जिनवल्लभ द्वारा संशोधित संवेगरंगशाला पूर्ण हुई+। इससे स्पष्ट है कि यदि जिनवल्लभगणि उपसम्पदा ग्रहण कर आचार्य अभयदेवसूरि के शिष्य न बने होते तो जिनचन्द्रसूरि जैसे, अपने सतीर्थ्य अभयदेवसूरि, एवं शिष्य प्रसन्नचन्द्राचार्य, हरिभद्रसूरि, वर्धमानसूरि आदि समर्थ विद्वानों के रहते हुए एक चैत्यवासी गणि से अपनी कृति का संशोधन करवांय–संभावना नहीं की जा सकती।

सचमुच में जिनवल्लभगणि यदि अभयदेवसूरि के शिष्य बने न होते और उत्सूत्रप्ररूपक होते तो अभयदेवसूरि के स्वर्गारोहण के पश्चात् गच्छ में असाधारण प्रतिभाशाली और गीतार्थप्रवर आचार्य देवभद्रसूरि, जिनके सम्बन्ध में सुमतिगणि कहते हैं:—

"सत्तर्कन्यायचर्चार्चितचतुरगिरः श्रीप्रसन्नेन्दुसूरिः, सूरिः श्रीवर्द्धमानो यतिपतिहरिभद्रो मुनिर्देवभद्रः।

+ इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि–स. ११२५ से पूर्व ही जिनवल्लभगणि चैत्यवास का परित्याग कर उपसंपदा ग्रहणपूर्वक नवांगटीकाकार श्रीअभयदेवसूरि के शिष्य बन चुके थे। सपादक।

इत्याद्याः सर्वविद्यार्णवसकलभुवः सञ्चरिष्णूरुकीर्त्तिः, स्तम्भायन्तेऽधुनापि श्रुतचरणरमाराजिनो यस्य शिष्याः ॥१॥"

वे अपने हाथों से गणि जिनवल्लभ को आचार्य अभयदेवसूरि के पट्टधर पद पर कदापि स्थापित नहीं करते। स्थापित करना स्पष्ट प्रतिपादन करता है कि गणिजीने आचार्य अभयदेवसूरिजी के पास में उपसम्पदा ग्रहण करली थी, अर्थात् शिष्यत्व स्वीकार कर चुके थे। सं. ११७० में लिखित पट्टावलि में कवि पल्ह जिनवल्लभसूरि को अभयदेवसूरि का पट्टधर स्वीकार करते हैं:—

सुगुरु जिणेसरसूरि नियमि जिणचंदु सुसंजमि। अभयदेउ सव्वंग नाणी, जिणवल्लहु आगमि॥"

आचार्य जिनवल्लभसूरि के प्रपौत्र पट्टधर और उ. जिनपाल तथा सुमति गणि के गुरु आचार्य जिनपतिसूरि स्वरचित संघपट्टक वृत्ति में लिखते हैं कि—'चैत्यवास को चतुर्गतिभ्रमणदायक मानकर जिनवल्लभजीने आचार्य अभयदेवसूरि के पास उपसम्पदा ग्रहण की थी':—

" सुगृहीतनामधेयः, प्रणतप्राणिसन्दोहवितीर्णशुभभागधेयः, चैत्यवासदोषभासनसिद्धान्ताकर्णनापासितकृतचतुर्गतिसंसारायास-जिनभवनवासः, सर्वज्ञशासनोत्तमाङ्गस्थाना[ङ्गा]दिनवाङ्गवृत्तिकृच्छ्रीमदभयदेवसूरिपादसरोजमूले गृहीतचारित्रोपसम्पत्तिः, करुणा-सुधातरङ्गिणीतरङ्गरङ्गत्स्वान्तः सुविधिमार्गावभासनप्रादुःषद्विशदकीर्त्तिकौमुदीनिषूदितदिक्सीमन्तिनीवदनध्वान्तः,'स्वस्योपसर्गमभ्युपगम्यापि विदुषा दुरध्वविध्वंसनमेवाधेयमिति' सत्पुरुषपदवीमदवीयसीं विदधानः, समुज्जितसूरिर्भगवान् श्रीजिनवल्लभसूरिः....।"

साथ ही इन्हीं जिनवल्लभ गणि रचित सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार (सार्द्धशतक) प्रकरण पर बृहद्गच्छीय श्रीधनेश्वराचार्यने सं. ११७१ में टीका रचना पूर्ण की है, (स्मरण रहे कि जिनवल्लभसूरि का स्वर्गवास ११६७ में हुआ था, उसके चार वर्ष पश्चात्

ही इसकी रचना हुई है। अर्थात् ग्रन्थकार और टीकाकार दोनों समकालीन आचार्य हैं) उसमें १५२ वें पद्य की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं:—

“ जिणवल्लहगणि ” त्ति जिनवल्लभगणिनामकेन मतिमता सकलार्थसङ्ग्राहिस्थानाङ्गाद्यङ्गोपाङ्गपञ्चाशकादिशास्त्रवृत्तिविधानावाप्तावदातकीर्त्तिसुधाधवलितधरामण्डलानां श्रीमदभयदेवसूरीणां शिष्येण ‘ लिखितं ’ कर्मप्रकृत्यादिगम्भीरशास्त्रेभ्यः समुद्धृत्य दृब्धं—जिनवल्लभगणिलिखितम्........। ” अर्थात्—सार्द्धशतक के प्रणेता स्थानांगसूत्रादि अंगोपांग और पंचाशक आदि के व्याख्याकार आचार्य अभयदेवसूरि के ही शिष्य थे। इससे भी यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि अभयदेवसूरि इनको उपसम्पदा प्रदान कर अपना शिष्य घोषित कर चुके थे। केवल ये ही नहीं किन्तु धर्मसागरजी के ही पूर्वज तपगच्छीय श्रीहेमहंससूरि ( ) अपने कल्पान्तर्वाच्य में लिखते हैं:—

“ नवाङ्गीवृत्तिकारक श्रीअभयदेवसूरि जिणै थंभणै सेढी नदीनैं उपकंठी श्रीपार्श्वनाथ तणी स्तुति करी, धरणेन्द्र सहायै श्रीपार्श्व-बिम्ब प्रत्यक्ष कीधो, शरीरतणौ कोढ रोग उपशमाव्यौ, तच्छिष्य जिनवल्लभसूरि हुआ, चारित्रनिर्मल अनेकग्रन्थतणौ निर्माण कीधौ।”

और इसी प्रकार तपागच्छीय आचार्य मुनिसुन्दरसूरि स्वप्रणीत त्रिदशतरङ्गिणी ×गुर्वावली में लिखते हैं:—

“ व्याख्याताऽभयदेवसूरिरमलप्रज्ञो नवाङ्ग्या पुन-र्भव्यानां जिनदत्तसूरिरददाद् दीक्षां सहस्रस्य तु।
प्रौढः श्रीजिनवल्लभो गुरुरभूद् ज्ञानादिलक्ष्म्या पुन-ग्रन्थान् श्रीतिलकश्चकार विविधांश्चन्द्रप्रभाचार्यवत् ॥१॥ ”

× उ जयसोमकृत प्रश्नोत्तर ग्रन्थ देखें, जो स्वल्प काल में ही ‘ प्रश्नोत्तर–चत्वारिंशत् शतक ’ के नाम से इस संपादक द्वारा प्रकाशित होने वाला है।

इत्यादि अवतरणों से सिद्ध है कि गणिजी नवाङ्गीवृत्तिकारक आचार्य अभयदेवसूरि के शिष्य थे। उपसम्पदा के विना शिष्यत्व स्वीकृत नहीं हो सकता तो पट्टधर आचार्यत्व की कल्पना—कल्पना मात्र ही रह जाती है। अतः यह मानना ही होगा कि जिनवल्लभगणिने चैत्यवास त्याग कर अभयदेवसूरि से उपसम्पदा ग्रहण की थी। इसलिये युगप्रधान जिनदत्तसूरि जैसे समर्थ विद्वान् स्थान स्थान पर जिनवल्लभसूरि को अभयदेवसूरि का शिष्य कहते हैं।

केवल यही नहीं किन्तु आचार्य जिनवल्लभसूरि स्वयं स्वप्रणीत श्रावकव्रतकुलक में आचार्य अभयदेवसूरि का शिष्य कहते हैं:—

" जुगपवरागमसिरि–अभयदेवमुणिवइपमाणसुद्धेण। जिणवल्लहगणिणा गिहि–वयाइ लिहियाइ मुद्धेण ॥ २८ ॥ "

गणिजी स्वयं को आचार्य अभयदेवसूरि के शिष्य ही नहीं किन्तु अष्टसप्ततिका में तो जिनेश्वरसूरि का शिष्य और अभयदेवसूरि के पास श्रुताध्ययन और उपसम्पदा ग्रहण करने का उल्लेख भी करते हैं:—

" लोकार्च्यकूर्चपुरगच्छमहाघनोत्थ–मुक्ताफलोज्ज्वलजिनेश्वरसूरिशिष्यः।
प्राप्तः प्रथां भुवि गणिर्जिनवल्लभोऽत्र, तस्योपसम्पदमवाप्य ततः श्रुतं च ॥ "

साथ ही स्वप्रणीत प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतं काव्य में जहां आचार्य अभयदेवसूरि को " के वा सद्गुरवोऽत्र चारुचरणश्रीसुश्रुता विश्रुताः ? " इस प्रश्न के उत्तर में "श्रीमदभयदेवाचार्याः" का उल्लेख किया है, उसकी अवचूरि करते हुए तपागच्छनायक श्रीसोमसुन्दरसूरि के शिष्यने (सं. १४८६ में) ' सद्गुरवः ' के स्थान पर ' मद्गुरवः ' पाठ स्वीकार किया है:—

" श्रीपाके ' इति वचानात् श्रीधातुः। ममामयं ददातीति मदभयदस्तस्मिन् यो मदभयं ददातीति, तत्र मम मनः श्रीतियुक्तं

भवतीत्यभिप्रायः ।............इत्यादि स्वयं रचित ग्रन्थों के प्रमाणों से संदेह का अवकाश ही नहीं रह पाता ।

षट्कल्याणक

शास्त्रीय मतानुसार प्रत्येक तीर्थंकर के च्यवन×, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण ये पांचकल्याणक अनिवार्य रूप से होते ही हैं। परन्तु श्रमण भगवान् महावीर के ईन पांच कल्याणों के अतिरिक्त एक छठा कल्याणक और हुआ, वह था गर्भापहरण* । यह घटना इस प्रकार वर्णित मिलती हैं:—

× इस प्रथम कल्याणक का नाम एक च्यवन ही नहीं, किंतु अवतरण गर्भ, गर्भाधान आदि अनेक नाम शास्त्रकार फरमाते हैं, जैसे कि आचार्य-जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणजी बृहत्संग्रहणी की "अवयरण जम्मनिक्खमणणाणनिव्वाण पंचकल्लाणे । तित्थयराणं नियमा, करंति सेसेसु खित्तेसु ॥ १ ॥" इस गाथा में अवतरण कहते हैं, आचार्य हरिभद्रसूरिजी पंचाशक की "गब्भे जम्मे य तहा, णिक्खमणे चेव णाणनिव्वाणे । भुवगुरूणं जिणाणं, कल्लाणा होंति णायव्वा ॥ ३१ ॥" इस गाथा में गर्भकल्याणक और इसकी टीका में नवाङ्गटीकाकार आ. अभयदेवसूरिजो इसे गर्भाधान कहते हैं।

इन निर्दिष्ट प्रमाणों से निश्चित यह हुआ कि-देवलोक से च्यवनमात्र को ही नहीं अपितु च्यवकर माता की कुक्षि में तीर्थंकर गर्भतया उत्पन्न होना कल्याणक है, इसी कारण शास्त्रकार स्थान स्थान पर लिखते हैं कि-"चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते" अर्थात् देवलोक से च्यवे और च्यवकर माता की कुक्षि में गर्भतया उत्पन्न हुए । संपादक ।

* जैसे च्यवन शब्द च्यवकर माता की कुक्षि में गर्भतया उत्पन्न होने का द्योतक है, वैसे ही गर्भापहार शब्द हरण मात्र का नहीं, किंतु देवानंदा की कुक्षि से अपहरण द्वारा त्रिशला की कुक्षि में स्थापन करने रूप अर्थ का द्योतक है। यही बात तपागच्छीयोपाध्याय जयविजयजी कल्पदीपिका में लिखते हैं, "गर्भस्य-श्रीवर्द्धमानरूपस्य हरण-त्रिशलाकुक्षौ सङ्क्रामणं-गर्भहरण" ॥ इस तरह त्रिशला की कुक्षि में गर्भाधानरूप गर्भहरण-गर्भापहार को कल्याणक न मानना किसी प्रकार युक्तियुक्त नहीं, यदि उपरोक्त व्याख्योपेत गर्भापहार कल्याणक मानने योग्य न हो तो कल्पसूत्रोक्त "एए चउदस महासुमिणे

श्रमण भगवान महावीर का जीव दशम देवलोक से च्युत होकर आषाढ शुक्ला षष्ठी के दिवस माहणकुण्डग्राम के निवासी कोडाल गोत्रीय ऋषभदत्त विप्र की पत्नी जालंधरा गोत्रीय देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न हुए। देवानन्दाने चौदह स्वप्न देखे। ८२ दिवस पश्चात् देवलोकस्थ सौधर्मेन्द्र अवधिज्ञान से भगवान को देवानन्दा के गर्भ में स्थित देखकर प्रसन्न होता है और श्रद्धापूर्वक 'नमुत्थुणं' आदि से स्तुति करता है। पश्चात् विचार करता है कि तीर्थंकर का जीव किसी अशुभ कर्मोदय के कारण श्रेष्ठ क्षत्रियवंशों का त्यागकर विप्रादि नीच कुलों में उत्पन्न हो सकता है, परन्तु उस निम्न कुल की माता की योनि से उनका जन्म कदापि नहीं होता। मैं इन्द्र हूं, भगवान का भक्त हूं, अतः मेरा जीताचार (कर्तव्य) है कि मैं गर्भसंक्रमण (अपहरण कर अन्य स्थान पर प्रक्षेप) करवाऊं? इत्यादि विचार कर अपना आज्ञाकारी हरिणगमेषी नामक देव को बुलाता है और आदेश देता है कि तुम जाकर देवानन्दा के गर्भ में स्थित भगवान के जीव को लेकर क्षत्रियकुण्ड के अधिपति ज्ञातवंशीय काश्यप गोत्रीय सिद्धार्थनरेश की पत्नी वाशिष्ठ गोत्रीय त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में स्थापित करो और त्रिशला की कुक्षि में स्थित पुत्री के गर्भ को देवानन्दा ब्राह्मणी के उदर में स्थापित करो! आदेश प्राप्त कर हरिणगमेषी देव आता है और आश्विन कृष्णा त्रयोदशी की मध्यरात्रि में यह कार्य पूर्ण करता है। इसी रात्रि में त्रिशला क्षत्रियाणी १४ स्वप्न देखती है, राजा सिद्धार्थ से निवेदन करती है। नृपति सिद्धार्थ भी स्वप्नलक्षण पाठकों को बुलाकर स्वप्न फल पूछता है। तब मालूम होता है कि

सव्वा पासेइ तित्थयरमाया" इस नियमानुसार, और पचाशकोक्त कल्याणक के "कल्लाणफला य जीवाणं" इस लक्षण से युक्त गर्भाधान कल्याणक सूचक १४ स्वप्न त्रिशलामाता न देखती। संपादक।

तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती का जीव त्रिशला की रत्नमयी कुक्षि से जन्म ग्रहण करेगा। उसी दिवस से धनद के आज्ञाकारी देव सर्व प्रकार के वस्तुओं की सिद्धार्थ के घर में वृद्धि करते हैं।

इसी गर्भापहरण को मंगलस्वरूप मानकर सब ही शास्त्रकारोंने इसे कल्याणक के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु अपनी आभिनिवेशिक मान्यता के वशीभूत होकर, शास्त्रीय मान्यता एवं परंपरा का त्याग कर, कई इस कल्याणक को कल्याणक के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनकी मान्यता के अनुसार इसमें निम्नलिखित बाधाएँ हैं:—

१. गर्भहरण अतिनिन्द्य कार्य होने से आश्चर्य (अच्छेरा) है+। जो आश्चर्य हो वह मंगलस्वरूप कल्याणक नहीं माना जा सकता। २. शास्त्रों में किसी भी स्थल पर श्रमण भगवान महावीर के छ कल्याणक हुए हैं—स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। जहां कहीं भी उल्लेख है वह कल्याणक शब्द से अभिहित नहीं हैं किन्तु वस्तु या स्थान शब्द से कथित हैं। ३. पञ्चाशक शास्त्र में भूतानागत और भविष्यद् रूप त्रिकालभावि चौवीस चौवीस तीर्थंकरों के कल्याणकों की संख्या—परिमाण सूचन करने में महावीर के पांच ही कल्याणक माने हैं। टीकाकार अभयदेवसूरिने भी पांच ही लिखे हैं। यदि गर्भापहार छठा होता तो उसकी संख्या क्यों नहीं देते ?। ४. यदि 'पंच हत्थुत्तरे होत्था, साइणा परिनिव्वुए' आदि से गर्भहरण को भी कल्याणक

+ "नीचैर्गोत्रविपाकरूपस्य अतिनिन्द्यस्य आश्चर्यरूपस्य गर्भापहारस्यापि कल्याणकत्वकथन अनुचित" कल्पसु पं ९

इसी पर टिप्पन करते हुए आ० सागरानंद लिखते हैं–'गर्भापहारोऽशुभः'। "अकल्याणकभूतस्य गर्भापहारस्य" कल्पकिरणावली। "करोषि ? श्रीमहावीरे, कथं कल्याणकानि षट्। यत्तेष्वेकमकल्याणं, विप्रनीचकुलत्वतः ॥ १ ॥" गुरुतत्त्वप्रदीप। संपादक।

स्वीकार करते हो तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के अनुसार '**पंच उत्तरासाढे अभीई छट्ठे होत्था**' से ऋषभदेव का राज्याभिषेक नामक कल्याणक भी मानना चाहिए। ५. शास्त्रों में तथा किसी भी आचार्य द्वारा इसका उल्लेख न होने से यह प्रतिपादन अशास्त्रीय है, अतः उत्सूत्रप्ररूपणा है और इसका प्रतिपादन सर्वप्रथम जिनवल्लभ गणिने ही किया है।

इन विकल्पों का समाधान (उत्तर) क्रमशः इस प्रकार है:—

१. यदि हम आश्चर्य को कल्याणक के रूप में स्वीकार न करें तो हमारे सन्मुख कई बाधाएँ उपस्थित होती हैं। शास्त्रों में जहां दश आश्चर्यों (अच्छेरों) का वर्णन है, उसमें १९ वे तीर्थंकर मल्लिनाथ का स्त्री रूप में होना भी एक आश्चर्य माना गया है। यदि नारी का तीर्थंकर होना आश्चर्य के अंतर्गत आता है तो सहज ही प्रश्न उठते हैं कि क्या उस नारी का तीर्थंकरत्व मंगल-दायक हो सकता है? क्या उस नारी के जीवन की अमूल्य घटनाएं कल्याणक के रूप में स्वीकार की जा सकती हैं? क्या उसकी तीर्थंकर उपाधि कल्याणकारक हो सकती है? क्या उसका शासन चतुर्विध संघ के लिये कल्याण-कारक हो सकता है? यदि भगवान् महावीर का गर्भापहरण कल्याणकस्वरूप नहीं हो सकता तो नारी का तीर्थंकरत्व कैसे कल्याणस्वरूप हो सकता है?

इसी प्रकार दूसरा एक आश्चर्य उत्कृष्ट देहधारी १०८ मुनियों के साथ भगवान ऋषभदेव का सिद्धिगमन (निर्वाण प्राप्त करना) है। ५०० धनुष परिमाण की देह उत्कृष्टदेह मानी जाती है। इस प्रकार के उत्कृष्ट देहधारी जीव एक समय में एक साथ दो ही मुक्ति जा सकते है, यह शास्त्रीय नियम है। दो से अधिक एक समय में मुक्ति नहीं जा सकते, इस शास्त्रीय मर्यादा का उल्लंघन होने से इसे आश्चर्य मानते हैं तो, क्या हम इसको आश्चर्य मानकर मंगलदायक कल्याणक स्वीकार नहीं कर सकते? यदि

हम इसे कल्याणक स्वीकार नहीं करते हैं तो प्रभु ऋषभदेव का निर्वाण प्राप्त करना उनके स्वयं के लिये मंगलस्वरूप, आनन्दधाम-प्राप्तिरूप कदापि नहीं हो सकता तथा उनका निर्वाण कल्याणक, समाज के लिये श्रेयस्कर भी नहीं हो सकता। परन्तु आश्चर्य है कि हम इसे मंगल-स्वरूप कल्याणक अंगीकार करते हैं-करना ही पड़ता है। अतः विचार करना चाहिये कि एक आश्चर्य को तो हम कल्याणक नहीं मानते और दो आश्चर्यों को कल्याणक रूप में स्वीकार करते हैं, क्या यह नीति उचित कही जा सकती है ?

यदि गर्भापहार मंगलमय न होता तो आचार्य हेमचन्द्रसूरि अपने त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र के दशमपर्व, द्वितीय सर्ग में इसे मंगलस्वरूप कदापि स्वीकार नहीं करते, वे कहते हैं:—

" देवानन्दागर्भगते, प्रभौ तस्य द्विजन्मनः। बभूव महती ऋद्धिः, कल्पद्रुम इवागते ॥ ६ ॥
तस्या गर्भस्थिते नाथे, द्व्यशीतिदिवसात्यये। सौधर्मकल्पाधिपतेः, सिंहासनमकम्पत ॥ ७ ॥ +
ज्ञात्वा चावधिना देवा-नन्दागर्भगतं प्रभुम्। सिंहासनात् समुत्थाय, शक्रो नत्वेत्यचिन्तयत् ॥ ८ ॥

× × × ×

+ इस पद्यमें कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि स्पष्ट फरमाते हैं कि-देवानन्दा की कुक्षिमें प्रभु महावीरदेव के अवतरित होनेको बयांसी दिवस बीत जाने पर सौधर्मेन्द्रका आसन कंपित हुआ, अतः शान्तिचन्द्रीय जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्ति के—" तदेव हि कल्याणकं यत्रासनप्रकम्पप्रयुक्तावधयः सकलसुरासुरेन्द्राः जीतमिति विधित्सवो युगपत्ससम्भ्रमा उपतिष्ठन्ते " इस कथनानुसार जिसमें इन्द्रादि देवताओंका आना प्रभृति न हुआ हो उसे कल्याणक न माननेवालोंने देवानन्दाकी कुक्षिमें वीरविभुके अवतरणको, जिसे कि हरिभद्रसूरि व अभयदेवसूरि जैसे प्रामाणिक आचार्योंने पंचाशक प्रकरण मूल व वृत्तिमें स्पष्टतया कल्याणक माना है, उसे कल्याणक नहीं मानना चाहिये। संपादक।

कृष्णाश्विनत्रयोदश्यां, चन्द्रे हस्तोत्तरास्थिते । स देवस्त्रिशलागर्भे, स्वामिनं निभृतं न्यधात् ॥ २९ ॥
गजो वृषो हरिः साभि-षेकश्रीः स्रक् शशी रवि । महाध्वजः पूर्णकुम्भः, पद्मसरः सरित्पतिः ॥ ३० ॥
विमानं रत्नपुञ्जश्च, निर्धूमोऽग्निरिति क्रमात् । ददर्श स्वामिनी स्वप्नान्, मुखे प्रविशतस्तदा ॥ ३१ ॥
इन्द्रैः पत्या च तज्ज्ञैश्च, तीर्थकृज्जन्मलक्षणे । उदीरिते स्वप्नफले, त्रिशलादेव्यमोदत ॥ ३२ ॥
गर्भस्थेऽथ प्रभो शक्रा-ऽऽज्ञया जृम्भकनाकिनः । भूयो भूयो निधानानि, न्यधुः सिद्धार्थवेश्मनि ॥ ३४ ॥"

यदि हम देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न होना कल्याणक मानते हैं और त्रिशला की कुक्षि में संक्रमण होना कल्याणक नहीं मानते हैं तो यह कितना अयुक्त होगा ? जहां हरण को अतिनिन्द्य कार्य स्वीकार करते हैं वहां विप्र कुल में उत्पन्न होना भी नीच गोत्र कर्मविपाक के उदय से मानते हैं–दोनों ही जघन्यता की कोटि में आते हैं । उस अवस्था में एक का अंगीकार और एक का त्याग कदापि युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता ।

दूसरी बात, च्यवन के पश्चात् जो देवोचित कर्तव्य होते हैं वे हरण के पश्चात् ही हुए हैं, ऐसा शास्त्रों में उल्लेख मिलता है, तथा गर्भापहरण यदि कल्याणक न होता तो आचार्य भद्रबाहुस्वामी जैसे इस अतिनिन्द्य कार्य का शास्त्रों में विस्तार से वर्णन कदापि नहीं करते, उनका यह प्रतिपादन हमें एक नूतन दृष्टिप्रदान करता है कि प्रभु महावीर के कल्याणकों की संख्या हमें ५ ही स्वीकार हो तो देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न होने से न मान कर गर्भहरण के बाद से ही संख्या मानें ।

२. शास्त्रीय उल्लेखों में हम किसी गच्छ के अथवा आचार्यों के उल्लेख न देकर कतिपय शास्त्रीय उल्लेखों पर ही विचार करते हैं:–

जैनागमों में प्रथम अंग श्रीआचाराङ्गसूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, भावनाध्ययन में वीरचरित्र का वर्णन करते हुए गणधरदेव लिखते हैं:—

"ते णं काले णं ते णं समये णं समणे भगवं महावीरे पंचहत्थुत्तरे यावि होत्था, तं जहा—१. हत्थुत्तराहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते, २. हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए, ३. हत्थुत्तराहिं जाए, ४. हत्थुत्तराहिं सव्वतो सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, ५. हत्थुत्तराहिं कसिणे पडिपुण्णे निव्वाघाए निरावरणे अणंते अणुत्तरे केवलवरणाणदंसणे समुप्पन्ने, ६. साइणा भगवं परिनिव्वुए+।"

इसकी टीका करते हुए व्याख्याकार आचार्य शीलाङ्कसूरिने भी× छ ही कल्याणक स्वीकार किये हैं। इसी प्रकार श्रीकल्पसूत्र के प्रारंभ में भी पाठ आता है:—

+ इस पाठका अर्थ नागपुरीय तपागच्छ के मुख्य प्रतिष्ठापक आचार्य पार्श्वचन्द्रसूरि इस प्रकार लिखते हैं—

"श्रीमहावीर तेहना पच कल्याणिक हस्तोत्तरा नक्षत्रमांहि हुआ, जिणि उत्तरा नक्षत्र आगलि हस्त छे ते हस्तोत्तरा कहिये, एतले उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमांहि पच कल्याणिक हुआ, ते कल्याणिक केहा? कहे छे—हस्तोत्तरा नक्षत्रमांहि स्वामी चव्या. चवीने गर्भि ऊपना १, हस्तोत्तरा नक्षत्रमांहि गर्भ थकी बीजे गर्भि साहर्या २, हस्तोत्तरा नक्षत्रमांहि स्वामी जन्म पाम्या ३, हस्तोत्तरा नक्षत्रमांहि ××× अणगारपणे प्रव्रजित हुआ. एतावता संयम आदर्यो ४, हस्तोत्तरा नक्षत्रमाहि ××× स्वामी केवली हुआ ५, साइणा—स्वाति नक्षत्रे भगवंत श्रीमहावीर निर्वाण पदिइ पहुंता ६।"

(आचाराग सूत्र. बाबू प्र. पत्र २३९ व २४२)

× पञ्चसु स्थानेषु गर्भाधान—संहरण—जन्म—दीक्षा—ज्ञानोत्पत्तिरूपेषु संवृत्ता, अतः पञ्चहस्तोत्तरो भगवानभूदिति" इस टीका पाठसे गर्भाधानादि जिन पांच स्थानों में हस्तोत्तरा नक्षत्र होनेका कहा गया है उन पांच स्थानों में से चार को कल्याणक और एक गर्भसहरण को अकल्याणक नहीं बताया, अतः छः कल्याणक ही मानना टीकाकारके अभिप्राय से युक्तियुक्त है।

" ते णं काले णं ते णं समये णं समणे भगवं महावीरे पंच हत्थुत्तरे होत्था, तं जहा–१. हत्थुत्तराहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते, २. हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए, ३. हत्थुत्तराहिं जाए, ४. हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, ५. हत्थुत्तराहिं अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरणाणदंसणे समुप्पन्ने, ६. साइणा परिनिव्वुए भयवं।"

इसकी भी टीका करते हुए केवल कुछ तपगच्छीय आचार्यों को छोडकर प्रायः सब ही टीका व टबार्थकारोंने छ ही कल्याणक हुए, ऐसा स्वीकार किया है।

स्थानाङ्ग सूत्र के पञ्चम स्थानक में पद्मप्रभ, सुविधि, शीतल आदि महावीर पर्यन्त के चौदह तीर्थंकरों के एक एक नक्षत्र में पांच पांच कल्याणकों की गणना करते हुए कुल ७० कल्याणक हुए, करके पाठ दिखाया है उसमें वीर के पांच कल्याणक हस्तोत्तरा नक्षत्र में हुए:—

" समणे भगवं महावीरे पंच हत्थुत्तरे होत्था, तं जहा–हत्थुत्तराहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते, हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए, हत्थुत्तराहिं जाए, हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता जाव पव्वइए, हत्थुत्तराहिं अणंते अणुत्तरे जाव केवलवरणाणदंसणे समुप्पन्ने।"

इसकी टीका करते हुए आचार्य अभयदेवसूरि लिखते हैं:—

" समणे, इत्यादि। हस्तोपलक्षिता उत्तरा हस्तोत्तरा, हस्तो वा उत्तरो यासां हस्तोत्तरा उत्तराफाल्गुन्यः पञ्चसु च्यवनगर्भहरणादिषु हस्तोत्तरा यस्य स तथा, गर्भाद्–गर्भस्थानात् ' गब्भं 'ति गर्भे–गर्भस्थानान्तरे संहृतः–नीतः। निर्वृतिस्तु स्वातिनक्षत्रे कार्तिकामावास्यायाम्।"

इसमें तेरह तीर्थंकरों के पांच पांच कल्याणक एक एक नक्षत्र में होने से कुल मिलाकर ६५ होते हैं और उसमें महावीर के गर्भहरणसहित केवलज्ञान प्राप्ति तक ५ कल्याणक हस्तोत्तरा नक्षत्र में हुए, स्वीकार कर ७० की संख्या पूर्ण करते हैं। इसमें निर्वाण सम्मिलित नहीं हैं। क्या यहाँ निर्वाण को कल्याणक न माना जाय ? और उसे यदि मानते हैं तो ६ हो ही जाते हैं इसीलिये आचार्य अभयदेवसूरि को विशिष्ट रूप से लिखना पड़ा कि 'निर्वृतिस्तु स्वातिनक्षत्रे कार्तिकाऽमावस्यायाम्' इति। अतः यह स्पष्ट है कि शास्त्रकारों ने गर्भहरण को कल्याणक के रूप में स्वीकार किया है। यदि गर्भपरिवर्तन अतिनिन्द्य और अशुभ होता तो इसे मङ्गलमय कल्याणकों की गणना में ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं थी। इसमें ग्रहण करना सूचित करता है कि गर्भपरिवर्तन भी मङ्गलस्वरूप कल्याणक है।

यहां पर यदि यह विचार किया जाय कि इसमें कहीं भी कल्याणक शब्द की गन्ध तक हमें प्राप्त नहीं होती अपितु इसमें केवल इतना ही कहा गया है कि इस नक्षत्र में ये वस्तुएं हुई, तो इसे कल्याणक के रूप में कैसे स्वीकार किया जाय ? यह केवल मतिविभ्रम है, विद्वत्तापूर्ण विचार नहीं। यहां पर वस्तु ही कल्याणक का पर्यायवाची शब्द है, इसीसे कल्याणक ग्रहण किया जाता है। इस एकार्थक को हम यदि स्वीकार न करें तो हमारे सामने अनेक प्रकार की विप्रतिपत्तिएं खड़ी हो जायेंगी। कुछ स्थलों को छोड़कर हमें कहीं भी और किसी भी शास्त्र में कल्याणक शब्द पृथक् रूप से प्राप्त नहीं होता, हमें केवल लक्षणा से ही ग्रहण करना होता है। ऐसी अवस्था में क्या हम च्यवन से निर्वाण पदप्राप्ति पर्यन्त की वस्तुओं को कल्याणक स्वीकार नहीं करेंगे ? स्थानाङ्गसूत्र में प्रतिपादित १४ तीर्थङ्करों के ७० कल्याणकों को अंगीकार नहीं करेंगे ? कल्पसूत्र पार्श्वनाथ, नेमिनाथ

आदि चरित्रानुसार, वहां भी कल्याणक शब्द का उल्लेख न होने से क्या हम उनके भी कल्याणक स्वीकार नहीं करेंगे ? नहीं, हमें स्वीकार करना होगा। अन्यथा कल्याणकों का ही स्पष्टतः अत्यन्ताभाव हो जायगा, जो सचमुच में शास्त्रविरुद्ध प्रलापमात्र होगा, कल्याणकों का अभाव अर्थात् मङ्गलदायक वस्तुओं का अभाव होगा। कल्याणकों का अभाव होने से इन्द्रादिक देवताओं की की हुई श्रद्धापूर्वक सम्यग् आराधना केवल ढोंग मात्र ही होगी, भक्ति नहीं। अतः कल्याणक शब्द का उल्लेख न होने पर भी हमें लक्षणा से कल्याणक ग्रहण करना ही होगा।

यही नहीं, किन्तु तीर्थंकर का जीव पूर्वभवों में जिस भव से वह सम्यक्त्व अर्जन करता है वहां से लेकर तीर्थंकर भव तक उसके सभी भव 'उत्तमभव' माने जाते हैं। कल्पसूत्रादि शास्त्रों में प्रभु महावीर का भव पोट्टिल राजपुत्र के भव से पंचम भव माना जाता है, परन्तु समवायाङ्गसूत्र में गणधरदेव महावीर का पंचम भव देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न होना और छट्ठा भव त्रिशलारानी की कुक्षि में उत्पन्न होना और तीर्थंकर रूप से जन्म लेना मानते हैं—

"समणे भगवं महावीरे तित्थगरभवग्गहणाओ छट्ठे पोट्टिलभवग्गहणे एगं वासकोडिं सामन्नं परियागं पाउणित्ता सहस्सारे कप्पे सव्वट्ठविमाणे देवत्ताए उववन्ने।"

श्रमण तपस्वी भगवान महावीर के पोट्टिल के भव से पांच ही भव माने गये, यह छट्ठा भव कैसा ? इसका भ्रम न हो इसलिये टीकाकार अभयदेवसूरि स्पष्ट कर देते हैं:—

"समणे, इत्यादि। किल भगवान् पोट्टिलाभिधानो राजपुत्रो बभूव। तत्र वर्षकोटिं प्रव्रज्यां पालितवान् इत्येको भवः। ततो

देवोऽभूदिति द्वितीयः। ततो नन्दाभिधानो राजसूनुः छत्रानगर्यां जज्ञे इति तृतीयः। तत्र वर्षलक्षं सर्वदा मासक्षपणेन तपस्तप्त्वा दशमदेवलोके पुष्पोत्तरवरविजयपुण्डरीकाभिधाने विमाने देवोऽभवत् इति चतुर्थः। ततो ब्राह्मणकुण्डग्रामे ऋषभदत्त–ब्राह्मणस्य भार्याया देवानन्दाभिधानायाः कुक्षौ उत्पन्नः इति पञ्चमः। ततो द्व्यशीतितमे दिवसे क्षत्रियकुण्डग्रामे नगरे सिद्धार्थमहाराजस्य त्रिशलाभिधानभार्यायाः कुक्षौ इन्द्रवचनकारिणा हरिनैगमेषिनाम्ना देवेन संहृतः–नीतः तीर्थङ्करतया च जातः, इति षष्ठः। उक्त–भवग्रहणं हि विना नान्यद्भवग्रहणं षष्ठं श्रूयते भगवतः, इत्येतदेव षष्ठभवग्रहणतया व्याख्यातं, यस्माच्च भवग्रहणादिदं षष्ठं तदप्ये–तस्मात् षष्ठमेवेति, सुष्ठूच्यते तीर्थङ्करभवग्रहणात् षष्ठे पोट्टिलभवग्रहणे इति।"

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न होना और उससे अपहृत होकर त्रिशलाकुक्षि में धारण होना अतिनिन्द्य या आश्चर्य नहीं किन्तु उत्तम भव है। अतः पृथक् भवनिर्देश से उत्तम भव होने के कारण यह स्वतः ही मङ्गलस्वरूप कल्याणक हो जाता है।

३–पञ्चाशक प्रकरण एवं टीकाकार अभयदेवसूरि द्वारा पञ्चकल्याणक स्वीकार करना अपना निजी महत्त्व रखता है। वहां सामान्य रूप से २४ तीर्थङ्करों के कल्याणकों की गणना का प्रसंग होने से पांच ही कहे गये हैं, इससे ६ कल्याणक की मान्यता में यत्किञ्चित् भी बाधा नहीं आती। देखिये, जिस प्रकार चौवीश तीर्थङ्करों की सामान्य गणना में १९ वें तीर्थंकर मल्लिप्रभु की स्त्रीरूप में गणना नहीं करते हैं किन्तु मल्लिनाथजी कहकर पुरुष रूप में गिनते हैं। परन्तु विशिष्ट व्याख्या में या प्रसंग में मल्लि स्त्री थी, कहते हैं तो, क्या सामान्य प्रसंग से मल्लिप्रभुका स्त्रीत्व छूट जाता है, और क्या वे पुरुष मान ली जाती हैं? नहीं।

इसी प्रकार प्रत्येक तीर्थंकर की माता चौदह स्वप्न देखती हैं। उसमें ऋषभदेव की जननी वृषभ से, महावीर प्रभु की जननी सिंह से और अवशिष्ट अजितनाथ से पार्श्वनाथ पर्यन्त २२ की माताएं हस्ति से लेकर निर्धूम अग्निशिखा पर्यन्त चौदह स्वप्न देखती हैं। कल्पसूत्र में वीरचरित्र में त्रिशलाद्वारा दृष्ट स्वप्नों के अधिकार में आचार्य भद्रबाहुस्वामी, सामान्य पाठ होने से एवं बहुलता की रक्षा करने के लिये सिंह स्वप्न से वर्णन प्रारंभ न कर हस्ति स्वप्न से ही वर्णन प्रारंभ करते हैं, तो क्या यह मान सकते है कि त्रिशला ने चौदह स्वप्नों में सर्वप्रथम सिंह का स्वप्न न देखकर हाथी का स्वप्न देखा था ?

यही क्यों ? आचार्य जिनवल्लभसूरिने स्वयं सर्व जिन पञ्चकल्याणकस्तोत्रों में सामान्य जिनेश्वरों की स्तुति एवं कल्याणकनिर्देश मात्र होने से महावीरप्रभु के पांच ही कहे हैं, तो क्या हमें जिनवल्लभसूरि का ही पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना होगा ? या उन्हें वितथवचनी कहना होगा ? कदापि नहीं। वस्तुतः सामान्य प्रसंग से पञ्चाशक में महावीरदेव के पांच ही कल्याणक कहे हैं तो अतिरिक्त कल्याणक का अभाव नहीं हो जाता। अतः सामान्य विशेष व्याख्या को मध्यस्थ दृष्टि से देखें तो छ कल्याणक की मान्यता में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

४—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के 'उसभे णं अरहा कोसलिए पंच उत्तरासाढे अभीई छट्ठे होत्था' इस पाठ के अनुसार यहां यह सन्देह उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि क्या शास्त्रकार ने राज्याभिषेक को कल्याणक स्वीकार कर 'पंच उत्तरासाढे' कहा है ? परन्तु इसका समाधान इसकी टीका करते हुए टीकाकार तपागच्छीय आचार्य विजयसेनसूरि के शिष्य श्रीशान्तिचन्द्रगणि (जो धर्मसागरजी के ही समकालीन विद्वान थे) कहते हैं कि '**वीरस्य गर्भापहार इव नायं कल्याणकः**' महावीर के गर्भहरण की तरह यह

कल्याणक नहीं है, किन्तु राज्याभिषेक इन्द्र कर्त्तव्य होने से लक्षणा के साधर्म्य से एवं उत्तराषाढा नामक एक नक्षत्र में होने से शास्त्रकारने ' पंच उत्तरासाढे ' कहा है, इसमें कोई दोष नहीं है। इसीलिये आचार्य भद्रबाहुस्वामी ने कल्पसूत्र में ' उसभे णं अरहा कोसलिए चउ उत्तरासाढे अभीई पंचमे होत्था ' कहा है। अर्थात् चार कल्याणक उत्तराषाढा नक्षत्र में हुए हैं और पांचवां (निर्वाण) अभिजित नक्षत्र में। टीकाकार का पूरा मन्तव्य इस प्रकार है:—

" ननु अस्मादेव विभागसूत्रबलात् आदिदेवस्य षट्कल्याणकं समापद्यमानं दुर्निवारं इति चेत् ? न, तदेव हि कल्याणकं यत्रासनप्रकम्पप्रयुक्तावधयः सकलसुरासुरेन्द्रा जीतमिति विधित्सवो युगपत् ससंभ्रमा उपतिष्ठंते, नह्ययं षष्ठकल्याणकत्वेन भवता निरूप्यमाणो राज्याभिषेकस्ताहशस्तेन वीरस्य गर्भापहार इव नायं कल्याणकः, अनन्तरोक्तलक्षणायोगात्। न च तर्हि निरर्थकमस्य कल्याणकाधिकारे पठनमिति वाच्यम्, प्रथमतीर्थेशराज्याभिषेकस्य जीतमिति शक्रेण क्रियमाणस्य देवकार्यत्व–लक्षणसाधर्म्येण समाननक्षत्रजाततया प्रसङ्गेन तत्पठनस्यापि सार्थकत्वात्, तेन समाननक्षत्रजातत्वे सत्यपि कल्याणकत्वाभावेन [अ]नियतवक्तव्यतया, क्वचित् राज्याभिषेकस्याकथनेऽपि न दोषः। अतएव दशाश्रुतस्कन्धाष्टमाध्ययने पर्युषणाकल्पे श्रीभद्रबाहुस्वामिपादाः " ते णं काले णं ते णं समये णं उसभे णं अरहा कोसलिए चउ उत्तरासाढे अभीइ पंचमे होत्था।" इति पञ्चकल्याणकनक्षत्रप्रतिपादकसूत्रं बबन्धिरे। न तु राज्याभिषेकनक्षत्राभिधायकमपीति। न च प्रस्तुतव्याख्यानस्यानागमिकत्वं, आचाराङ्गभावनाध्ययने श्रीवीरकल्याणकसूत्रस्यैवमेव व्याख्यातत्वात्। "

इस पाठ से राज्याभिषेक भी कल्याणक हो; सन्देह का अवकाश ही नहीं रहता। यदि मानलें कि राज्याभिषेक भी

कल्याणक हो तो प्रायः प्रत्येक तीर्थङ्कर का राज्याभिषेक हुआ है उसे भी मानना होगा। यही क्यों ? भगवान ऋषभदेव ने युगलिक धर्म का निवारण कर सुमङ्गला के साथ पाणिग्रहण किया, यह लौकिक व्यवहार से एवं गार्हस्थ्यधर्मरूप श्रेष्ठ कार्य होने से इसे भी कल्याणक मानने में क्या आपत्ति है ? यदि इस प्रकार से कल्पनाओं का आश्रय लिया जाय तो पांच ही नहीं अपितु कितने ही कल्याणक प्रत्येक तीर्थंकर के हो सकते हैं, परन्तु शास्त्रविहित न होने से इन्हें कल्याणकों की कोटि में किसी भी शास्त्रकारने नहीं रखा, अतः राज्याभिषेक भी कल्याणक की कोटि में नहीं आ सकता।

५–कतिपय शास्त्रीय प्रमाणों के उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। अब खरतरगच्छीय आचार्यों के लिखित प्रमाण छोड़कर केवल अन्यान्यगच्छीय आचार्यों के ही प्रमाण प्रस्तुत करते हैं:—

(क) श्री पृथ्वीचन्द्रसूरि कल्पटिप्पन में लिखते हैं:—

"हस्त उत्तरो यासां ताः, बहुवचनं बहुकल्याणकापेक्षम्, इत्यत्र पञ्चसु पञ्च, स्वातौ षष्ठमेव ध्वन्यते।"

(ख) आचार्य विनयचन्द्रसूरि कल्पनिरुक्त (र. १३२५) में लिखते हैं:—

"हस्त उत्तरो यासां ता हस्तोत्तरा–उत्तरफल्गुन्यो, बहुवचनं बहुकल्याणापेक्षम्। तस्यां हि विभोश्च्यवनं १, गर्भाद्गर्भ-सङ्क्रान्तिः २, जन्म ३, व्रतं ४, केवलं ५ चाभवत्। निर्वृतिस्तु स्वातौ ६।"

(ग) तपगच्छीय आचार्य कुलमण्डनसूरि कल्पावचूरिका में मूल पाठ की व्याख्या करते हुए लिखते हैं:—

"श्रीवर्द्धमानस्य षण्णां च्यवनादीनां कल्याणकानां हेतुत्वेन कथितौ तौ वा इति ब्रूमः।"

(घ) आचार्य जयचन्द्रसूरि अपने कल्पान्तर्वाच्य में लिखते हैं:—

" आषाढे सितषष्ठी, त्रयोदशी चाश्विने सिता चैत्रे । मार्गे दशमी सितवै-शाखे सा कार्त्तिके च कूहुः ॥ १ ॥
वीरस्य षट्कल्याणकदिनानि इति । "

(च) तपगच्छीय आ० श्रीसोमसुन्दरसूरि या तत्शिष्य स्वप्रणीत कल्पान्तर्वाच्य में लिखते हैं:—

" यत्राऽसौ भगवान् महावीरो देवानन्दायाः कुक्षौ दशमदेवलोकगतप्रधानपुष्पोत्तरविमानादवतीर्णः, पञ्चकल्याणकानि उत्तराफाल्गुनिनक्षत्रे जातानि । तद्यथा—.. स्वातिनक्षत्रे परिनिर्वृतः-निर्वाणं प्राप्तो भगवान्-मोक्षं गत इत्यर्थः । एतानि भगवतो वर्द्धमानस्य षट्कल्याणकानि कथितानि । "

(छ) अञ्चलगच्छीय धर्मशेखरसूरि शिस्य उदयसागर स्वप्रणीत कल्पसूत्रटीका (र. १५११ ज्ये. सु. ५) लिखते हैं:—

" हस्त उत्तरोऽग्रेसरो यासां ताः उत्तराफाल्गुन्यः, बहुवचनं पञ्चकल्याणकापेक्षया ' होत्था ' आसीत् । .... स्वातिना नक्षत्रेण ' परिनिर्वृतः ' निर्वाणं प्राप्तः । "

(ज) अञ्चलगच्छीय वाचनाचार्य श्रीमहावजी गणि शिष्य मुनि माणिकऋषि लिखित सं. १७६६ की प्रति[1] में लिखा है—

" पञ्चसु च्यवनादिकल्याणकेषु हस्तोत्तरा-हस्तादुत्तरस्यां दिशि वर्त्तमाना यद्वा हस्त उत्तरो यासां ता उत्तराफाल्गुन्यो यस्य स पञ्च हस्तोत्तरो भगवान् ' होत्थ ' त्ति अभूत् । "

१ शान्तिनाथमंदिरस्थ अञ्चलगच्छ भंडार, कच्छ मांडवी पत्र १५० ।

(ञ) जोधपुर केसरियानाथ भंडार में सुरक्षित कल्पसूत्र टीका की एक प्राचीन प्रति[1] में लिखा है—

" श्रीवर्द्धमानतीर्थाधिपतेः पञ्चकल्याणकानि हस्त-उत्तरो अग्रे यस्मात्, एवम्भूते उत्तराफाल्गुनीलक्षणे नक्षत्रे जातानि । मोक्षकल्याणकस्य स्वातौ जातत्वादिति । "

(ट) तपागच्छीय पं. शान्तिविजयगणि लिखित (ले. सं. १६६७ लाहोर) कल्पसूत्र—अन्तर्वाच्य सस्तबक[2] में लिखा हैः—

" श्रमणतपस्वी भगवंत ज्ञानवंत श्रीमहावीरदेव, तेहना पांच कल्याणक उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रे हुआ । .... स्वातिनक्षत्रे मोक्ष पहुंता श्रीमहावीरदेव । "

(ठ) उपकेश(कंवला)गच्छीय ककुदाचार्य सन्तानीय उपाध्याय रामतिलक शिष्य गणपतिलिखित[3] (ले. सं. १७२४) कल्पसूत्र बालावबोध में लिखा है—

" ए श्रीकल्पसूत्र तणइ प्रारंभइ जगन्नाथ श्रीमहावीरतणां छ कल्याणिक बोलियइ, तद्यथा—' ते णं का० पंचहत्थुत्तरे होत्था '— तिणइं समइं श्रमण भगवंत श्रीमहावीररहइं पञ्चकल्याणिक उत्तराफाल्गुनि नक्षत्रि चन्द्रमा तणइ संयोगि प्राप्त हुंतइ हुआं । ....ए संक्षिप्त वाचनाइं जगन्नाथ तणां छ कल्याणिक जाणिवा । "

(ड) आञ्चलिक मेरुतुङ्गसूरिरचित सूरिमन्त्रकल्प के पूर्वलिखित वर्धमानविद्याकल्प में लिखा हैः—

" उपाध्यायादिपदचतुष्टयेन नवपदस्थापनादिनप्रतिपन्नषट्स्वपि महावीरकल्याणकेषु यावज्जीवं विशेषतपः कार्यम् । "

१ डावडा नं० १८ । २ जोधपुर केशरियानाथ भंडार डा. २० प्रत नं० ६ । ३ महेसाणा उपाश्रय के भंडार, पत्र ९१ ।

(ढ) तपागच्छीय श्रीशान्तिचन्द्रगणि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की टीका करते हुए भगवान ऋषभप्रभु का राज्याभिषेक कल्याणक माना जा सकता है या नहीं ? प्रसंग पर लिखते हैं:—"वीरस्य गर्भापहार इव नायं कल्याणकः।" अर्थात् वीर के गर्भापहार की तरह यह (ऋषभ का राज्याभिषेक) कल्याणक नहीं है। इससे स्पष्ट है कि गर्भापहार कल्याणकों की परिधि में है।

(त) आगमिकगच्छीय आचार्य जयतिलकसूरि स्वप्रणीत सुलसाचरित्र के छट्ठे सर्ग में लिखते हैं:—

"देवानन्दोदरे श्रीमान्, श्वेतषष्ठ्यां सदा शुचिः। अवतीर्णोऽसि मासस्या–षाढस्य शुचिता ततः ॥ १ ॥
त्रिशला सर्वसिद्धेच्छा, त्रयोदश्यामभूद् यतः। तवावतारात्तेनैषा, सर्वसिद्धा त्रयोदशी ॥ २ ॥
शुक्लत्रयोदश्यां यश्चा–चलमेरुं प्रचालयन्। चित्रं कृतवांस्तद्‌योगा–चैत्रमासोऽपि कथ्यते ॥ ३ ॥
यस्याद्यदशम्यां दुर्ग–मोक्षमार्गस्य शीर्षकम्। चारित्रमाददं युक्ता, मासोऽस्य मार्गशीर्षता ॥ ४ ॥
दशम्यां यस्य शुक्लायां, केवलश्रीरहो! त्वया। ह्यादत्ता तेन मासोऽस्य, युक्ता माधवता प्रभो! ॥ ५ ॥
तव निर्वाणकल्याणं, यद्दिनं पावयिष्यति। तन्न वेद्मि यतो नाथ!, मादृशोऽध्यक्षवेदिनः ॥ ६ ॥
सिद्धार्थराजाङ्गज! देवराज!, कल्याणकैः षड्भिरिति स्तुतस्त्वम्।
तथाविधेह्यान्तरवैरिषट्कं, यथा जयाम्याशु तव प्रसादात् ॥ ७ ॥"

इत्यादि एक नहीं सैकड़ों प्रमाण दिये जा सकते हैं। अतः यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है कि जिनवल्लभगणि ने ही यह नूतन प्रतिपादन किया है। श्रीमान् जिनवल्लभगणि ने तो केवल जो वस्तु चैत्यवासियों के कारण 'विवर' में प्रविष्ट होती

५

जा रही थी उसका पुनः उद्धार कर जनता के सामने रखकर अपनी असीम निर्भीकता का परिचय दिया है। वस्तुतः गणिजी का यह षट्कल्याणकों का प्रतिपादन उत्सूत्र प्रतिपादन नहीं था, किन्तु सैद्धान्तिक वस्तु का ही प्रतिपादन था। यदि यह प्ररूपणा, उत्सूत्रप्ररूपणा होती तो तत्कालीन समग्र गच्छों के आचार्य इसका उग्र विरोध करते; प्रतिशोध में दुर्दम कदम उठाते। पर आश्चर्य है कि तत्कालवर्त्ति किसी भी आचार्यने इस प्ररूपणा का विरोध किया हो ऐसा प्रमाण प्राप्त नहीं होता है; प्रत्युत प्रतिपादन के प्रमाण अनेकों उपलब्ध होते हैं। अतः यह सिद्ध है कि यह प्ररूपणा तत्कालीन समग्र आचार्यों को मान्य थी। साथ ही यह भी मानना होगा कि खुद तपागच्छीय विद्वानोंने भी षट्कल्याणक लिखे हैं अतः धर्मसागरजी की स्वयं की प्ररूपणा ही निह्नव-मार्ग की प्ररूपणा है, आचार्य जिनवल्लभसूरि की नहीं।

इस कल्याणक के विषय में शास्त्रीय दृष्टि से विशेष अध्ययन करना हो तो मेरे शिरच्छत्र पूज्य गुरुदेव श्रीजिनमणि-सागरसूरिजी म. द्वारा लिखित 'षट्कल्याणक निर्णय'× नामक पुस्तक देखें।

सङ्घबहिष्कृत ?

जो व्यक्ति पाण्डुरोग से ग्रसित हो जाता है उसे सृष्टि की समस्त वस्तुएं पीतवर्णी ही प्रतीत होती हैं वैसे ही धर्मसागरजी को विद्वत्ता का पीलिया हो गया, तत्फलस्वरूप उनकी दृष्टि में समग्र गच्छवाले निह्नव, विशुद्ध और कठोर क्रियापात्री खरतर-गच्छ जैसा गण खर-तर, जिनवल्लभसूरि जैसा आचार्य उत्सूत्रप्रतिपादक, मालूम हुए। जिनवल्लभसूरि को उत्सूत्रप्ररूपक कहने के

× सुमतिसदन कोटा (राजस्थान) द्वारा प्राप्य।

पश्चात् एक जटिल समस्या उनके सन्मुख और आई कि ऐसे प्ररूपक तो संघ, गण—बहिष्कृत हुआ करते हैं तो क्यों न इनको संघबहिष्कृत सिद्ध कर दूं ? इसको सिद्ध करने के लिये प्रमाण की आवश्यकता थी, प्रमाण के लिये साहित्य सागर में काफी गोता लगाया पर निष्फल हुए, अन्त में उनको एक प्रमाण मिल ही गया। वह यह था—

"सङ्घत्राकृतचैत्यकूटपतितस्यान्तस्तरां ताम्यत—स्तन्मुद्रादृढपाशबन्धनवतः शक्तस्य न स्पन्दितुम् ।
मुक्त्यै कल्पितदानशीलतपसोऽप्येतत्क्रमस्थायिनः, सङ्घव्याघ्रवशस्य जन्तुहरिणव्रातस्य मोक्षः कुतः? ॥३३॥"

यह आचार्य जिनवल्लभसूरिप्रणीत सङ्घपट्टक की ३३ वीं कारिका है। इसका अर्थ समस्त टीकाकारोंने निम्नलिखित किया है:—

"इन हीन आचारवाले चैत्यवासियों को देने के लिये बनवाये गये चैत्यरूप कूट अर्थात् जाल में जो फंसे हुए हैं, इसी हेतु जो अन्तःकरण से छटपटा रहे हैं, परन्तु इन चैत्यवासियों की मुद्रा अर्थात् 'हमारे चैत्य को छोड़कर अन्यत्र मत जावो' ऐसी राजाज्ञारूप दृढ बन्धन से बन्धे हुए होने के कारण जरा भी हिलडुल नहीं सकते हैं। मुक्ति के लिये जो दान—शील—तप आदि करते हैं, परन्तु इन हीनाचारियों के कुसंघ की परम्परा में पड़े हुए हैं। ऐसे जो ये दयनीय भव्य प्राणीरूप हरिणों के झुंड हैं, उनका हीनाचारियों के कुसङ्गरूप व्याघ्र से छुटकारा कहां? अर्थात् जैसे हरिण समूह जब व्याघ्रक्रम—व्याघ्र के पंजे में आ जाता है तब उसका छुटकारा असंभव होता है उसी प्रकार इन हीनाचारियों के कुसङ्गरूप व्याघ्र के फंदे में पडे हुए भव्य प्राणीरूप हरिणों का छुटकारा कहां ? अर्थात् उनका मुक्तिगमन कैसे हो सकता है ? ।"

इस ग्रन्थ के टीकाकार युगप्रवरागम श्रीजिनपतिसूरि के कतिचित् अपूर्ण वाक्यों का उल्लेख करके उ. धर्मसागरजी और वर्त्तमान-

कालीन विजयप्रेमसूरि तथा तन्मतानुयायी जो तोड मरोडकर अर्थ करते हैं वह कितना विचारणीय तथा उपहासास्पद है, देखिये:—

पद्य में आये हुए " संघव्याघ्रवशस्य " शब्द पर विशेष ऊहापोह है। उनका मन्तव्य है कि संघ को व्याघ्र की उपमा देना पूर्ण रूप से अनुचित है। किन्तु किस संघ को व्याघ्र की उपमा दी है—विचारने का वे परिश्रम नहीं उठाते। आचार्य जिनपति-सूरि इस शब्द की व्याख्या करते हुये लिखते हैं:—

" अथ कथमिह संघस्य क्रूरतया व्याघ्रेण [नि]रूपणं ? तत्त्वे हि तस्य भगवन्नमस्कारो न घटामियृयात्। श्रूयते च तीर्थप्रवर्त्तना-ऽनेहसि 'नमो तित्थस्से'त्याद्यागमवचनप्रामाण्येन भगवतस्तन्नमस्कारविधानं, तत्कथमेतदुपपद्यत इति चेत्, न, सदृग्नामश्रवणाद् संघेऽपि प्रकृते भवतः संघभ्रान्तेः। अन्यो हि संघो भगवन्नमस्कारविषयोऽन्यश्चाधुनिको भवदभिमतः। तथाहि—गुणगुणिनोः कथं-चित्तादात्म्येन ज्ञानादिगुणसमुदायरूपः शुद्धपथप्रथनबद्धादरोऽनुल्लंघितभगवच्छासनः साध्वादिः सिद्धांते सङ्घ इत्यभिधीयते। यदाह—

सव्वोवि नाणदंसण–चरणगुणविभूसियाण समणाणं। समुदायो होइ संघो, गुणसंघाओ ति काऊणं ॥ १ ॥

एवंविधश्च संघो भगवन्नमस्कारविषयः। स हि भगवान्नमस्यदखण्डाखण्डलमौलिमालाललितक्रमकमलोऽपि तीर्थस्य साक्षात्स्रष्टापि प्राक्तनजन्मनिर्वर्त्तितभावसंघवात्सल्यादार्हन्त्यं मयावाप्तमिति कृतज्ञता प्रदिदर्शयिषया सद्बहुमानदर्शनाच्च लोकोऽप्येनं बहुमन्येत इति जिज्ञापयिषया च तं नमस्कुरुते।

गुणसमुदाओ संघो, पवयण–तित्थं ति हुंति एगट्ठा। तित्थयरो वि हु एयं, नमए गुरुभावओ चेव ॥ १ ॥
तप्पुधिया (?) अरहया, पूइयपूया य विणयकम्मं च। कयकिच्चोवि जह कहं, कहेइ नमए तहा तित्थं ॥ २ ॥

इतरथा कृतकृत्यत्वेन भगवतो यथाकथंचित्तत्रैव भवे मुक्तिसंभवात्किमनेनेति। साम्प्रतिकस्तु भवदभिप्रेत उन्मार्गप्रज्ञापकत्वेन,सम्मार्गप्रणाशकत्वेन, जिनाज्ञासर्वस्वलुण्टाकत्वेन, यतिधर्ममाणिक्यकुट्टाकत्वेन च गुणसमुदायरूपत्वस्य संघलक्षणस्याभावान्न संघः। यदुक्तम्—

केइ उम्मग्गट्ठियं, उत्सुत्तपरूवयं बहुं लोयं। दट्ठुं भणंति संघं, संघसरूवं अयाणंता ॥ १ ॥
सुहसीलाओ सच्छंदचारिणो वेरिणो सिवपहस्स। आणाभट्ठाओ बहु-जणाओ मा भणह संघोति ॥ २ ॥

परं बहुकीकशसंघातरूपत्वात्सोऽपि संघ इत्यभिधया लोकेऽभिधीयत इति मुग्ध! नाम्ना विप्रलब्धोऽसि। यदुक्तं—

एक्को साहू एक्का वि साहुणि सावओ य सड्ढो य। आणाजुत्तो संघो, सेसो पुण अट्ठिसंघाओ ॥ १ ॥

अतः संघलक्षणाभावान्नायं बहुमानमर्हति, तद् बहुमानादिकारिणो भगवत्प्रत्यनीकादिभावेनाभिधानात्। यदुक्तं—

आणाए अवट्टंतं, जो उवबूहिज्ज मोहदोसेणं। तित्थयरस्स सुयस्स य, संघस्स य पच्चणीओ सो ॥ १ ॥

तथा—

जो साहिज्जे वट्टइ, आणाभंगे पयट्टमाणाणं। मणवायाकाएहिं, समाणदोसं तयं बिंति ॥ १ ॥

अतएव सुखसीलतानुरागादेरसंघमपि संघ इत्यभिदधतां प्रायश्चित्तं प्रतिपादितं सिद्धान्ते। यदाह—

अस्संघं संघं जे, भणंति रागेण अहव दोसेण। छेओ वा मूलं वा, पच्छित्तं जायए तेसिं ॥ १ ॥

तस्माद् युक्तं क्रूरतया प्रकृतसंघस्य व्याघ्रतया [नि]रूपणम्।"

गुणसमुदाय, संघ, प्रवचन तथा तीर्थ शब्द एकार्थक हैं तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुणों से परिपूर्ण साधु के समुदाय को

यहाँ संघ कहा है और वह संघ बहुमाननीय है। किन्तु उन्मार्गस्थित, सन्मार्ग का विनाशक, जिनाज्ञा का नाश करके स्वच्छन्द-रूप से प्ररूपित चैत्यवासी समुदाय, जो सुख-लोलुपी है उसको यहाँ संघरूप से स्वीकार नहीं किया है। अर्थात् उन्मार्गप्ररूपक चैत्यवासी समुदाय-संघ को ही व्याघ्र की उपमा दी है किन्तु तीर्थ सम्मत संघ को नहीं; जो यथार्थ ही है। और इसी प्रकार के संघ को जब आचार्य हरिभद्रसूरि जैसे समर्थ विद्वान भी चैत्यवास का खंडन करते हुये "(आज्ञावियुक्तः) शेषसंघः अस्थिसंघात एव" कह कर हड्डियों का समुदाय मात्र ही है—प्रतिपादन करते हैं तो, इस वर्त्तमानीय (चैत्यवासी) संघ को जो व्याघ्र की उपमा दी है वह अयुक्त प्रतीत नहीं होती है।

दूसरी विचारणीय वस्तु यह है कि इस टीका में आये हुये "ऐदंयुगीनसङ्घप्रवृत्तिपरिहारेण च सङ्घबाह्यत्वप्रतिपादनममीषां भूषणं, न तु दूषणं।" वाक्य का प्रश्रय लेकर जो प्रतिपादन करते हैं कि 'जिनवल्लभ संघ बहिष्कृत थे'—किन्तु उन्हें टीकाकार के पूर्ण शब्दों का ध्यान रखना चाहिये कि टीकाकार जो संघबाह्यत्व को भूषण कहता है उसका आशय क्या है? देखिये टीका-कार के पूर्णवाक्य:—

"ऐदंयुगीनसंघप्रवृत्तिपरिहारेण च संघ-बाह्यत्वप्रतिपादनममीषां भूषणं, न तु दूषणम्। तत्प्रवृत्तेरुत्सूत्रत्वेन तत्कारिणां दारुणदुर्गतिविपाकश्रुत्या तत्परिहारेण प्रकृतसंघबाह्यत्वस्यैव तेषां चेतसि रुचितत्वात्तदंतर्भावे तु तेषामपि तत्प्रवृत्तिवर्तिष्णुतयाऽनंत-भवाटवीपर्यटनप्रसङ्गात्। अत आधुनिकसंघबाह्यत्वेनैव तेषां गुणित्वं, तथा च तेषूच्छेदबुद्धिर्महापापीयसामेव भवति। तस्मात्तेषु मुक्त्यर्थिनां प्रमोद एव विधातव्यो, न तनीयस्यपि द्वेषधीरिति व्यवस्थितम्।"

उपरि उल्लिखित टीकाकार के शब्दों से यह स्पष्ट है कि जिस चैत्यवासी संघ को हमने व्याघ्र की उपमा दी है उस संघ में यदि जिनाज्ञानुसार चालित, सुविहित साधु-समुदाय नहीं रहता है अथवा ये चैत्यवासी कहते हैं कि 'ये सुविहित साधु संघ बाह्य हैं' तो वह सुविहित-गण के लिये दूषण नहीं है किन्तु भूषणरूप ही है। क्योंकि यदि सुविहित गण उस संघ को स्वीकार करता है और उसकी आम्नायानुसार चलता है तो वह संसार का वृद्धिकारक है।

वस्तुतः आचार्य जिनपतिसूरि का यह कथन उपयुक्त ही है, अन्यथा आचार्य हरिभद्रसूरि और आचार्य जिनेश्वरसूरि जैसे प्रौढ़ सुविहित, चैत्यवासियों की आचरणाओं का क्यों विरोध करते ? विरोध के कारण यह वस्तु भी उपयुक्त है कि चैत्यवासी समुदाय इन सुविहितों को संघबाह्य करता है तो वह सुविहितों के लिये दूषणरूप नहीं हैं; क्योंकि उनका मत-व्यामोह एकान्त दृष्टि से कहने को उन्हें बाधित करता है। इस से यह सिद्ध है कि चैत्यवासी संघ से जिनवल्लभसूरि आदि सुविहित बहिष्कृत अवश्य थे किन्तु थे सुविहित संघ के अन्दर और उसके प्रमुख।

धर्मसागरजीने न जाने अपनी किस असाधारण विद्वत्ता के बल पर इस पद्य में से सङ्घ-बहिष्कृत का अर्थ निकाला ? मैं तो समझता हूं कि स्वयं सागरजी अपने को चैत्यवासियों के प्रमुख समझते हों या उनके अनुयायी हों तो उन्हे कुसंघ और व्याघ्र की उपाधि सह्य न हुई हो ? इसीलिये स्वयं व्याघ्र बनकर अपनी दृढमुद्रा (लेखनी) द्वारा सुविहितपथप्रकाशक को संघबाह्य करने का अपना अधिकार बताया हो। मैं तो सागरजी के विचारों के अनुयायी समस्त विद्वप्रेमियों का आह्वान करता हूँ कि उनके पास कोई भी या किसी भी प्रकार का प्रमाण हो तो उपस्थित करें, अवश्य ही सद्भावना के साथ मैं विचार करूंगा।

अन्यथा प्रमाणों के अभाव में इन कपोलकल्पित कल्पनाओं का साहित्य या ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व ही क्या ?

उत्सूत्र–प्ररूपक !

आ. जिनवल्लभसूरिने सूक्ष्मार्थविचारसार प्रकरण की १४ वीं गाथा के उत्तरार्ध में संहनन के अधिकार में लिखा है:—

" सुत्ते सत्तिविसेसो, संघयणमिहट्ठिनिचउ त्ति ॥ १४ ॥ "

इस पद्य में उल्लिखित "सुत्ते सत्तिविसेसो" पर प्रज्ञापना सूत्र की टीका करते हुए [पृ. ४७०] आचार्य मलयगिरि लिखते हैं:—

" तेन यः प्राह सूत्रे शक्तिविशेष एव संहननमिति, तथा च तद्ग्रन्थः–" सुत्ते सत्तिविसेसो संघयणं " इति स भ्रान्तः । मूलटीकाकारेणापि सूत्रानुयायिना संहननस्यास्थिरचनाविशेषात्मकस्य प्रतिपादितत्वात्, यत्त्वेकेन्द्रियाणां सेवार्त्तसंहनन-मन्यत्रोक्तं तत् टीकाकारेण समाहितं, औदारिकशरीरत्वादुपचारतः इदमुक्तं द्रष्टव्यं, न तु तत्त्ववृत्त्येति । यदि पुनः शक्तिविशेषः स्यात् ततो देवानां नैरयिकाणां संहननमुच्येत । अथ च ते सूत्रे साक्षादसंहनिन उक्ता, इत्यलं उत्सूत्रप्ररूपकविस्पन्दितेषु । "

श्रीमलयगिरि के ' उत्सूत्रप्ररूपकविस्पन्दितेषु ' शब्द पर श्रीसागरानन्दसूरि ने ३॥ पेज की टिप्पनी लिखकर और श्रीप्रेम-विजयजी (वर्त्तमान–विजयप्रेमसूरि)ने सार्द्धशतक की प्रस्तावना में इसी विषय पर २॥ पेज लिखकर जो कलम तोडी है, और जिन शब्दों का प्रयोग× किया है, वह सचमुच में श्लाघ्य है ! ।

यहाँ श्रीजिनवल्लभसूरिने जो स्वरचित प्रकरण में शक्तिविशेष को संहनन कहा है वह शास्त्र–सम्मत है या नहीं ? पूर्व में

× ' अपरिणतभगवत्सिद्धान्तसारो वावदूकः सिद्धान्तबाहुल्यमात्मनः ख्यापयन्नेवं प्रललाप । ' कुमार्गगमृगसिंहनादीयं वचनं । '

(षडशीति) प्रकरण ' की टीका करते हुए अवतरणिका में ' न चायं आचार्यो न शिष्ट इति '× कहकर जिनवल्लभसूरि की गिनती शिष्ट आचार्यों की कोटि में करते हैं और दूसरी तरफ उन्हें ' उत्सूत्रप्ररूपक ' कहते हैं। ऐसा प्रामाणिक आचार्य के वचनों में यह विरोध क्यों ?, इस प्रश्न पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि श्रीमलयगिरि जैसे प्रामाणिक टीकाकार, उल्लेख न होने पर भी 'एव' का उल्लेख कदापि नहीं कर सकते और पूर्ववर्ती आचार्यों को यह मान्यता मान्य होने से उत्सूत्रप्ररूपक शब्द का उल्लेख भी नहीं कर सकते। अतः अन्ततोगत्वा किन कारणों के वशीभूत होकर श्रीमलयगिरि को इन शब्दों का प्रयोग करना पडा, निश्चिततया हम नहीं कह सकते। वस्तुतः ये शब्द विद्वच्चिन्त्य हैं।

किन्तु सागरजी और प्रेमविजयजीने टिप्पणी लिखते हुए यह भी ख्याल नहीं रखा कि स्वयं के तपगच्छ मान्य आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरि भी जब इस वस्तु का अपने कर्मग्रन्थों में अनुकरण करते हैं तो क्या देवेन्द्रसूरि भी आगमिक ज्ञान से अनभिज्ञ थे जो उन्होंने जिनवल्लभ गणि का अनुसरण किया ? नहीं, तो यह स्वतः सिद्ध है कि उपचारतः शक्तिविशेष संहनन आगमसम्मत है, आगम–विरुद्ध नहीं। ऐसी अवस्था में हम दृढता–पूर्वक कह सकते हैं कि उत्सूत्रप्ररूपक आदि शब्दों को सागरजी और प्रेमविजयजीने शिरमुकुट मानकर आचार्य मलयगिरि के नाम पर गणि जिनवल्लभ पर जो कीचड़ उछालने का प्रयत्न किया है वह वस्तुतः असफल ही है और स्वयं की द्वेषवृत्ति का द्योतक मात्र है।

× ' इह हि शिष्टाः क्वचिदिष्टे वस्तुनि प्रवर्तमानाः सन्त इष्टदेवतास्तवाभिधानपुरस्सरमेव प्रवर्त्तन्ते, न चायमाचार्यो न शिष्ट इति। ' षडशीति टीका, आत्मानद सभा भावनगर से प्रकाशित पृ. १.

यदि हम मूल टीकाकार शब्द से प्रज्ञापना, जीवाभिगम आदि सूत्रों के टीकाकार आचार्य हरिभद्रसूरि का ग्रहण करते हैं तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है; क्या आ. मलयगिरि ने हारिभद्रीय आवश्यक टीका का अवलोकन नहीं किया था ? यदि करते तो वे स्वयं एकपक्षीय सिद्धान्त का प्रतिपादन अपने वक्तव्यों में कैसे कर सकते थे ? और यदि हम मूल–टीकाकार शब्द से सार्द्धशतक टीकाकार आ. धनेश्वरसूरि का ग्रहण करते है तो इस टीका में कहीं पर भी ' एव ' का प्रयोग न होने पर भी आचार्य ने किस आधार से ' एव ' का प्रयोग किया ? चिन्त्य है ।

साथ ही मलयगिरि के ये शब्द ' उपचारत इदमुक्तं न तु तत्त्वदृष्ट्या ' गलतफहमी के द्योतक मात्र ही है, क्योंकि आचार्य जिनवल्लभसूरि स्वयं उपचार से ही शक्ति विशेष को संहनन स्वीकार करते है, निश्चय से नहीं । यदि वे औपचारिक प्रयोग न करते तो उन्हें ' सत्तिविसेसो संघयणं ' न कहकर ' सुत्ते सत्तिविसेसच्चिय संघयणं ' कहना अधिक इष्ट रहता, किन्तु ऐसा कथन नहीं है । अतः ' एव ' और अनौपचारिक कल्पना व्यर्थ ही है और साथ ही व्यर्थ है उत्सूत्रप्ररूपक की उपाधिप्रदान करना भी ।

दूसरी बात, इस सिद्धान्त को माननेवालों के लिये जो ' उत्सूत्रप्ररूपकविस्पन्दितेषु ' विशेषण दिया गया है, वह तो कदापि युक्त नहीं कहा जा सकता । क्योंकि यदि यह विशेषण युक्त मानें तो सूत्रकार गणधर महाराज एवं, आचार्य हरिभद्रसूरि और आचार्य अभयदेवसूरि जैसे आप्तपुरुष भी उत्सूत्रप्ररूपकों की कोटि में आयेंगे ।

और साथ ही यह भी विचारणीय है कि एक तरफ तो आचार्य मलयगिरि स्वप्रणीत जिनवल्लभीय ' आगमिकवस्तुविचारसार

असंहनन है। देवों और नारकियों के छहों संहननों से रहित होने पर संहनन रह ही नहीं सकता; जब कि आवश्यक, स्थानाङ्ग आदि आगम ग्रन्थों में देव और नारकी का वज्रऋषभनाराच संहनन स्वीकार किया गया है; अतः यह विप्रतिपत्ति कैसी ? वस्तुतः अस्थिरहित होने पर भी शक्तिविशेष संहनन स्वीकार करने से ही प्रथम संहनन माना जा सकता है।

और देखिये, इसी सार्द्धशतक प्रकरण के टीकाकार चन्द्रकुलीय आ. श्रीधनेश्वरसूरि भी, जिनका सत्ताकाल आचार्य मलयगिरि से पूर्व है; इस पद्य की टीका करते हुए इसी मत को पुष्ट करते हैं:—

"सूत्रे-आगमे शक्तिविशेषः संहननमुच्यते। कोऽभिप्रायः ? वज्रर्षभनाराचादिशब्दस्य संहननाभिधायकस्य शक्तिविशेषाभिधायकतया व्याख्यातत्वात् शक्तिविशेषः संहननमागमे प्रोच्यते। ईदृशं च संहननं देवनारकयोरपीष्यत एव। तेन देवा वज्रर्षभनाराचसंहनिनो, नारकाः सेवार्तसंहनिन-इत्यागमाभिप्रायतो बोद्धव्यम्॥" [जैन धर्म प्रसारक सभा द्वारा प्रकाशित पृ. १४.]

और इसी शक्तिविशेष संहनन परंपरा को मान्य रखते हुए कर्मग्रंथकार प्रसिद्ध आचार्य देवेन्द्रसूरिने भी अपने शतक नामक ग्रन्थ में यही वस्तु ×स्वीकार की है। ऐसी अवस्था में ऊपरि उल्लिखित शास्त्रीय प्रमाणों से यह तो स्पष्ट है कि शक्तिविशेष संहनन सर्वमान्य है, केवल जिनवल्लभसूरि की प्ररूपणा नहीं।

आचार्य मलयगिरि ने अपने वक्तव्य में 'मूलटीकाकारेणापि' शब्द किस टीकाकार को लक्ष्य रखकर रखा है, विचारणीय है।

× 'यत्तु देवेन्द्रनतपादपङ्कजैः श्रीमद्देवेन्द्रसूरिपादैः स्वोपज्ञशतकवृत्तौ एवमेवोक्तं तदप्येतद्ग्रन्थानुसारेणानुमीयते।' प्रेमविजयजी लि. सार्द्धशतक प्रस्तावना पृ. ३.

विचार करने के पश्चात् मलयगिरिजी के शब्दों पर हम विचार करेंगे।

श्रीजिनवल्लभसूरि और श्रीमलयगिरिजी के पूर्ववर्ती आचार्य, आप्तव्याख्याकार श्रीहरिभद्रसूरिने आवश्यकसूत्र की बृहद्वृत्ति [आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित पृ. ३३७. १] मे लिखा हैः—

" इह च इत्थंभूतास्थिसञ्चयोपमितः शक्तिविशेषः सहननं उच्यते, न तु अस्थिसञ्चय एव, देवानामस्थिरहितानामपि प्रथमसंहननयुक्तत्वात्। "

अर्थात्—इस प्रकार अस्थिसञ्चय से युक्त शक्तिविशेष को संहनन कहते हैं, केवल अस्थिसञ्चय को ही नहीं। क्योंकि देवताओं को अस्थिरहित होने पर भी प्रथम संहनन (वजर्षभनाराच) युक्त होने का कथन होने से।

इसी प्रकार सर्वगच्छमान्य नवाङ्ग टीकाकार श्रीअभयदेवसूरि स्वप्रणीत स्थानाङ्गसूत्र की टीका (आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित पृ. ३५७–१) में लिखते हैंः—

" संहननं–अस्थिसञ्चयः, वक्ष्यमाणोपमानोपमेयः शक्तिविशेष इत्यन्ये। "

जब आचार्य हरिभद्रसूरि केवल अस्थिसञ्चय को ही संहनन स्वीकार नहीं करते और आ० श्रीअभयदेवसूरि ' शक्तिविशेष इत्यन्ये ' कह कर इस वस्तु को स्वीकार करते हैं, ऐसी अवस्था में ' भ्रान्त है ' कहना समीचीन प्रतीत नहीं होता।

तथा जीवाभिगम सूत्र में जब " सुरनेरइया छण्हं संघयणाणं असंघयणा " अर्थात्–देव और नारकी छहों+ संहननों से रहित

+ वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका, और सेवार्त्त।

१७ वीं शती के उत्तरार्द्ध में, उपाध्याय शुभविजयजीगणि अपने 'सेनप्रश्न' में प्रश्नोत्तर करते हैं:—

" पिण्डविशुद्धिविधाता जिनवल्लभगणिः खरतरोऽन्यो वा ? इति प्रश्नः। अत्रोत्तरम्– जिनवल्लभगणेः खरतरगच्छसम्बन्धित्वं न सम्भाव्यते, यतस्तत्कृते पौषधविधिप्रकरणे श्राद्धानां पौषधमध्ये जेमनाक्षरदर्शनात् कल्याणकस्तोत्रे च श्रीवीरस्य पञ्चकल्याणक-प्रतिपादनाच्च तस्य सामाचारी भिन्ना खरतराणां च भिन्नेति।"

इसकी टिप्पणी करते हुए पं. लालचन्द्र भगवान् गांधी अपभ्रंश काव्यत्रयी की प्रस्तावना में लिखते हैं:—

" किन्त्वेतत् सुदीर्घदृष्ट्या चिन्तने न समीचीनं प्रतिभाति "

देखिये, प्रश्न क्या होता है ? और उसका उत्तर क्या मिलता है ? प्रश्न है, पिण्डविशुद्धिकार जिनवल्लभगणि खरतरगच्छीय हैं या अन्य ? उत्तर है कि, पौषधविधिप्रकरण में पौषध में भोजन का उल्लेख होने से और कल्याणकस्तोत्र में वीरप्रभु के पञ्चकल्याणक कहने से ये भिन्न हैं, तथा इनकी समाचारी भी भिन्न है। मानों, 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानुमती ने कुनबा जोड़ा' नीति चरितार्थ कर रहे हों ! इस प्रश्न में पौषधविधि प्रकरण या कल्याणकस्तोत्र के प्रमाणों की क्या आवश्यकता है ? यह तो कुछ न कुछ उत्तर देना ही उत्तर का लक्ष्य प्रतीत हो रहा है।

सुमतिगणि जहाँ गणधर सार्द्धशतक की वृत्ति में "समग्रगच्छादृत–सूक्ष्मार्थसिद्धान्तविचारसार–षडशीति–सार्द्धशतकाख्यकर्म-ग्रन्थ–पिण्डविशुद्धि–······" कहते हैं, वहीं धनेश्वराचार्य सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धारवृत्ति में 'अभयदेवसूरि शिष्येण मतिमता

जिनवल्लभेन' लिख कर प्रमाणित करते हैं कि सुमतिगणि का लिखना पूर्ण सत्य है, गच्छममत्व से मृषा अत्युक्ति नहीं, तो फिर भ्रम या प्रश्न का अवकाश ही कहाँ ? यह प्रश्न तो इस बात का प्रतिपादन करता है कि 'हम खरतरों के उपजीव्य न हों, क्यों कि पिण्डविशुद्धि का श्रमणपरम्परा की दृष्टि से पढना अत्यावश्यक है। अतः प्रणेता पृथक् हैं बता कर, चक्षुरुन्मीलित कर कुछ क्षणिक शान्ति भले ही उत्तरदाता के अनुयायी प्राप्त कर लें।

पिण्डविशुद्धिदीपिकाकार आचार्य उदयसिंहसूरि, (र. सं. १२९५) जैसे भिन्न गच्छीय प्रौढ विद्वान् भी पिण्डविशुद्धि के प्रणेता का "सुविहितविधिसूत्रधारः" विशेषण बतलाते हैं जो निश्चित रूप से खरतरगच्छीय जिनवल्लभसूरि से ही संबंधित है। क्यों कि सुविहितपथप्रकाशक या विधिमार्गप्ररूपक विशेषण धर्मसागरजी भी प्रवचनपरीक्षा में खरतरगच्छीय जिनवल्लभसूरि के लिये ही स्वीकार करते हैं। अतः प्रकरणकार वे ही हैं यह भलीभांति सिद्ध होता है। देखिये दीपिकाकार के वचनः—

"सुविहितविधिसूत्रधारः, स जयति जिनवल्लभो गणिर्येन। पिण्डविशुद्धिप्रकरण-मकारि चारित्रनृपभवनम् ॥ २ ॥"

जगडु कवि (१२७८-१३३१) स्वप्रणीत सम्यक्त्वमाई चउपई में लिखते हैं:—

"धन्नु सु जिणवल्लहवक्खाणि, नाणरयणकेरी छइ खाणि। बइतालीस सुद्धु पिंडु विहरेइ, त्रिविधु मंदिरु जग प्रगटु करेइ ॥"

खरतरगच्छीय युगप्रवरागम श्रीजिनपतिसूरि के शिष्य श्रीनेमिचन्द्र भंडारी प्रणीत षष्टिशतक प्रकरण के ऊपर तपागच्छीय सुप्रसिद्ध आचार्य श्रीसोमसुन्दरसूरिने बालावबोध[1] की सं. १४९६ में रचना की है। इस ग्रन्थके बालावबोध की प्रारंभिक अव-

[1] यह षष्टिशतकप्रकरण 'त्रण बालावबोध सहित' महाराज सयाजीराव विश्वविद्यालय वडोदरा तरफ से प्रकाशित हुआ है।

तरणिका में ही वे लिखते हैं:—

" नेमिचन्द्र भंडारी पहिलउं तिस्यउ धर्म न जाणतउ। पछइ श्रीजिनवल्लभसूरिना गुण सांभलि अनइ तेहना कीधा पिण्डविशुद्धि प्रमुख ग्रन्थनइं परिचइ साचउ धर्म जाणिउ।"

और इसी प्रकार इसी ग्रन्थके १२९ वें पद्य का बालावबोध करते हुये वे लिखते हैं:—

" दिट्ठा० केतलाइ गुरु साक्षात् दीठाइ हुंता तत्त्वना जाणनइं मनि रमइ नहीं, हीयइ हर्ष न करइ। केवि० अनइ केतलाइ पुण गुरु अणदीठाइ हुंता हींइ रमइं वसइं, तेहना गुण सांभलि नइ हीइ हर्ष उपजइ। जिम श्रीजिनवल्लभसूरि। ते जिनवल्लभसूरि नेमिचन्द्र भंडारीथी पहिला हुआ भणी अदृष्टइ हूंता पण नेमिचन्द्र भंडारीनइ मनि तेहना कीधा पिण्डविशुद्धि आदिक प्रकरण देखतां वस्या। इसिउ भाव।"

जेसलमेर के सं. १४९७ में प्रतिष्ठित संभवनाथ जिनालय के प्रशस्ति शिलालेख में लिखा है:—

" ततः क्रमेण श्रीजिनचन्द्रसूरि–नवाङ्गीवृत्तिकार–श्रीस्तम्भनपार्श्वनाथप्रकटीकार–श्रीअभयदेवसूरिशिष्य–श्रीपिण्ड-विशुद्ध्यादिप्रकरणकारश्रीजिनवल्लभसूरि······"

और यदि विचार करें कि पिण्डविशुद्धिकार पृथक् हैं? तो फिर वे कौन थे? किस गच्छ के थे? इत्यादि अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनका समाधान करने के लिये किसी भी प्रकार का कोई भी प्रमाण नहीं है। तत्कालीन तीन चार शताब्दियों में खरतर गणि जिनवल्लभ के अतिरिक्त कोई आचार्य की उपलब्धि ही जैन–साहित्य में नहीं होती है जो पिण्डविशुद्धिकार हो सके और खरतर-

गच्छीय गुरुपरम्पराओं के अतिरिक्त इनके संबंध में कोई उल्लेख भी नहीं मिलता। अतः यह सिद्ध है कि पिण्डविशुद्धिकार जिनवल्लभगणि कोई पृथक् आचार्य नहीं है किन्तु अभयदेवाचार्य के शिष्य खरतरगच्छीय ही हैं, तथा इनके सिद्धान्त भी सर्वमान्य हैं।

पिण्डविशुद्धिप्रकरण।

आत्मसाधना की दृष्टि से पिण्ड-भोजन की शुद्धि होना अत्यावश्यक है, अन्यथा 'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन्न' की उक्ति के अनुसार मानसिक शुद्धि नहीं हो सकती। इसीलिये श्रमण संस्कृति एवं श्रमण परम्परा में संयमी मुनियों का यह प्रमुख अंग माना गया है। पूर्व में श्रुतधर श्रीशय्यंभवसूरिने दशवैकालिक सूत्र में और आचार्य भद्रबाहुस्वामीने पिण्डनिर्युक्ति में इस विषयका बहुत ही विस्तृत और सुन्दर पद्धति से प्रतिपादन किया है। परन्तु वह विस्तृत होने के कारण कण्ठस्थ करने में अल्प बुद्धिवालों की असमर्थता देख कर आचार्य जिनवल्लभसूरिने पिण्डविशुद्धि नाम से इस प्रकरण की स्वतन्त्र रचना की।

इस प्रकरण में कुल १०३ पद्य हैं। १-१०२ तक आर्या छन्द में हैं और अन्तिम पद्य शार्दूलविक्रीडितवृत्त में। इस में ग्रन्थकारने प्रथम और द्वितीय पद्य में नमस्कार और प्रयोजन कथन कर, ३-४ पद्य में गृहस्थाश्रित उत्पादन के १६ दोषों का नामोल्लेख मात्र किया है और ५ से ५७ तक इनका विस्तृत विवेचन किया है। पद्य ५८-५९ में साधु आश्रित उद्गम के १६ दोषों का नामोल्लेख है और ६० से ७६ तक इनका विस्तृत विवेचन है। इस प्रकार कुल गवेषणा और एषणा के मिला कर ३२ दोषों का वर्णन यहाँ पूर्ण होता है। तदनन्तर ग्रहणैषणा के १० दोषों का ७७ वें पद्य में उल्लेख कर ७८-९३ तक इनका विस्तृत प्रतिपादन किया है। पश्चात् ९४ वें पद्य में भक्षण-ग्रासैषणा के ५ दोषों का उल्लेख और १०१ तक उनका विवेचन है।

१०२ वें पद्य में शुद्धि का निर्जरा फल और अन्तिम पद्य में ग्रन्थकार का नामोल्लेख है। इस प्रकार भोजनशुद्धि के ४७ दोषों का अनेक भांगों सहित विवेचन १०३ श्लोक के छोटे से प्रकरण में वह भी आर्या जैसे लघुमात्रिक छन्द में ग्रथित करना गणिजी का उक्तिलाघव और छन्दयोजना का चातुर्य प्रकट करता है। उक्त प्रकरण में प्ररूपित ४७ दोष निम्नलिखित हैं:—

गृहस्थाश्रित उत्पादन के १६ दोष–१ आधाकर्मिक, २ औद्देशिक, ३ पूतिकर्म, ४ मिश्रजात, ५ स्थापना, ६ प्राभृतिक, ७ प्रादुष्करण, ८ क्रीत, ९ प्रामित्य, १० परिवर्तित, ११ अभिहृत, १२ उद्‌भिन्न, १३ मालोपहृत, १४ अच्छेद्य, १५ अनिसृष्ट और १६ अध्यवपूरक.

साधु आश्रित उद्‌गम (संपादन) के १६ दोष–१ धात्री, २ दूती, ३ निमित्त, ४ आजीव, ५ वनीपकत्वकरण, ६ चिकित्सा, ७ क्रोध, ८ मान, ९ माया, १० लोभ, ११ पूर्व पश्चात्संस्तव, १२ विद्याप्रयोग, १३ मन्त्रप्रयोग, १४ चूर्णप्रयोग, १५ योग और १६ मूलकर्म।

ग्रहणैषणा के दस दोष—१ शङ्कित, २ म्रक्षित, ३ निक्षिप्त, ४ पिहित, ५ संहृत, ६ दायक, ७ उन्मिश्र, ८ अपरिणत, ९ लिप्त और १० छर्दित।

ग्रासैषणा के पांच दोष—१ संयोजना, २ प्रमाण, ३ अंगार, ४ धूम, ५ अकारण।

टीकायें—

इस प्रकरण की प्रसिद्धि श्रमणसमाज में काफी हुई; इस का पठन–पाठन अत्यधिक वेग से चला, आज भी सैकड़ों हस्तलिखित प्रतियों की उपलब्धि इसके प्रचार का प्रमाण दे रही है। इस पर कई जैन विद्वान् आचार्योंने टीकायें रच कर इसकी प्रामाणिकता सिद्ध की है। वर्तमान में इस पर निम्नलिखित टीकायें प्राप्त हैं:—

१ श्रीचन्द्राचार्यकृत वृत्ति, २ यशोदेवसूरि रचित लघुवृत्ति, ३ उदयसिंहसूरि विरचित दीपिका, ४ अजितदेवसूरि गुंफित दीपिका, ५ संवेगदेवगणि लिखित बालावबोध, ६ ? अज्ञात कर्त्तृक अवचूरि।

प्रस्तुत संस्करण यशोदेवसूरि कृत लघुवृत्ति एवं उदयसिंहसूरि प्रणीत दीपिका सहित प्रकाश में आ रहा है।

लघुवृत्तिकार–यशोदेवसूरि

चन्द्रकुलीय श्रीवीरगणि के प्रशिष्य श्रीचन्द्रसूरि के आप शिष्य थे। सं. ११७६ में अपने सुयोग्य शिष्य श्रीपार्श्वदेवगणि की सहायता से आपने इसकी रचना पूर्ण की। इस का संशोधन आचार्य मुनिचन्द्रसूरिने किया। जैसा कि प्रशस्ति में कहा गया है:—

आसीच्चन्द्रकुलोद्भतिः शमनिधिः सौम्याकृतिः सन्मतिः, संलीनः प्रतिवासरं निलयगो वर्षासु सुध्यानधीः।
हेमन्ते शिशिरे च शार्वरहिमं सोढुं कृतोर्ध्वस्थिति–र्भास्वच्चण्डकरे निदाघसमये चाऽऽतापनाकारकः ॥ १ ॥
आदेयतातपस्त्याग–व्याख्यातृत्वादिसद्गुणैः। लोकोत्तरैर्विशालश्च, श्रीमद्वीरगणिप्रभुः ॥ २ ॥ [युग्मम्]
श्रीचन्द्रसूरिनामा, शिष्योऽभूत्तस्य भारतीमधुरः। आनन्दितभव्यजनः, शंसितसंशुद्धसिद्धान्तः ॥ ३ ॥
तस्यान्तेवासिना दृब्धा, श्रीयशोदेवसूरिणा। सुशिष्यपार्श्वदेवस्य, साहाय्यात् प्रस्तुता वृत्तिः ॥ ४ ॥

* * *

पिण्डविशुद्धिप्रकरण–वृत्तिं कृत्वा यदवाप्तं मया कुशलम्। तेनाऽऽभवमपि भूयाद्, भगवद्वचने ममाऽभ्यासः ॥ ६ ॥

१ विजयदानसूरि जैन ग्रन्थमाला, सुरत से प्रकाशित।

श्रुतहेमनिकषपट्टैः, श्रीमन्मुनिचन्द्रसूरिभिः पूज्यैः। संशोधितेयमखिला, प्रयत्नतः शेषविबुधैश्च ॥ ७ ॥

टीका को देखते हुए यह मालूम होता है कि व्याख्याकार ‘ मूले इन्द्र बिडौजा टीका ’ के चक्र में नहीं फंसे हैं और न इसका व्यर्थ में कलेवर ही बढाया है, किन्तु ग्रन्थकार के आशय को विशदता और सरसता के साथ बहुत ही सुन्दर पद्धति से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। भाषा भी आप की दूरुह न होकर सरल होते हुए भी प्रवाहपूर्ण एवं परिमार्जित है। साथ ही इसकी एक यह भी विशेषता है कि विषय को रोचक बनाने के लिये प्रसंग–प्रसंग पर अनेक उदाहरण भी दिये गये हैं। उदाहरण बृहद्वृत्ति की तरह विस्तृत न हो कर संक्षेप में ही हैं, पर जो हैं वे भी प्राकृत आर्याओं में। इससे स्पष्ट है कि आप का प्राकृत भाषा पर भी अच्छा अधिकार था। यह वृत्ति लघु होते हुए भी अपने में पूर्ण है।

आपके प्रणीत और भी ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, जिनकी सूचि निम्न प्रकार है:—

आपने सं. ११७२ में हारिभद्रीय पंचाशक प्रकरण पर चूर्णि, सं. ११७४ में इर्यापथिकी, चैत्यवन्दन और वन्दनक पर चूर्णियें, ११७८ में पाटण में सिद्धराज जयसिंह के राज्य में सोनी नेमिचन्द्रकी पौषधशाला में निवास करते हुए पाक्षिक सूत्र पर सुखावबोधा नाम की टीका और सं. ११८२ में रचित प्रत्याख्यान स्वरूप की रचना की हैं।

दीपिकाकार–उदयसिंहसूरि

चन्द्रकुलीय आगमज्ञ श्रीश्रीप्रभसूरि (धर्मविधिप्रकरणकार) के प्रशिष्य श्रीमाणिक्यप्रभसूरि (कच्छूली के पार्श्वचैत्य के प्रतिष्ठाकार) के शिष्य श्रीउदयसिंहसूरिने आचार्य यशोदेवसूरि की वृत्ति को आदर्श मानकर तदनुसार ही सं. १२९५ में ७०३

श्लोक प्रमाणवाली इस दीपिका की रचना की। जैसा कि प्रशस्ति से स्पष्ट है:—

इति विविधविलसदर्थं, सुविशुद्धाहारमहितसाधुजनम् । श्रीजिनवल्लभरचितं, प्रकरणमेतन्न कस्य मुदे ? ॥ १ ॥
मादृश इह प्रकरणे, महार्थपङ्कौ विवेश बालोऽपि । यद्धस्त्यङ्गुलिलग्न-स्तं श्रयत गुरुं यशोदेवम् ॥ २ ॥
आसीदिह चन्द्रकुले, श्रीश्रीप्रभसूरिरागमधुरीणः । तत्पदकमलमरालः, श्रीमाणिक्यप्रभाचार्यः ॥ ३ ॥
तच्छिष्याणुर्जडधी-रात्मविदे सूरिरुदयसिंहाख्यः । पिण्डविशुद्धेर्वृत्ति-मुदध्रे दीपिकामेनाम् ॥ ४ ॥
अनया पिण्डविशुद्धे-र्दीपिकया साधवः करस्थितया । शस्यावलोककुशला, दोषोत्थतमांस्यपहरन्तु ॥ ५ ॥
विक्रमतो वर्षाणां, पञ्चनवत्यधिकरविमितशतेषु । विहितेयं श्लोकैरिह, सूत्रयुता त्र्यधिकसप्तशती ॥ ६ ॥

× × ×

अन्य बृहद्वृत्तियों, लघुवृत्तियों का आश्रय लेकर इस दीपिका की रचना हुई है। यह संक्षिप्त होते हुए भी वस्तुतः प्रस्तुत प्रकरण के लिये दीपिका सदृश ही है। संक्षिप्त रुचि तज्ज्ञों के लिये यह दीपिका अत्यन्त ही महत्त्व की है। इस की भाषा भी सरल है, संक्षित होने पर भी विषयों का प्रतिपादन इसमें बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है। इस में दीपिकाकारने कथानकों का आश्रय लेकर कलेवर बढाने का प्रयत्न नहीं किया है। उदाहरणों के लिये वृत्तियों का उल्लेख कर दिया है।

उदयसिंहसूरि के सम्बन्ध में देशाइने अपने ' जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास ' में लिखा है :—

" ते उदयसिंहे चड्डावलि (चन्द्रावती) ना राउल धंधलो देवनी समक्ष मन्त्रवादिने मन्त्रथी हराव्यो। तेणे पिण्डविशुद्धि-

विवरण, धर्मविधिवृत्ति अने चैत्यवन्दन दीपिका रची। अने ते सं. १३१३ मां स्वर्गस्थ थया। पछी कमलसूरि, प्रज्ञासूरि, प्रज्ञातिलकसूरि वगेरे थया।" [पृ. ४३४]

प्रस्तुत संस्करण सम्पादन-पद्धतियों से युक्त होने के कारण महत्त्व का है। सम्पादक श्रीगणिवर बुद्धिमुनिजीने इसके सम्पादन में अत्यधिक परिश्रम किया है, और उन्होंने स्थान स्थान पर टिप्पणीयें प्रदान कर इस की महत्ता में भी वृद्धि करदी है इससे इस ग्रन्थ की उपयोगिता और अधिक बढ गइ है।

आश्विनशुक्ला ५, सं. २०१०
कोटा (राजस्थान)

पूज्य श्रीजिनमणिसागरसूरीश्वरान्तेवासि
उपाध्याय विनयसागर
साहित्याचार्य, जैनदर्शनशास्त्री, साहित्यरत्न,
काव्यतीर्थ, काव्यभूषण, शास्त्रविशारद



ॐ नमोऽर्हतेऽविसंवादिने श्रमणाय भगवते महावीरायापश्चिमतीर्थंकराय।

पिण्डविशुद्धेरुपक्रमः।



येनेदं सकलं समूलनिचयं कर्माष्टकं चूर्णितं, दुश्छेद्यं विषमं प्रशान्तकुटिलं नित्यं समुत्पादितम्।
येनेदं चिरकालरूढविटपं ध्यानेन भस्मीकृतं, तं वन्दे परमेश्वरं जितरिपुं देवाधिदेवं जिनम्॥ १ ॥+

वाचंयमो युगवरो जिनचन्द्रसूरिः, सिद्धान्तवृत्तिरचकोऽभयदेवसूरिः।
आर्योत्तमोऽत्र जिनवल्लभसूरिरर्ह–च्छिष्टिप्रपालनवितानपरो विभाति ॥ २ ॥*

जीयासुर्विधिमार्गगाः सुविहिताः श्रीमोहनाख्या मुनि–व्रातैः सेवितशिष्टिकाः खरतरे गच्छे प्रतापोर्जिताः।
पूज्याः सन्मुनिकेशरा जिनयशस्सूरीश्वराः श्रीजिन–र्द्धीशाः श्रीमुनिकेशरा गणिवराः श्रीरत्नसूरीश्वराः॥ ३ ॥*

हंहो विद्वज्जनवरिष्ठा विमर्शप्रवणाः पाठकप्रष्ठाः! समादीयतामाहारादिपिण्डदोषनिरूपणचणत्वेनान्वर्थाभिधानमेतत्पिण्डविशुद्धि-नामकं प्रकरणरत्नं व्याख्याद्वयोपेतं भावत्के करकुड्मले सादरं समर्प्यमाणं। विनिर्मातारश्चास्य कविचक्रचक्रवर्त्तिनः सुगृहीतनामधेयाः सुविहितश्रमणपथप्रद्योतका उज्झितचैत्यवासकल्मषाः नवाङ्गवृत्त्याद्यनल्पग्रन्थसौधसूत्रणसूत्रधारायमाणानां श्रीमतामभयदेवसूरिमिश्राणा-मौपसम्पदिकशिष्याश्चैत्यवासिप्रथितश्रीवीरविभुगर्भापहाराकल्याणकवादनिर्मूलका युगप्रधानप्रवराः श्रीमज्जिनवल्लभसूरिशेखराः।

+ कच्छ माडवी, धर्मनाथप्रासादगतचित्कोषस्य-महाभारत-शान्तिपर्व-ताडपत्रीय-प्रति-पुष्पिकायाम्। * कविशेखरोपाध्यायश्रीमल्लब्धिमुनिवराः

सूरिवराश्चैते कदा कतममिलामण्डलं मण्डयामासुः स्वजनुषा ? केषां शिष्यवरा अभूवन् ? कथं चाभयदेवसूरीणामन्तिके श्रुताध्ययनमकार्षुश्चारित्रोपसम्पदं जगृहुश्च ? इत्याद्यारेकाकदम्बकस्य निरासस्तु साहित्याचार्य–दर्शनशास्त्री–साहित्यरत्न–साहित्यभूषण-शास्त्रविशारदोपाधिधारकोपाध्यायश्रीविनयसागरोपनिबद्धाद्राष्ट्र(हिन्दी)भाषात्मकादस्यैवोपोद्घाताद्विधेयोऽपेतासत्पक्षपातोपनेत्रैस्सहृद-यैरिति नैतद्विषये प्रयतेऽहम् ।

किन्तु यत्कैश्चित्प्रलप्यते, यदुत एतत्पिण्डविशुद्धिप्रकरणविधातारो जिनवल्लभसूरयो न खरतरगच्छीया इति तद्वितथप्रलापमात्र-मेव, यतस्तेषां स्वोक्तिसंवादकमाचार्यविजयसेनसूरिप्रसादित " पिण्डविशुद्धिविधाता जिनवल्लभगणिः खरतरोऽन्यो वा ? इति प्रश्नोऽत्रोत्तरं–जिनवल्लभगणेः खरतरगच्छसम्बन्धित्वं न सम्भाव्यते, यतस्तत्कृते पौषधविधिप्रकरणे श्राद्धानां पौषधमध्ये जेमनाक्षर-दर्शनात्कल्याणकस्तोत्रे च श्रीवीरस्य पञ्चकल्याणकप्रतिपादनाच्च तस्य सामाचारी भिन्ना खरतराणां च भिन्नेति २३ । " (सेन प्र० उ० १, प०–४) एतत्प्रश्नोत्तरादन्यत्र किमपि प्रबलं प्रमाणमस्ति, परं न तदपि प्रमाणत्वेन स्वीकरणार्हं, सर्वग्राह्ययुक्तिप्रमाणविकलत्वा-त्परोत्कर्षासहिष्णुत्वेन यत्तत्प्रलपनप्रायत्वाच्च। अत एव हि गान्धीत्युपपदेन साक्षरवर्यपण्डितश्रीमल्लालचन्द्रभगवानदासेनापभ्रंशकाव्य-त्रय्युपोद्घाते " किन्त्वेतत्सुदीर्घदृष्ट्या चिन्तने न समीचीनं प्रतिभाती"त्युल्लेखं विधाय निराकृतं तस्य प्रामाण्यं सर्वथैव ।

यच्च समानामशीत्यधिके सहस्रे (१०८०) खरतरविरुदप्रदातृभूपश्रीदुर्लभराजा–ऽऽचार्यश्रीजिनेश्वरसूरीणां योगासम्भवे भिन्न-समयस्य हेतुत्वेनोद्घोषणं तदपि स्वस्य ग्रहिलत्वप्रकटनप्रायमेव, यतो न तस्मिन् समये नृपदुर्लभराजस्य सर्वथा जीवितत्वाभाव एवेति साधयितुं शक्यते केनाप्यैतिह्यप्रमाणेन, प्रत्युत रायबहादुर हाथीभाइ देसाइ महोदयलिखित ' गौर्जरीय (गुजरातनो)

इतिहास ' इति नामक पुस्तकाभिप्रायतः स्पष्टतयैव सिद्धत्यशीत्यधिके सहस्रे वैक्रमेऽस्तित्वं पत्तने दुर्लभराजस्य, विशेषजिज्ञासुभिर्विलोक्यः स इतिहासग्रन्थः सं. १९७७ मुद्रितायास्तुर्यावृत्तेः १६१ पृष्ठे ।

एवं च सिद्धं समानामशीत्यधिके सहस्रे सुतरामस्तित्वं दुर्लभराजस्य पत्तने, किन्तु जिनेश्वरसूरीणामस्तित्वं जावालिपुरे ज्ञायतेऽष्टकवृत्तिप्रशस्त्यादिना तस्मिन् समये, परं सम्भाव्यते तद्वर्षाकालापेक्षिकमिति, तथा च शेषकाले नासम्भाव्यं तेषां पत्तनागमनं, एतावता खरतर +विरुदप्राप्तिसमयस्त्वशीत्यधिकं सहस्रं वैक्रमीयोऽसन्दिग्ध एव, परं तपागच्छीयैर्जगच्चन्द्रसूरीणां यावज्जीवाचाम्लतपः-

---

+ पण्डित ज्ञानसागरेणाणहिल्लपुरे लिखिताः खरतर-तपाशब्दव्युत्पत्तयो विद्वज्जनमनोविनोदायात्रोद्धृयते—

" शाब्दिकविशिष्टाः 'खरतरा' इति शब्दस्य युक्तियुक्तां नानाविधां एवंविधां व्युत्पत्तिं विदधते । तथाहि-अतिशयेन 'खराः' सत्यप्रतिज्ञा ये ते खरतराः १ । यद्वा अतिशयेन 'खराः' अनर्मनिश्छद्मधर्मव्यवहारपटवो ये ते खरतराः । यदुक्तमनेकार्थध्वनिमञ्जर्याम्-" सत्यसन्धः खरो ज्ञेयः, खरोऽपि परुषो मतः । खरो रासभ इत्युक्तो, व्यवहारे पटुः खरः ॥ १ ॥ " इति २ । 'खः' सूर्यस्तद्वद्राजन्ते निष्प्रतिमप्रतिभाप्राग्भारप्रभाभिः प्रतिवादिविद्वज्जनसंसदि ये ते खराः, अत एव तरन्ति भवाब्धिमिति तराः, खराश्च ते तराश्च खरतराः ३ । 'खानि' इन्द्रियाणि 'रः' कामः, तौ 'तस्यन्ति' वशं नयन्ति ये ते खरताः-साधुजनास्तेषां मध्ये राजन्ते-शोभन्ते ये ते खरतराः ४ । " क्वचिड्डः " इति 'ड' प्रत्ययः । 'खं' सुखं भावसमाधिलक्षणं, तस्य 'रो' रक्षणं, तत्तरन्ति-कुर्वन्ति ये ते, धातूनामनेकार्थत्वात्, खरतराः ५ । खादीना ये यतास्तेषां 'रो'भयं, तं तस्यति-विध्वंसयति यः स खरतस्तादृग्विधोऽध्वनिस्सिद्धसु(शु)द्धप्रसिद्धविशुद्धसिद्धान्तसिद्धान्तवचननिर्वचनलक्षणो येषां ते खरतराः ६ । यद्वा 'खं' संवित्, तत्र रतास्तत्पराः खरता-मुनिजनास्तान् 'रान्ति' ददति अर्थात् सम्यग्ज्ञानादि ये ते खरतराः ७ । 'खः' खड्गस्तद्वद्वा-स्तीक्ष्णाः कुमतिमतदारुविदारणे ये ते खराः, तानां-तस्कराणां जिनमतप्रद्वेषदप्यत्कुवादिजनलक्षणानां रा इव-वज्रा इव ये ते तराः, खराश्च ते तराश्च खरतराः ८ । 'खं' स्वर्गं 'रान्ति' ददति अर्थाद्-भक्तजनानां ये ते खराः, अतिशयेन खराः खरतराः ९ । इति । "

करणाद्बाणद्विपभानु(१२८५)वर्षे तपाबिरुदप्राप्तिर्यदुद्घुष्यते तत्खपुष्पवत्सर्वथैवासम्भाव्यं, पाश्चात्यैस्तदनुयायिभिः स्वगच्छस्य कृत्रिमोत्तमत्वोद्भावनार्थं निर्दिश्यमाणानेकविधासत्यैरुद्भावितत्वात्तथाहि—

जगच्चन्द्रसूरीणां निजैरेवान्तिषद्भिः श्रीमद्देवेन्द्रसूरिभिः स्वरचितेषु धर्मरत्नप्रकरणाद्यनेकेषु ग्रन्थेषु न कुत्रापि तपाबिरुदप्राप्तेः सूचनमप्यकारि स्वगुरूणां श्रीमज्जगच्चन्द्रसूरीणां, नैतावन्मात्रमेव, अपितु जगच्चन्द्रसूरीणां गुरुत्वेऽप्यनिर्दिश्य मणिरत्नसूरिं चित्रवालकगच्छीयं देवभद्रोपाध्यायमेव निर्दिष्टवन्तस्ते महानुभावाः । यच्च "क्रमात्प्राप्ततपाचार्ये–त्यभिख्या भिक्षुनायकाः । समभूवन् कुले चान्द्रे, श्रीजगच्चन्द्रसूरयः ॥ ४ ॥" इत्येतत्कर्मग्रन्थवृत्तिप्रशस्तिपद्येन तपाबिरुदप्राप्तिप्रसाधनं जगच्चन्द्रसूरीणां तदपि खरविषाणवदसम्भाव्यमेव, यतोऽस्य पद्यस्य पाश्चात्यैस्तदनुयायिभिः ख्यातिप्राप्तमहापुरुषनाम्ना स्वमतस्य ख्यातिख्यापनाय स्वकपोलकल्पनोल्लिखितत्वसम्भावने न किमप्ययुक्तत्वमुत्पश्यामः । एतावता नहि देवेन्द्रसूरीणां कृतिरेतत्पद्यमिति सण्टङ्कः, धर्मरत्नप्रकरणवृत्त्याद्यनेकास्वपि स्वकृतिष्वेतदर्थसूचनस्याप्यकरणात्तैः । अपि च 'कर्मग्रन्थ' इत्येकस्यैव ग्रन्थस्याध्ययनादिवद्विभागरूपेषु प्रतिप्रकरणेष्वन्ते एतत्पद्यविन्यासकरणमपि कर्त्तुः स्वमतोत्तमत्वप्रत्नत्वादिख्यापनाभिनिवेशमेव व्यनक्ति ।

यत्तु सङ्घाचारोपक्रमे स्तम्भतीर्थशान्तिजिनालयस्थताडपत्रीयचित्कोषगतपञ्चनवत्यधिकद्वादशशताब्दिलिखितत्रिषष्टीयतृतीयपर्व-

---

"तान्–तस्करान् अर्थात् श्रीजैनप्रत्यनीकान् 'पान्ति' रक्षन्तीति क्विप् प्रत्ययः, तपाः १ । यदुक्तं नाममालायां "तकारः कार्थितश्चौरः, क्रोधे पुच्छे प्रकीर्त्तितः ।" इति । तपन्ति दुष्टाष्टकर्मजनितसन्तापमनुभवन्ति ये ते तपाः, तप सन्तापे, पचिनन्दिग्रहादेरयुणिनि इत्यप्रत्यये तपा–इति रूपसिद्धिः २ । यद्वा 'तः' क्रोधः, स एव 'पा' पानं येषा ते तपाः ३ । अथवा 'तं' क्रोध 'पान्ति' रक्षन्ति, न तु निन्दन्ति–प्रतिक्रामन्ति(वा ये)ते तपाः, सदा क्रोधाध्मातचित्तत्वादिति ४ । इति ।"

प्रतिलेखनपुष्पिकायाः "तपाकीयपौषधशालायां × × × तपादेवभद्रगणिः" इत्येतद्वाक्यद्वयेन बाणद्विपभानु (१२८५)–वर्षे तपोत्पत्तिप्रसाधनं तदप्यसमीचीनं, यतस्तदन्यास्त्वनेकास्त्रप्येकाधिकत्रयोदशशताब्दिपर्यवसानेऽपि बीजापुरलिखितप्रतिषु तपेत्यभिधाया अनुपलम्भात्पाश्चात्यैः सागरान्तधर्मकल्पैरामहिकैरनाभोगिकैर्वा कपोलकल्पनयोल्लिखितं सम्भाव्यते, यदि चैतत्पुष्पिकाकथनं सत्यं स्यात्तर्हि कथं देवेन्द्रसूरिभिर्द्वात्रिंशदधिकत्रयोदशशताब्दिगैः क्षेमकीर्त्तिसूरिभिश्चापि नोल्लिखितं ? इति नितरां सम्भाव्यते यत्पाश्चात्यानां सागरान्तधर्मकल्पानां कल्पनाकल्पितोऽयं पुष्पिकापाठोऽपि। किञ्चैतत्पुष्पिकागतेन "तपादेवभद्रगणि"रित्येतद्वाक्येनापि जगच्चन्द्रसूरीणां तपाबिरुदावाप्तिरकर्तृत्वदुष्टीना भवति ।

न च धर्मरत्नप्रकरणवृत्त्यादिकरणानन्तरं तपेति बिरुदस्य प्राप्तत्वात्तत्रानुल्लेखः कर्मग्रन्थवृत्तावुल्लेखश्च विहित इति वाच्यं, यतो देवेन्द्रसूरितोऽपि पाश्चात्यकालभाविश्रीक्षेमकीर्त्तिसूरिभिर्वैक्रमीये द्वात्रिंशदधिके त्रयोदशशते रचितायां बृहत्कल्पटीकायामपि तथैव चित्रवालकगच्छत्वं देवभद्रविनेयत्वमपि च स्फुटमेवोल्लिखितं श्रीजगच्चन्द्रसूरेः, यदि चोपरोक्तपुष्पिकायाः कर्मग्रन्थवृत्तिप्रशस्तिपद्यस्य च कथनमवितथं स्यात्तर्हि कथं क्षेमकीर्त्तिसूरिभिरपि नोल्लिखिता स्वस्य तपेत्यभिख्या ? ।

अन्यच्च " देवभद्रगणीन्द्रोऽपि, संविग्नः सपरिच्छदः । गणेन्द्रं श्रीजगच्चन्द्र–मेव भेजे गुरुं तदा ॥ १०३ ॥ " इति मुनिसुन्दर-सूरीयगुर्वावल्युदन्तमपि स्वसुहृद एव प्रत्ययिष्यन्ति, यत आस्तां दृष्टिपथे श्रुतिपथेऽपि नावतीर्णमेतत्कस्यापि, यच्छुद्धचारित्रोऽपि सपरिच्छदः स्वयं स्वनिश्रया क्रियोद्धारकं गुरुत्वेन भजेत्कोऽपीति सुविमृश्यं धीधनैः ।

किञ्च केनापि वैमनस्याद्यज्ञातकारणवशेन सर्वतः प्राङ्मुनिसुन्दरसूरिणैव विहाय चित्रवालकदेवभद्रीयपरम्परां मणिरत्नसूरि-

परम्परा बाणद्विपभानु(१२८५)वर्षे तपोत्पत्तिश्चोल्लिखिता, यतो मुनिसुन्दरसूरीयगुर्वावलीतः प्राङ्न कस्मिन्नपि ग्रन्थे जगच्चन्द्रसूरिभ्यस्तपा बिरुदप्राप्तिरुपलभ्यते, यैः कैरप्युद्घोषिता जगच्चन्द्रसूरिभ्यस्तपाबिरुदप्राप्तिस्ते सर्वेऽपि मुनिसुन्दरसूरितोऽर्वाक्कालीना एव, तेऽपि न सर्वेऽप्येकवचनाः, तथाहि—

मुनिसुन्दरसूरिप्रभृतयस्तु यावज्जीवाचाम्लकरणात्स्वत एव जगति तपेति ख्यातिमापन्नाः श्रीजगच्चन्द्रसूरय इति जल्पन्ति, तद्यथा—" तदादि बाणद्विपभानु(१२८५)वर्षे, श्रीविक्रमात्प्राप तदीयगच्छः । बृहद्गणाह्वोऽपि तपेति नाम, श्रीवस्तुपालादिभिरर्च्यमानः ॥ ९६ ॥ " यदि च केनापि राणकेन नृपेण वा तपेति बिरुदं दत्तमभविष्यत्तर्हि कथं नोल्लिखितमेभिः ? ।

अन्ये केचन जल्पन्ति, यदुत—आघाटपुरे राणकेन प्रदत्तं तपेति बिरुदं जगच्चन्द्रसूरिभ्यः, परं केन राणकेन प्रदत्तमिति तु अद्य यावन्न कुत्राप्युल्लेखो दृष्टिपथमायातस्तथाप्यद्यकालीना जना यद्वर्त्तमानपत्रेषु नामोल्लेखमपि कुर्वाणा दृश्यन्ते, तत्केन प्रमाणेनेति तु तत्त्वविद एव विदन्ति ।

अन्ये पुनर्वदन्ति मण्डपदुर्गे राज्ञ्या समर्पितं तपेति बिरुदं जगच्चन्द्रसूरिभ्यस्तद्यथा—" एणे आचार्य जावज्जीव आंबिलतप कर्या, बारे वरसे विहार करता मांडवगढने विषे राणी देखी तपाबिरुद दीद्धो, विक्रमात् १२ पंच्यासी वरसे " इति महेशाणा संविग्नश्रमणोपाश्रयचित्कोषस्थायां सं. १८८१ वर्षे खेडग्रामे चन्द्रविजयलिखितायां चतुर्दशपत्रात्मिकायां तपापट्टावल्यामष्टमपत्रे ।

एतद्व्यतिरिक्तं सुरतद्रङ्गे हुकमसुनिचित्कोषस्थैकस्मिन्पत्रे लिखितायां गाथायां " तत्तोमयं देवभद्दाओ " इत्युल्लेखेन देवभद्रोपाध्यायात्तपाबिरुदप्राप्तिराख्याता, न चैतत्कथनेऽनाप्तत्वमाशङ्कनीयं, तपालब्धिसागरसूरिविनिर्मितपृथ्वीचन्द्रचरित्रप्रशस्तिपाठेनाप्ये-

तस्यैवार्थसमर्थनस्योपलभ्यमानत्वात्, तथा चोक्तम्—

“ स्वच्छे श्रीचन्द्रगच्छेऽजनिषत परमाः पाठकाश्चन्द्रशाखा–विख्याता देवभद्रा सुविहितशिरसि स्फारकोटीरतुल्याः ।
आचामाम्लानि कृत्वा सततमभिरतैरागमोक्तक्रियायां, पद्मावत्या प्रदत्तं स्फुटमिह बिरुदं यैर्गृहीतं तपेति ॥ ५१ ॥ ”

अत्र तु देवभद्रायापि तपाबिरुदस्य पद्मावत्या समर्पणमुल्लिखितं, न तु केनापि राणकादिना ।

एवमुक्तप्रकारेण यथा तपापट्टावल्यादीनां पारस्परिकविरोधान्वितत्वेनाण्टसण्टजल्पनं, न तथा खरतरपट्टावल्यादीनां, विहाय च–खरतरविरुदप्रदायकप्रापकौ श्रीमदुर्लभराज–जिनेश्वरसूरी स्थानं चाणहिल्लपुरपत्तनमन्यत्र किमप्युपलभ्यते, अतः प्रायः समस्तानामपि तपापट्टावल्यादीनां कपोलकल्पनामात्रमूलकत्वेन गप्पपुराणकल्पत्वान्न कथमपि सिद्ध्यति तपागच्छीयत्वं श्रीमद्देवेन्द्रसूरीणाम् ।

चेन्मुनिसुन्दरसूरिप्रभृतिविहितकतिचित्पट्टावल्याद्याधारेण स्वीक्रियते देवेन्द्रसूरीणां तेषामेव सतीर्थ्यविनेयत्वेन क्षेमकीर्त्तिसूरीणामपि तपागच्छीयत्वं, तर्हि खरतरगच्छीयपट्टावल्याद्याधारेण स्वयमभयदेवसूर्युल्लिखितगुरुपरम्पराधारेण चाभयदेवसूरीणामपि खरतरगच्छीयत्वस्वीकरणे कथं दुःखयत्युदरं सागरान्तधर्मसङ्काशानां तपागच्छीयानाम् ? ।

एवं च सिद्धेऽभयदेवसूरेः खरतरगच्छीयत्वे सिद्धमेव तेषामौपसम्पदिकशिष्याः श्रीजिनवल्लभसूरय एवास्य प्रकरणरत्नस्य विनिर्मातार इति, किञ्च न तस्मिन्नेव समये, अपितु प्राक्पश्चाच्च द्वित्रिशताब्द्यामप्येतन्नामधेयः समकक्षिकश्च कोऽपि विद्वानभूदिति नेतिहासदृष्ट्याऽवलोक्यते, यमेतत्प्रकरणविधातृत्वेन स्वीकर्त्तु शक्यते ।

यच्च “ जिनवल्लभगणिः षट्कल्याणकाद्युत्सूत्रभाषित्वात्सङ्घाद्बहिष्कृतः ” इत्यादि यत्तत्प्रलपनं तद्भक्षितकनकबीजवदुन्मत्तत्वमेव

व्यनक्ति तत्प्रलापकस्य, यतो नोत्सूत्रं षट्कल्याणकोपदेशनं, किन्तु "गर्भस्य श्रीवर्द्धमानरूपस्य हरणं—त्रिशलाकुक्षौ सङ्क्रामणं गर्भहरणं" इति तपागच्छीयोपाध्यायजयविजयविनिर्मितकल्पदीपिकोक्त्याऽन्वर्थके गर्भापहारे "अकल्याणकभूतस्य गर्भापहारस्य" (कल्पकि०), "करोषि ? श्रीमहावीरे, कथं कल्याणकानि षट्। यत्तेष्वेकमकल्याणं, विप्रनीचकुलत्वतः ॥ १ ॥" (गुरुतत्त्वप्रदीपः), "नीचैर्गोत्रविपाकरूपस्य अतिनिन्द्यस्य आश्चर्यरूपस्य गर्भापहारस्यापि कल्याणकत्वं कथनमनुचितम्।" (कल्पसु०), "गर्भापहारोऽशुभः" (क. सु. टि.) इत्याद्यनेकविधासदुक्तियुक्तिभिरकल्याणकोपदेशनमेवोत्सूत्रं, चैत्यवास्यनुकरणपराद्धर्मसागरात्प्राक्केनाप्यकल्याणकत्वेनाप्रथनात्। धर्मसागरस्त्वनेकविधासत्प्ररूपणाप्ररूपकत्वादप्रतिमकलहकारित्वाच्च स्वगुर्वादिभिरप्यनेकशः सङ्घाद्बहिष्कृत इति सुप्रतीत एवेतिहासविदां, तस्यासत्प्ररूपणा अपि परमतार्किकन्यायाचार्यश्रीयशोविजयोपाध्यायाद्यैरपि प्रतिमाशतक–धर्मपरीक्षाप्रभृतिषु कल्पसुबोधिकादिष्वपि च भूरिशः प्रकटिताः सुप्रसिद्धाः समयविदाम्।

यथा हि धर्मसागरस्योत्सूत्रभाषणं पर्यालोचितं तत्कालीनैस्तपागच्छीयैरेवानेकैर्विद्वज्जनवरिष्ठैस्तथा जिनवल्लभसूरीणां किमपि कथनं तत्समसामयिकानां शासनधुरीणकल्पानां श्रीमद्वादिदेवसूरि–हेमचन्द्रसूरि–द्रोणाचार्यादीनां मध्यान्न केनाप्युत्सूत्रतया पर्यालोचितं, न च सङ्घबहिष्कृतत्वमप्युद्घोषितं धर्मसागरव्यतिरिक्तेनान्येन केनापि सुविहितेन, धर्मसागरस्तु जिनवल्लभसूरेः स्वर्गमनतः साधिकपञ्चशताब्द्यनन्तरभावी, तत एतावद्दीर्घकालमध्येऽनेके विद्वांसोऽभूवन्, विरचिताश्च नैके ग्रन्थास्तैः, परं न केनाप्युद्घोषितं सङ्घबहिष्कृतत्वमेतेषां, अतः स्वगुर्वादिभिरप्यसकृत्सङ्घबहिष्कृतस्योन्मत्ततया यत्तत्प्रलापकस्य च धर्मसागरस्य वचो न प्रमाणक्षमम्।

यच्चाचार्यश्रीमन्मलयगिरिविरचितजीवाभिगम–प्रज्ञापनोपाङ्गवृत्त्योः "तेन यः प्राह–सूत्रे शक्तिविशेष एव संहननमिति, तथा

न तद्ग्रन्थः 'सुत्ते सत्तिविसेसो, संघयण' मिति, स भ्रान्तः, मूलटीकाकारेणापि सूत्रानुयायिना संहननस्यास्थिरचनाविशेषात्मकस्य प्रतिपादितत्वात्, यच्चैकेन्द्रियाणां सेवार्त्तसंहननमन्यत्रोक्तं तट्टीकाकारेण समाहितं–औदारिकशरीरत्वादुपचारत इदमुक्तं द्रष्टव्यं, न-तु तत्त्ववृत्त्येति, यदि पुनः शक्तिविशेषः स्यात्ततो देवानां नैरयिकाणां च संहननमुच्येत, अथ च ते सूत्रे साक्षादसंहननिन उक्ता, इत्यलं उत्सूत्रप्ररूपकविस्पन्दितेषु " इति कथनमुपलभ्यते तदपि विचारं न क्षमते, यतः पूर्वं तावदेतत्कथनं श्रीमन्मलयगिर्याचार्याणा-मस्ति न वेत्यपि नासन्दिग्धं, " सुत्ते सत्तिविसेसो, संघयण " मित्यत्र ग्रन्थेऽस्य वृत्तावपि चैवकारस्य सूचनमात्रेऽप्यसति " तेन यः प्राह–सूत्रे शक्तिविशेष एव संहननमिती"त्यत्र बलात्कारेणैवैवकारस्य कथनात्। यदि च " सुत्ते सत्तिविसेसो, संघयण "-मित्येतद्वाक्येनास्थिरचनाविशेषात्मकस्यासंहननत्वं वक्तुमिष्टमभविष्यत्तर्हि तत्र ग्रन्थे " सुत्ते सत्तिविसेसच्चिय संघयण " मित्येवं वक्तव्यं स्यात्, न चैवमुक्तं, ततः " सुत्ते सत्तिविसेसो, संघयण " मित्यनेनैवकारविकलपाठेन कथं 'सूत्रे शक्तिविशेष एव संहननं' यद्वा 'अस्थिरचनाविशेषात्मकस्य सहननत्वाभाव' इति साधयितुं शक्यते ? न कथमपि, तथा च श्रीमन्मलयगिरिसङ्काशाः समर्थ-टीककत्वेन प्रख्याताः प्रामाणिकाचार्याः कथमेवं नितान्तमसत्यं प्रमाणविकलं च वदेयुः ? न कथमपि । किञ्च–स्वयमपि मलयगिर्याचार्या जिनवल्लभसूरिप्रणीतषडशीतिकावृत्तावेताँच्छिष्टाचार्यत्वेन जल्पन्ति, तथा च तद्ग्रन्थः–" इह हि शिष्टाः क्वचिदिष्टे वस्तुनि प्रवर्तमानाः सन्त इष्टदेवतास्तवाभिधानपुरस्सरमेव प्रवर्त्तन्ते, न चायमाचार्यो न शिष्ट इति " एवं चैकत्र शिष्टाचार्यत्वेनोक्त्वा पुनरन्यत्र तानेवोत्सूत्रप्ररूपकत्वेन कथनरूपविभिन्नवाक्यता सर्वथैवासम्भावनीया तादृशां समर्थप्रामाणिकाचार्याणां, प्रामाणिकत्वे लाञ्छनरूप-त्वात् । अथ चोपलभ्यते चतुर्दशशताब्द्यन्तभागपर्यवसानलिखितास्वपि प्रतिकृतिष्वेष एव पाठः, अतोऽत्र किं तत्त्वमिति तु तत्त्वविद्वेद्यं,

उपक्रमे शक्त्यात्मकसंहननस्य सूत्रोक्तत्वम् ।

परमेतत्तु सुतरां निष्टङ्कितं, यदुत–" सुत्ते सत्तिविसेसो, संघयण"मिति वाक्यं न सूत्रे शक्तिविशेषात्मकसंहनननिषेधकं नापि च 'सूत्रे शक्तिविशेष एव संहनन'मिति ख्यापकमपि, अपितु 'सूत्रे शक्तिविशेषः संहननमस्ती'त्येतावन्मात्रस्यैवार्थस्य द्योतकं, तत्तु जिनवल्लभसूरितोऽपि प्रागनेकैः प्राचीनैः प्रामाणिकैश्चाचार्यपुरन्दरैः स्पष्टतयैव प्रतिपादितमस्ति, तथाहि—

" इह चेत्थम्भूतास्थिसञ्चयोपमितः शक्तिविशेषः संहननमुच्यते, न त्वस्थिसञ्चय एव, देवानामस्थिरहितानामपि प्रथमसंहनन-युक्तत्वात् । " (हारि० आ. वृ० पत्र ३६७–१) स्पष्टमुक्तमत्र ग्रन्थे पूज्यश्रीहरिभद्रसूरिमिश्रैः शक्तिविशेषस्य संहननत्वम् ।

" संहननम्–अस्थिसञ्चयः, वक्ष्यमाणोपमानोपमेयः शक्तिविशेष इत्यन्ये, × × × शक्तिविशेषपक्षे त्वेवंविधदार्वादेरिव दृढत्वं संहननमिति । " (स्थानाङ्ग वृत्ति, अ. ६, प. ३३९, वल्लभवि. मुद्रित)

तथा " दिव्वेणं संघातेणं–दिव्येन स्वर्गसम्बन्धिना प्रधानेनेत्यर्थो, वर्णादिना युक्त इति गम्यते, सङ्घातेन–संहननेन वज्रर्षभना-राचलक्षणेन " (स्था. वृ. अ. ८ प. ३९९, वल्लभवि. मु.)

एवमेव " दिव्वेणं–देवोचितेन 'सं(घयणेणं)घाएणं'ति संहनेन वज्रर्षभनाराचेनेत्यर्थः । " (औपपातिकसूत्रवृत्ति पत्र ५०)

तदेवं निर्दिष्टैः प्रमाणैर्द्वाभ्यामपि सूरिशेखराभ्यां स्पष्टमुररीकृतं शक्तिविशेषः संहननमिति, नैतावन्मात्रमेव, किन्तु " यत्तु प्रागेकेन्द्रियाणां सेवार्त्तसंहननमभ्यधायि तदौदारिकशरीरसम्बन्धमात्रमपेक्ष्यौपचारिकं, देवा अपि यदन्यत्र प्रज्ञापनादौ वज्रर्षभ-नाराचसंहननिन उच्यन्ते तदपि गौणवृत्त्या " इत्यनेन श्रीजीवाभिगमवृत्तिपाठेन स्वयमपि मलयगिर्याचार्याः शक्तिविशेषं संहनन-तया स्वीकुर्वन्ति । एवं च श्रीजिनवल्लभसूरिभ्यः पुरोभाविहरिभद्रसूर्यभयदेवसूरिप्रभृतिभिः सर्वमान्यप्रामाणिकाचार्यैः स्वयं मलयगिर्या-

चार्यैरपि च यदुररीकृत शक्तिविशेषः संहननमिति तर्हि जिनवल्लभसूरेः " सुत्ते सत्तिविसेसो, संघयण " मिति कथनं कथमुत्सूत्रं भवितुमर्हति ? नैव कथमपि ।

एतत्त्वौपचारिकं शक्तिविशेषः संहननं, नतु तत्त्ववृत्त्येति चेत्सत्यं, किन्तु को जल्पति " सुत्ते सत्तिविसेसो, संघयण " मित्य-नेन पाठेनानौपचारिकं तत्त्ववृत्त्या वा शक्तिविशेषः संहननं सूत्रे प्रोक्तमिति ? एवकारस्यात्र सर्वथाऽप्यभावात् ।

एवं च सुतरां सिद्धं, यदुत–" सुत्ते सत्तिविसेसो, संघयण " मिति कथनं नोत्सूत्रम्, तथा च तत्प्रणेतारो जिनवल्लभसूरयोऽपि नोत्सूत्रप्ररूपकाः, असिद्धे च तेषामुत्सूत्रप्ररूपकत्वे दूरापास्तमेव सङ्घाद्बहिष्कृतत्वमपि, तत्समसामायिकैः प्रौढातिप्रौढैरप्याचार्या-दिकैरनुच्चारितत्वात् । यच्च जिनवल्लभसूरेः स्वर्गप्राप्तितः साधिकपञ्चशताब्द्यनन्तरभाविधर्मसागराद्यैर्जल्पितं तत्त्वस्योत्सूत्रप्ररूपकत्वं सङ्घाद्बहिष्कृतत्वं चाच्छादयितुमेव, तत्समसामयिकैरनेकैर्विद्वद्भिः स्वस्वग्रन्थेषु तथाविधतया ख्यापितत्वात्सुप्रतीतमेव सूत्रोत्तीर्णवादित्वं सङ्घबहिष्कृतत्वं चापि तस्य ।

एवं च सामायिकशब्दस्य " सामाइयं नाम सावज्जजोगपरिवज्जणं निरवज्जजोगपडिसेवणं चे "ति शास्त्रीयव्याख्यानमनादृत्य स्वाभिनिवेशपोषणाय " सामाइयं नाम निरवज्जजोगपडिसेवणं सावज्जजोगपरिवज्जणं चे "ति विपरीतव्याख्यानं, अपर्वस्वपि पौषधो-पवासो विधेय एवेत्याग्रहात् " पौषधोपवासातिथिसंविभागौ तु प्रतिनियतदिवसानुष्ठेयौ, न प्रतिदिवसाचरणीयौ " इत्येतत्पाठप्रान्त-वर्त्तिनः " न प्रतिदिवसाचरणीयौ " इत्येतद्वाक्यस्य पर्वदिनेषु नियततया तदन्यघस्रेषु चानियततया पौषधोपवासविधेयतार्थख्यापना-यावश्यकवृत्त्यादिनाम्ना " दिवैव ब्रह्मचारी, न तु रात्रौ " इत्येवंविधस्य स्वकपोलकल्पनाकल्पितपाठस्य परिकल्पनं, अनादितोऽपि

पाक्षिकं चतुर्दश्यामेवेति स्वाभिमतार्थसिद्धये ठाणाप्रकरणवृत्तेः "तवसेण य पक्खियाईणि वि चउद्दसीए आयरियाणि" इत्येतत्पाठगत-"पक्खियाईणी"ति वाक्यस्थाने "चाउम्मासियाणी"त्येवंरूपपाठपरिवर्त्तनं, तथा "गर्भस्य श्रीवर्द्धमानरूपस्य हरणं-त्रिशलाकुक्षौ सङ्क्रामणं गर्भहरणं" इत्येतद्युक्तियुक्तशास्त्रीयार्थव्यञ्जकस्य, न तु हरणमात्रार्थव्यञ्जकस्य, गर्भापहारस्याकल्याणकभूततया अतिनिन्द्याश्चर्यरूपकल्याणकत्वकथनानुचिततया वा व्याकृतिश्चेत्याद्यनेकविधासदुक्तयस्तेषामेवास्यमलङ्कुर्वाणाः शोभन्ते, नतु सूत्रानुसारिणां श्रीमद्धरिभद्राचार्याभयदेवसूरिप्रभृतिव्याख्यातवीरवरश्रीमद्वर्द्धमानजिनत्रिशलाकुक्ष्यागमनरूपतीर्थकरभवानां "कल्लाणफला य जीवाण"-मिति पञ्चाशकोक्तकल्याणकलक्षणोपेतकल्याणकपञ्चकस्थत्रिशलाकुक्षिगर्भाधानलक्षणगर्भापहाराकल्याणकावादिनामित्यलमतिचसूर्या सागरानुकारिप्रेममानादिभिः ।

ग्रन्थोऽयमतीवोपयोगी रत्नत्रयाराधनोद्युक्तानां श्रमणानां श्राद्धानामपि च, यतो न पिण्डविशुद्धिज्ञानमन्तरा सुलभं तदाराधनं, तच्चैदंयुगीनानामल्पमेधाऽऽयुष्काणां सत्त्वानामनेन प्रकरणेनावाप्तुं सुकरं, स्वल्पप्रमाणत्वादस्य । अत एव ह्यनेकैराचार्यादिकैर्वृत्ति-दीपिकाऽवचूर्ण्याद्यैर्नानाभिधानैर्गीर्वाणभाषायां लोकभाषायामपि टबार्थबालावबोधाद्यभिधानैरनेके व्याख्याग्रन्था विरचिताः समुपलभ्यन्ते, तेषु श्रीचन्द्रसूरिप्रणीता वृत्तिः सर्वतोऽधिकपरिमाणा, या प्राङ्मुद्रिता, परं त्रुटितपाठत्वादिना नालं सा सम्यगर्थावबोधाय सर्वेषां, अतोऽल्पमेधसामपि सुखावबोधाय श्रीचन्द्रसूरीणामेवान्तिषद्भिः पाक्षिकसूत्रविवरण-पञ्चाशकचूर्णिप्रभृतिशास्त्रप्रणेतृभिः श्रीमद्यशोदेवसूरिभिः सन्दब्धा नातिविस्तरा लघ्वी क्लिष्टाऽपि वा, ततोऽप्यतिलघ्वी सुस्पष्टार्थबोधिका चापि चान्द्रकुलीन-श्रीप्रभाचार्यान्तेवासिमाणिक्यप्रभसूरिवरविनेयरत्न-श्रीमदुदयसिंहसूरिवरविनिर्मिता दीपिका च, एतद्व्याख्याद्वयोपेतस्यैतत्प्रकरणरत्नस्य प्रकाश-

नेच्छा प्रादुरभून्मुनिनिध्यङ्केन्दु (१९९७)वत्सरे मम, तदैव च मोहमय्यामवाप्तपुण्यपत्तनीयभाण्डारकरइन्स्ट्रीच्यूटाख्यचित्कोषसत्कप्रत्याधारेण कारिता मुद्रणार्हा प्रतिः, तां 'भ' संज्ञत्वेन नियुक्ताऽत्र मया ।

ततः कार्यान्तरव्यग्रत्वादिसंयोगवशात्कतिचिद्वर्षानन्तरमारब्धोऽस्य मुद्रणप्रयासस्तत्र च संशोधनकर्मणि निम्ननिर्दिष्टाः प्रतय उपयुक्ततां नीता मया, पूर्वं तावत्पत्तनीयश्रेष्ठिपाटकस्थचित्कोषसत्कताडपत्रीयप्रतिद्वयाधारेणावलोकिता मुद्रणार्हा प्रतिः, ततो मुद्रणप्रारम्भकाले निर्देक्ष्यमाणं पुस्तकपञ्चकं समासादितं मया, तत्र—

१ 'ह' संज्ञिका प्रतिर्वटपद्रनगरस्थानन्दज्ञानमन्दिरसंस्थापितवयोवृद्धानवरतविहारप्रतिबद्धलक्ष्यश्रीमद्धंसविजयमुनिपुङ्गवशास्त्रसङ्ग्रहसत्का प्राचीना शुद्धप्राया च ।

२ 'क' संज्ञिका, साऽप्युपरोक्तज्ञानमन्दिरावस्थापितानेकत्रीयज्ञानभाण्डागारव्यवस्थितिविधायकप्रवर्त्तकश्रीमत्कान्तिविजयमहाशयशास्त्रसङ्ग्रहसत्का अर्वाचीना नात्यशुद्धा। एतत्प्रतिद्वयमप्यनवरतशास्त्रोद्धारैकबद्धकक्ष साक्षरवर्यश्रीमत्पुण्यविजयमुनिवरानुग्रहादवाप्तम् ।

३ 'य' संज्ञिका, परमपूज्यसुविहितक्रियानिष्ठखरतरगच्छविभूषणमहच्छासनप्रभावकक्रियोद्धारकश्रीमन्मोहनमुनीशविनेयावतंसोग्रतपस्विवर्त्तमानखरतरगणसंविग्नशाखीयाद्याचार्यश्रीजिनयशस्सूरीश्वरभांडागार-योधपुरसत्का नातिप्राचीना नात्यशुद्धा ।

४ 'प' संज्ञिका, पत्तनीयश्रीसङ्घभाण्डागारसत्का, प्रवर्त्तकश्रीमत्कान्तिविजयमुनिवरविनेयविनेयत्रयोवृद्धश्रीजसविजयमुनिमहाशयद्वारा सम्प्राप्ता प्राचीना शुद्धप्राया च ।

५ ‘ अ ’ संज्ञिका, बीकानेरवास्तव्येतिहासतत्त्ववेत्ता श्रीमान् अगरचन्द्रजी नाहटासत्का प्राचीना शुद्धा च ।

दीपिकायास्तु मुद्रणार्हा प्रतिमैथैव संवन्नेत्रनिध्यङ्केन्दु(१९९२)वर्षे मदीयगुरुदेवस्य छत्रछायायां स्थितेन मोहमय्यामनन्तनाथ-जिनालयस्थचित्कोषीयप्रत्याधारेण निर्मिता, ततः परं संशोधनकार्ये निर्देक्ष्यमाणं प्रतिपञ्चकमुपयुक्ततां नीतं मया, तथाहि—

१–२ ‘ ह–क ’ संज्ञिके, एते द्वेऽपि प्रती क्रमशः प्राङ्निर्दिष्टानन्दज्ञानमन्दिरवटपद्रनगरस्थश्रीमद्धंसविजय–कान्तिविजयमुनि-मतल्लिकयोः शास्त्रसङ्ग्रहसत्के प्राचीने शुद्धप्राये श्रीमत्पुण्यविजयमुनिवरानुग्रहात्सम्प्राप्ते ।

३ ‘ म ’ सज्ञिका, मोहमयीस्थमहावीरजिनालयगतश्रीजिनदत्तसूरिज्ञानभाण्डागारसत्का, अर्वाचीना नात्यशुद्धा, मदीयविद्यमाना-चार्यश्रीमज्जिनरत्नसूरिवराणामुपाध्यायश्रीमल्लब्धिमुनिवराणां चानुग्रहादवाप्ता ।

४ ‘ प ’ संज्ञिका, पत्तनीयश्रीसङ्घभाण्डागारसत्का वयोवृद्धश्रीजसविजयमुनिवरानुग्रहात्सम्प्राप्ता ।

५ ‘ अ ’ सञ्ज्ञिका, अगरचन्द्रजी नाहटाद्वारा समासादिता ।

एतेषां सर्वेषामपि पुस्तकप्रेषणेन मामनुगृहीतृमहाशयानां चिरं कृतज्ञोऽस्मि, विशेषतः श्रीमत्पुण्यविजयमुनिमहाशयानां, यैर्लिखन-समनन्तरमेव निस्सङ्कोचतयाऽविलम्बेन च स्वायत्तभाण्डागारीयप्राचीनतमशुद्धप्रतिप्रेषणेनातीव सौहार्दभावो मुहुर्व्यञ्जितः ।

एवं च वृत्तिदीपिकयोर्द्वयोरपि विभिन्नकालीनप्रतिपञ्चकपञ्चकाधारेण सावधानतया विहितेऽपि संशोधनायासेऽत्र निबन्धे याः काश्चन स्खलनास्त्रुटयो वा दृष्टिपथमवतरेयुस्ताः सम्मार्जनीयाः प्रकृतिकृपार्द्रहृदयैर्धीधनैर्मयि कृपां विधायेत्यभ्यर्थनापुरस्सरं—

शान्ताय दान्ताय जितेन्द्रियाय, धीराय वीराय मुनीश्वराय ।
सद्ध्यानज्ञानादिगुणाकराय, भक्त्या नमः श्रीमुनिमोहनाय ॥ १ ॥

इति परमगुरुनमनरूपमङ्गलमाचरंश्च विरमाम्येतदल्पोपक्रमात् ।

वि. सं. २०१० पौष कृ. १० बुधे
कच्छमाण्डवी

लि० अनुयोगाचार्यश्रीकेशरमुनिगणिवरविनेयो-
बुद्धिसागरो गणिः

संवत्खेलानभोयुग्मे, वैक्रमे माण्डवीपुरे । बुद्ध्यब्धिना हि सन्दब्धो, गणिनाऽयमुपक्रमः ॥ १ ॥

ॐ अर्हं नमो जिनाय

नमो नमः श्रीमज्जिनदत्त-कुशल-मोहन-यश -केशरपादपद्मेभ्यः

श्रीमन्मोहन-यशःस्मारकग्रन्थमालायां—

परमसुविहितशिरश्शेखरायमाण-**श्रीमत्खरतरगच्छ**प्रतिष्ठासम्प्रापक-नवाङ्गवृत्तिकारक-सुविहितसूरिपुरन्दर-**श्रीमदभयदेवसूरि**गृहीतोपसम्पच्छिष्य-सुविहित-चक्रचूडामणि-कविचक्रवर्त्ति-**श्रीमज्जिनवल्लभसूरि**शेखरप्रविनिर्मित, परमसुविहित-सुगृहीतनामधेय-**श्रीमद्यशोदेवसूरि**सूत्रितया लघुवृत्त्याख्यया व्याख्यया विभूषितं, श्रीमच्चान्द्रकुलाम्बरनभोमणि-श्रीमन्माणिक्यप्रभाचार्यविनीतविनेय-**श्रीमदुदयसिंहसूरि**सन्दृब्धया दीपिकया सनाथीकृतञ्च

पिण्डविशुद्धि-प्रकरणम् ।

यदुदितलवयोगाद्देहिनः स्युः कृतार्था-स्तमिह शुभनिधानं वर्द्धमानं प्रणम्य ।
स्वपरजनहितार्थं पिण्डशुद्धेर्विधास्ये, जिनपतिमतनीत्या वृत्तिमल्पां सुबोधाम् ॥ १ ॥

तत्र चार्हत्प्रणीतसमयसम्पर्कावदातमतिजलधिर्भगवान् श्रीजिनवल्लभगणिर्दुःषमाकालदोषादत्यन्तं हीयमानायुर्बुद्ध्यादीन् सम्प्रतिकालसाध्वादीनवलोक्य तदनुग्रहार्थं विस्तरवत् पिण्डैषणाध्ययनसारमादाय सङ्क्षिप्ततरं पिण्डविशुद्ध्याख्यप्रकरणं चिकीर्षुरादावेव विघ्नव्रातनिरासार्थं शिष्टसमयपरिपालनार्थं च इष्टदेवतास्तुतिरूपमत्यन्ताव्यभिचारिभावमङ्गलं श्रोतृजनप्रवृत्त्य-

र्थमभिधेयादि च प्रतिपादयन्निमां गाथामाह—

(दीपिकायां मङ्गलाचरणादिः–)

तं नमत श्रीवीरं, यस्माच्चारित्रभूपतिर्जगति । बाह्यान्तरवैरिजयात्, क्षमाधरैः सेव्यतेऽद्यापि ॥ १ ॥
सुविहितसूत्रधारः, स जयति जिनवल्लभो गणिर्येन । पिण्डविशुद्धिप्रकरण–मकारि चारित्रनृपभवनम् ॥ २ ॥
तस्मिन्विवरणदीपं, दीप्रमतिस्नेहभाजनमदाद्यः । सोऽपि परोपकृतिरतः, सूरिर्जीयाद्यशोदेवः ॥ ३ ॥
तद्विवरणप्रदीपा–न्मया पदार्थाभिलाषिणा तत्र । मन्दमतिनेयमात्म–प्रबुद्धये दीपिकोद्ध्रियते ॥ ४ ॥

तत्र विशुद्धसिद्धान्तसुधासारणिः श्रीजिनवल्लभगणिः सङ्क्षिप्तरुचीनामनुग्रहार्थं पिण्डैषणाऽध्ययनसारार्थं सङ्गृह्य यतीनामाहारदोषोद्धरणं पिण्डविशुद्धिप्रकरणं चिकीर्षुरादावेव कृताभीष्टनमस्कारां सूचिताभिधेयादित्रितयसारां गाथामाह—

देविंदविंदवंदिय–पयारविंदेऽभिवंदिय जिणिंदे । वोच्छामि सुविहियहियं, पिंडविसोहिं समासेणं ॥१॥

व्याख्या—' देवा ' भवनपत्यादय ' इन्द्राश्च ' चमरादयो, देवानामिन्द्रा देवेन्द्रास्तेषां 'वृन्दानि' निकुरुम्बाणि देवेन्द्रवृन्दानि, तैर्वन्दितानि–प्रणतानि स्तुतानि च ' पदारविन्दानि ' चरणकमलानि येषां ते देवेन्द्रवृन्दवन्दितपदारविन्दास्तान् जिनेन्द्रानिति योगः। किमित्याह—'अभिवन्द्य' कुशलमनोवाक्कायैः प्रणम्य। 'जिनेन्द्रान्' रागाद्यान्तरदुर्वारवैरिवारविजयाज्जिना-अपगतघनघातिकर्मचतुष्टयाः केवलिनस्ते च सामान्या अपि स्युरतोऽर्हत्परिग्रहार्थमिन्द्रग्रहणं, ततश्च जिनानामिन्द्राः–केवलित्वे सति चतुस्त्रिंशदतिशयरूपपरमैश्वर्यवन्तस्तीर्थङ्करा जिनेन्द्रास्तानित्यनेन मङ्गलमुक्तं, एतच्च स्वर्गापवर्गावन्ध्य-

कारणसम्यग्ज्ञानक्रियाहेतुत्वाच्छ्रेयोभूतेऽस्मिन् प्रकरणे प्रवृत्तौ विघ्नसम्भवात्तदपोहार्थमभिहितमिति । अभिवन्द्य किं कर्तव्यमित्याह-' वोच्छामि 'त्ति ' वक्ष्यामि ' भणिष्यामि पिण्डविशुद्धिमिति योगः । किं विशिष्टामित्याह-सुविहितहितां, शोभनं विहितं अनुष्ठानं येषां ते सुविहिताः-सुसाधवस्तेषां हिता-उपकारित्वात् पथ्या-सुविहितहिता, तां । ' पिंडविसोहिं 'ति पिण्डविशुद्धिं, इह पिण्डः समयसञ्ज्ञयाऽशनादिचतुर्विधाहारः परिगृह्यते, तस्य विशुद्धि-र्विविधरूपैरुद्गमादिभिः प्रकारैः शोधनं पिण्डविशुद्धिस्तां, प्रकरणं चाभिधेयसम्बन्धात्तरङ्गवत्यादिवत्तथोच्यते । अनेन चाभिधेयमभिहितं, तदभिधानाच्चाभिधानाभिधेयलक्षणः सम्बन्धोऽप्युक्तो वेदितव्यः । एवं च सम्बन्धाभिधेयशून्यशास्त्रप्रवृत्तिपरिहारिणां श्रोतॄणामत्र प्रवृत्तिः कृता भवतीति । ननु पूर्वाचार्यैरेव पिण्डनिर्युक्त्यादिग्रन्थेषु साऽभिहितेति किं तया पिष्टपेषणन्यायतुल्ययाऽभिहितया ? इत्याशङ्क्याह—' समासेन ' सङ्क्षेपेण । अयमभिप्रायः-पूर्वाचार्यैर्विस्तरेण सा प्रोक्ता, अहं पुनर्मन्दमतिसत्त्वानुग्रहार्थं सङ्क्षेपेण तां वक्ष्यामीति । अनेन चाचार्यः प्रकरणकरणे आत्मनः प्रयोजनं दर्शयति, यतः प्रयोजनं विना नाज्ञोऽपि क्वापि प्रवर्त्तते । तथा सङ्क्षिप्तप्रकरणस्य सुखेन पठनादयः क्रियन्त इति विस्तीर्णग्रन्थपठनाद्यसमर्थाः शिष्या अत्र प्रवर्तिता भवन्तीति । शिष्यप्रयोजनं तु पिण्डदोषपरिज्ञानादिकं स्वयमभ्यूह्यमिति गाथार्थः ॥ १ ॥

पिण्डविशुद्धिं वक्ष्यामीत्युक्तं । ततश्च यैर्दोषैर्विरहितस्य पिण्डस्य विशुद्धिर्भवति, तान् विवक्षुरिमां प्रस्तावनागाथामाह-

दी०—देवेन्द्रवृन्दवन्दितपादारविन्दान् जिनेन्द्रानभिवन्द्येत्यभीष्टसिद्धिदान्नमस्कृत्य वक्ष्यामि ' सुविहितहितां ' सुसाधूपकारिणीं पिण्डविशुद्धिं, पिण्डोऽत्र समयसंज्ञया चतुर्विधोऽशनाद्याहारस्तस्य विशोधिं-विविधं शोधनमित्यभिधेयं, तस्मादभिधा-

नाभिधेयलक्षणः सम्बन्धोऽप्यूह्यः । ननु पूर्वं पिण्डनिर्युक्त्यादिग्रन्थेष्वपि सा भणिताऽस्ति, किमनयेत्याह–समासेनेति प्रयोजनं, तच्च कालदोषाद्विस्तीर्णशास्त्रपठनाद्यसमर्थसत्त्वानुग्रहादनन्तर–परम्परभेदं ज्ञेयमिति गाथार्थः ॥ १ ॥

अथ जीवानां शिवसुखावाधिपिण्डदोषभणनेनैव प्रस्तावयन्नाह—

जीवा सुहेसिणो तं, सिवम्मि तं संजमेण सो देहे । सो पिंडेण सदोसो, सो पडिकुट्ठो इमे ते य ॥२॥

व्याख्या—'जीवाः' प्राणिनस्ते किमित्याह–' सुखैषिणः ' साताऽभिलाषिणः, उक्तं च—" **सव्वे वि सुक्खकंखी, सव्वे वि हु दुक्खभीरुणो जीवा । सव्वे वि जीवियपिया, सव्वे मरणाउ वीहंति ॥ १ ॥**"त्ति । ' तं ' ति पुनः शब्दार्थस्य गम्यमानत्वात्, तत्पुनः सुखं स्वाभाविकं निरुपममनन्तं च शिव एव–सर्व्वकर्माभावलक्षणमोक्ष एव, यदुक्तं—"**नवि अत्थि माणुसाणं, तं सोक्खं नवि य सव्वदेवाणं । जं सिद्धाणं सोक्खं, अव्वाबाहं उवगयाणं ॥१॥**" संसारि[क]सुखं तु सुखमेव न भवति, विपर्यासरूपत्वात्, दुःखप्रतीकारमात्रस्य सुखबुद्ध्या ग्रहणात् । भणितं च—"**तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभिः, क्षुधार्त्तः सन् शालीन् कवलयति मांसादिफणितान् । प्रदीप्ते रागाग्नौ दहति तनुमाश्लिष्यति वधूं, प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥१॥**" इति । 'तं'ति उक्तन्यायात् तं पुनः शिवं जीवाः प्राप्नुवन्ति, केनेत्याह–संयमेन, " पञ्चाश्रवाद्विरमणं, पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः । दण्डत्रयविरतिश्चेति, संयमः सप्तदशभेदः ॥१॥ " इति शास्त्रान्तर[नन्दीवृत्ति]प्रसिद्धेन " **पुढवि-दग-अगणि-मारुय–वणस्सइ-यि-ति-चउ-पणिंदि ९ अजीवे १० । पेहो ११ प्पेह १२ पमज्जण १३–परिट्ठवण १४ मणो १५ वई १६ काए**

य'त्ति 'दाने' वितरणे गृहस्थस्य ये दोषा यतिसत्कचरणघातादयः स्युस्तान्वक्ष्ये, च शब्दो दोषानुकर्षणार्थः, तथा च वक्ष्यति-'जइणो चरणे'त्यादि ६। तथा 'जहा पुच्छ'त्ति 'यथा' येन प्रकारेण देशाद्यनुचित+भक्तदानादिलक्षणेन 'पृच्छा' प्रश्नः सम्भवति, वक्ष्यति च-'देसाणुचियं बहुदव्व'मित्यादि ७। तथा 'छलण'त्ति 'छलना' साधोर्भिक्षार्थं प्रविष्टस्य तथाविधकारणैरनेषणीयाऽऽशङ्काऽभावादशुद्धभक्तग्रहणरूपा व्यंसना यथा स्यात्, वक्ष्यति च-'थोवंति न पुठ'मित्यादि ८। तथा 'सुद्धी य'त्ति 'शुद्धिः' कथञ्चिदशुद्धपिण्डग्रहणेऽपि निर्दोषता यथा स्यादेतद्विपक्षत्वाच्चाशुद्धिर्यथा स्यात्, च शब्द उक्तसमुच्चये। 'तह वोच्छं'ति। 'तथा'तेन-शुद्धग्रहणपरिणामादिना प्रकारेण 'वक्ष्ये' अभिधास्ये, वक्ष्यति च-'आहाकम्मपरिणओ' इत्यादि ९। इति द्वारगाथा समासार्थः ॥ ८ ॥ सम्प्रत्याद्यद्वारं व्याचिख्यासुराह—

दी०—'तत्' आधाकर्म, पुनर्विशेषोक्तौ, यद्भक्तादि १, यस्य कृते कृतं स्यात् २, यथा-यैः प्रकारैः ३, यादृशं-यत्तुल्यं ४, अशने च तस्य ये दोषाः ५, दाने दातुश्च ये [दोषाः] ६, यथा पृच्छा-बाह्याचरणदर्शनात्प्रश्नः ७, छलना अनेषणीयाशङ्काऽभावादशुद्धग्रहणे ८, शुद्धिश्च-सदोषपिण्डग्रहणेऽपि निर्दोषता ९, तथा वक्ष्ये इति गाथार्थः ॥ ८ ॥ अथाद्यद्वारमाह—

असणाइचउब्भेयं, आहाकम्ममिह बेंति आहारं। पढमं चिय जइजोग्गं, कीरंतं निट्ठियं च तहिं ॥९॥

व्याख्या—'असणाइचउब्भेयं' ति 'अशनं' भोजनं 'आदिः' प्रथमं येषां पानखादिमस्वादिमानां ते तथा,

+ "०तदानादिभक्तलक्षणेन" अ. य.। "तदानादिलक्षणेन" ह. क. प.।

चिनोति–अनुभाग-निधत्तरूपाभ्यां, उपचिनोति–प्रदेश-निकाचनारूपाभ्यां, कः ? कार्मिकभोजी साधुः, भोजीति तच्छीलार्थ इन् कारणे तद्धोक्तृनिरासार्थः। किमिदं स्वमनीषिकयोच्यते ? ×इत्याह–यद्भणितं सुधर्मस्वामिना 'भगवत्यां' पञ्चमाङ्गे स्फुटं, आलापकार्थ एवात्रोक्त इति गाथार्थः। एवमात्मनः कर्मबन्धादात्मकर्म ॥ ७ ॥

उक्तो नामचतुष्टयार्थः, साम्प्रतं तदेव नवभिर्द्वारैर्विशेषेणाह—

तं पुण [1]जं [2]जस्स [3]जहा, [4]जारिसं [5]असणे य तस्स जे दोसा। [6]दाणे य जहा पुच्छा, छलणा सुद्धी य तह वोच्छं ॥८॥

व्याख्या—तदाधाकर्म्म, पुनः शब्दो विशेषणार्थः, यत्किञ्चिदशनादिकमुच्यते, तदहं वक्ष्ये इति गाथाऽन्त्यक्रियया योगः, एवमन्यत्रापि, वक्ष्यति च–'असणाइचउब्भेय'मित्यादि १। तथा यस्य निमित्तं कृतं तत्स्यात्तं वक्ष्ये, वक्ष्यति च–'साहम्मियस्से'त्यादि २। तथा 'जह'त्ति यथा–यैः प्रकारैः प्रतिषेवणादिभिस्तत्स्याचान्वक्ष्ये, वक्ष्यति च–'पडिसेवणे'त्यादि ३। तथा 'यादृशं' यस्य वस्तुनस्तुल्यं तत्स्यात्, भणिष्यति च–'वंतुच्चारसुरे'त्यादि ४। तथा 'अशने' भोजने तस्याधाकर्म्मदोषवतः पिण्डस्य येऽतिक्रमादयो दोषाः स्युः, वक्ष्यति च–'कम्मग्गहणे'त्यादि ५। तथा 'दाणे

कश्चिद्दिनमेकं कश्चिद्द्वयं कश्चित्त्रयं, अनुभावेन-स्निग्धमधुरत्वलक्षणेन कश्चिदेकगुणानुभावः कश्चिद्द्विगुणानुभावः कश्चित्त्रिगुणानुभावः, प्रदेशैः–कणिकादिद्रव्यरूपैः कश्चिदेकप्रसृतिप्रमाणः कश्चिद्द्विप्रसृतिप्रमाण अपरस्त्रिप्रसृतिप्रमाणः, एवं कर्मापि किञ्चिज्ज्ञानमावृणोति किञ्चिद्दर्शनं किञ्चित्सुखदुःखे जनयतीति। × "स्वमनीषिकया ? इत्याह" क. अ. प. म.।

यत्वादाधाकर्म्मभोजित्वस्य च योगरूपत्वादिति। तथा 'आउयं चे'त्यादि, आयुः पुनः कर्म्म, स्यात्-कदाचिद्बध्नाति स्यान्न बध्नाति, यस्मात् त्रिभागाद्यवशेषायुषः परभवायुः प्रकुर्वन्ति, तेन यदा त्रिभागादिस्तदा बध्नाति, अन्यदा न बध्नातीति। तथा 'असाये'त्यादि, असातावेदनीयं च-दुःखवेदनीयं कर्म्म पुनः 'भूयोभूयः' पुनःपुनः 'उपचिनोति' उपचितं करोति। ननु कर्म्मसप्तकान्तर्वर्त्तित्वादसातावेदनीयस्य पूर्वोक्तविशेषणेभ्य एव तदुपचयप्रतिपत्तेः किं* तद्ग्रहणेन ? इत्यत्रोच्यते-आधाकर्म्मभोजी अत्यन्तं दुःखितो भवतीति प्रतिपादनेन भयजननादाधाकर्म्मभोजित्वनिरासार्थमिदमित्यदुष्टमिति। 'अणाइयं'ति अविद्यमानादिकं 'अणवयग्गं'ति 'अवयग्ग'त्ति देशीवचनो अन्तवाचकस्ततस्तन्निषेधात् 'अणवयग्गं' अनन्तमित्यर्थः। अतएव 'दीहमद्धं'ति 'दीर्घाद्धं' प्रभूतकालं 'चाउरंतं'ति चतुरन्तं-देवादिगतिभेदाच्चतुर्विभागं, तदेव स्वार्थिक+प्रत्ययोपादानाच्चातुरन्तं 'संसारकान्तारं' भवारण्यं 'अणुपरियट्टइ'त्ति पुनःपुनर्भ्रमति। 'आयाए'त्ति आत्मना 'धर्म्मं' चारित्रधर्म्मं श्रुतधर्म्मं वा। 'पुढविकायं नावकंखइ'त्ति पृथ्वीकायं नापेक्षते-नानुकम्पत इत्यर्थ इति। एवं चानेन गाथासूत्रेणात्मनः कर्म्मबन्धाभिधानादात्मकर्म्मेत्यभिहितमिति गाथार्थः ॥ ७ ॥

एवं तावन्नामान्वर्थप्रतिपादनद्वारेण प्रथमदोषं व्याख्याय साम्प्रतं तमेव विशेषतो व्याचिख्यासुरिमां द्वारगाथामाह—

दी०—अष्टावपि कर्माणि ज्ञानावरणादीनि 'अधो' नरके बध्नाति ×प्रकृति-स्पृष्टरूपाभ्यां, प्रकरोति-स्थिति-बद्धरूपाभ्यां,

* "किमेतद्ग्र०" अ. य. । + "इकण्" इति पर्यायो अ. पुस्तके । "स्वार्थेऽण्" भां० ।

× प्रकृत्यादिस्वरूपं मोदकदृष्टान्तेन ज्ञातव्यं, यथा-प्रकृत्या कश्चिन्मोदको वातं हरति कश्चित्पित्तं कश्चिच्च श्लेष्माणं, स्थित्या

जाव तसकायं नावकंखइ । जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरयाइं आहारमाहारेइ ते वि जीवे नावकंखइ, से एणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ–आहाकम्मं णं भुंजमाणे जाव अणुपरिअट्टइ"त्ति । इदं च सुगमं, नवरं–' आउयवज्जाओ 'त्ति । यस्मादेकत्र भवग्रहणे सकृदेवान्तर्मुहूर्त्तमात्रकाल एवायुषो बन्धस्तत उक्तमायुर्वर्जा इति । ' सिढिलबंधणबद्धाओ 'त्ति श्लथबन्धनं–स्पृष्टता वा बद्धता वा निधत्तता वा, तेन ' बद्धा ' आत्मप्रदेशेषु सम्बन्धिताः, पूर्वावस्थायामशुभतरपरिणामस्य कथञ्चिदभावात् शिथिलबन्धनबद्धा, एताश्चाशुभा एव द्रष्टव्याः, आधाकर्म्मभोजिनिर्ग्रन्थस्य निन्दाप्रस्तावात् । ताः किमित्याह–' धणियबंधणबद्धाओ पकरेति 'त्ति गाढतरबन्धनबद्धा–बद्धावस्था वा निधत्तावस्था वा निकाचितावस्था वा प्रकरोति । प्रशब्दस्यादिकर्म्मार्थत्वात् सकृदाधाकर्म्मभोजनेऽपि कर्त्तुमारभते, आधाकर्म्मभोजित्वस्याशुभयोगरूपत्वेन गाढतरप्रकृतिबन्धनहेतुत्वात्, आह च–' जोगा※ पयडिपएसं 'ति, पौनःपुन्यसम्भवे तु तस्य ताः करोत्येवेति । तथा ह्रस्वकालस्थितिकाः दीर्घकालस्थितिकाः प्रकरोति, तत्र स्थितिः–उपात्तकर्म्मणोऽवस्थानं, तामल्पकालां महतीं करोतीत्यर्थः, आधाकर्म्मभोजित्वस्य लौल्यनिमित्तत्वात् तस्य च कषायरूपतया स्थितिबन्धहेतुत्वात्, आह च–' ठिई अणुभागं, कसायओ कुणइ 'त्ति । तथा मन्देत्यादि, इहानुभावो–विपाको रसविशेष इत्यर्थः, ततश्च मन्दानुभावाः–परिपेलवरसाः सती तीव्रानुभावा–गाढतररसाः प्रकरोति, आधाकर्म्मभोजित्वस्य कषायरूपत्वादनुभागबन्धस्य च कषायप्रत्ययत्वा×दिति । तथा ' अप्पपएसे 'त्यादि ' अल्पं ' स्तोकं ' प्रदेशाग्रं ' कर्म्मदलिकपरिमाणं यासां तास्तथा, ता बहुप्रदेशाग्राः प्रकरोति, प्रदेशबन्धस्यापि योगप्रत्य-

※ " योगात् प्रकृति-प्रदेशबन्धौ भवतः " × " निमित्तत्वात् " इति अ. प्रतिकृतौ पर्यायौ ।

अल्पबहुप्रदेशनिष्पन्नं स्यादिति । स्पृष्टादिस्वरूपं पुनरेवं–किल किञ्चित् कर्म्म जीवप्रदेशैः स्पृष्टमात्रं स्यात्तच्च कालान्तरस्थितिमप्राप्यैव विघटते, शुष्ककुड्यापतितशुष्कचूर्णमुष्टिवत् । किञ्चित्पुनः स्पृष्टं बद्धं च स्यात्तच्च कालान्तरेण विघटते, आर्द्रकुड्यापतितशुष्कचूर्णमुष्टिवत् । किञ्चित्पुनः स्पृष्टं बद्धं निधत्तं च स्यात्तच्च बहुतरकालेन विघटते, आर्द्रकुड्यापतितसस्नेहचूर्णपिण्डवत् । किञ्चित्पुनः स्पृष्टं बद्धं निधत्तं निकाचितं च स्यात्तच्च जीवेन सहैकत्वमापन्नं कालान्तरेण वेद्यत इति । किंविशिष्टः साधुरित्याह–' कंमियभोइ 'त्ति कार्मिकभोजी–लौल्यनिःशूकत्वाभ्यामाधाकर्म्माभ्यवहरणशीलः । अत्र च शीलार्थप्रत्ययोपादानं कारणानाभोगतद्भोक्तृनिरासार्थं, साधुर्मुनिरिति योजितमेव । ननु कथमिदमवसीयते ? यदुतोक्तविशेषणः साधुरष्टापि कर्माणि बध्नातीत्यादि, एतदाशङ्क्याह–' जं भणिय 'मित्यादि, यद्यस्मात्कारणा'द्भणितं' प्रतिपादितं, सुधर्मस्वामिनेति गम्यते, क्व ? भगवत्यां–विवाहप्रज्ञप्तौ [प्रथमे शते नवमोद्देशके], किमर्थापत्त्यादिना ? नेत्याह–' स्फुटं ' प्रकटं, तथा च तत्सूत्रं–" आहाकम्मं णं भुंजमाणे समणे निग्गंथे किं बंधइ ? किं पकरेइ ? किं चिणइ ? किं उवचिणइ ? । गोयमा ! आहाकम्मं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपयडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ, हस्सकालठिईयाओ दीहकालठिईयाओ पकरेइ, मंदाणुभावाओ तिव्वाणुभावाओ पकरेइ, अप्पपएसग्गाओ बहुपएसग्गाओ पकरेइ, आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ सिय नो बंधइ, आसायावेयणिज्जं च कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणइ, अणाइयं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टइ । से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? आहाकम्मं णं भुंजमाणे जाव अणुपरिअट्टइ, गोयमा ! आहाकम्मं भुंजमाणे आयाए धम्मं अइक्कमइ, आयाए धम्मं अइक्कममाणे पुढविकायं नावकंखइ ५,

जाव तसकायं नावकंखइ । जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरयाइं आहारमाहारेइ ते वि जीवे नावकंखइ, से एणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ–आहाकम्मं णं भुंजमाणे जाव अणुपरिअट्टइ"त्ति । इदं च सुगमं, नवरं–' आउयवज्जाओ 'त्ति । यस्मादेकत्र भवग्रहणे सकृदेवान्तर्मुहूर्त्तमात्रकाल एवायुषो बन्धस्तत उक्तमायुर्वर्जा इति । ' सिढिलबंधणबद्धाओ 'त्ति श्लथबन्धनं–स्पृष्टता वा बद्धता वा निधत्तता वा, तेन ' बद्धा ' आत्मप्रदेशेषु सम्बन्धिताः, पूर्वावस्थायामशुभतरपरिणामस्य कथञ्चिदभावात् शिथिलबन्धनबद्धा, एताश्चाशुभा एव द्रष्टव्याः, आधाकर्म्मभोजिनिर्ग्रन्थस्य निन्दाप्रस्तावात् । ताः किमित्याह–' धणियबंधणबद्धाओ पकरेति 'त्ति गाढतरबन्धनबद्धा–बद्धावस्था वा निधत्तावस्था वा निकाचितावस्था वा प्रकरोति । प्रशब्दस्यादिकर्म्मार्थत्वात् सकृदाधाकर्म्मभोजनेऽपि कर्त्तुमारभते, आधाकर्म्मभोजित्वस्याशुभयोगरूपत्वेन गाढतरप्रकृतिबन्धनहेतुत्वात्, आह च–' जोगा* पयडिपएसं 'ति, पौनःपुन्यसम्भवे तु तस्य ताः करोत्येवेति । तथा ह्रस्वकालस्थितिकाः दीर्घकालस्थितिकाः प्रकरोति, तत्र स्थितिः–उपात्तकर्म्मणोऽवस्थानं, तामल्पकालां महतीं करोतीत्यर्थः, आधाकर्म्मभोजित्वस्य लौल्यनिमित्तत्वात् तस्य च कषायरूपतया स्थितिबन्धहेतुत्वात्, आह च–' ठिई अणुभागं, कसायओ कुणइ 'त्ति । तथा मन्देत्यादि, इहानुभावो–विपाको रसविशेष इत्यर्थः, ततश्च मन्दानुभावाः–परिपेलवरसाः सती तीव्रानुभावा–गाढतररसाः प्रकरोति, आधाकर्म्मभोजित्वस्य कषायरूपत्वादनुभागबन्धस्य च कषायप्रत्ययत्वा×दिति । तथा ' अप्पपएसे 'त्यादि ' अल्पं ' स्तोकं ' प्रदेशाग्रं ' कर्म्मदलिकपरिमाणं यासां तास्तथा, ता बहुप्रदेशाग्राः प्रकरोति, प्रदेशबन्धस्यापि योगप्रत्य-

* " योगात् प्रकृति-प्रदेशबन्धौ भवतः " × " निमित्तत्वात् " इति अ, प्रतिकृतौ पर्यायौ ।

अल्पबहुप्रदेशनिष्पन्नं स्यादिति । स्पृष्टादिस्वरूपं पुनरेवं–किल किञ्चित् कर्म्म जीवप्रदेशैः स्पृष्टमात्रं स्यात्तच्च कालान्तरस्थितिमप्राप्यैव विघटते, शुष्ककुड्यापतितशुष्कचूर्णमुष्टिवत् । किञ्चित्पुनः स्पृष्टं बद्धं च स्यात्तच्च कालान्तरेण विघटते, आर्द्रकुड्यापतितशुष्कचूर्णमुष्टिवत् । किञ्चित्पुनः स्पृष्टं बद्धं निधत्तं च स्यात्तच्च बहुतरकालेन विघटते, आर्द्रकुड्यापतितसस्नेहचूर्णपिण्डवत् । किञ्चित्पुनः स्पृष्टं बद्धं निधत्तं निकाचित्तं च स्यात्तच्च जीवेन सहैकत्वमापन्नं कालान्तरेण वेद्यत इति । किंविशिष्टः साधुरित्याह–' कंमियभोइ 'त्ति कार्मिकभोजी–लौल्यनिःशूकत्वाभ्यामाधाकर्म्माभ्यवहरणशीलः । अत्र च शीलार्थप्रत्ययोपादानं कारणानाभोगतद्भोक्तृनिरासार्थं, साधुर्मुनिरिति योजितमेव । ननु कथमिदमवसीयते ? यदुतोक्तविशेषणः साधुरष्टापि कर्माणि बध्नातीत्यादि, एतदाशङ्क्याह–' जं भणिय 'मित्यादि, यद्यस्मात्कारणा'द्भणितं' प्रतिपादितं, सुधर्मस्वामिनेति गम्यते, क्व ? भगवत्यां–विवाहप्रज्ञप्तौ [प्रथमे शते नवमोद्देशके], किमर्थापत्त्यादिना ? नेत्याह–' स्फुटं ' प्रकटं, तथा च तत्सूत्रं–" आहाकम्मं णं भुंजमाणे समणे निग्गंथे किं बंधइ ? किं पकरेइ ? किं चिणइ ? किं उवचिणइ ? । गोयमा ! आहाकम्मं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपयडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ, हस्सकालठिईयाओ दीहकालठिईयाओ पकरेइ, मंदाणुभावाओ तिव्वाणुभावाओ पकरेइ, अप्पपएसग्गाओ बहुपएसग्गाओ पकरेइ, आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ सिय नो बंधइ, आसायावेयणिज्जं च कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणइ, अणाइयं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टइ । से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? आहाकम्मं णं भुंजमाणे जाव अणुपरिअट्टइ, गोयमा ! आहाकम्मं भुंजमाणे आयाए धम्मं अइक्कमइ, आयाए धम्मं अइक्कममाणे पुढविकायं नावकंखइ ५,

आत्मकर्मान्वयमाह—

अट्ठवि कम्माइँ अहे, बंधइ पकरेइ चिणइ उवचिणइ ।
कम्मियभोई अ साहू, जं भणियं भगवईए फुडं ॥ ७ ॥

व्याख्या—अष्टावप्यष्टसङ्ख्यान्यपि, न केवलं सप्तेत्यपि शब्दार्थः । कानीत्याह—कर्म्माणि ज्ञानावरणादीनि, किंविषयाणीत्याह 'अहे'त्ति अधोगतौ—अधोगतिविषयाणि, नरकगतिप्रायोग्याणीत्यर्थः । किमित्याह—' बध्नाति ' प्रकृतिरूपतया-स्पृष्टरूपतया वा निर्वर्त्तयति । तथा ' प्रकरोति ' स्थितिरूपतया बद्धरूपतया वा निष्पादयति । तथा ' चिनोति ' अनुभागरूपतया निधत्तरूपतया वा विधत्ते । तथा 'उपचिनोति' प्रदेशरूपतया निकाचनारूपतया वा सञ्जनयति, साधुरिति योगः । अत्र च प्रकृत्यादिस्वरूपं मोदकदृष्टान्तादवसेयं, यथा हि मोदको वाताद्यपहर्तृद्रव्यनिष्पन्नत्वात् प्रकृत्या कश्चिद्वातमपहरति, कश्चित्पित्तं, कश्चिच्च श्लेष्माणमित्यादि । स्थित्या तु स एव कश्चिद् दिनमेकमास्ते, कश्चिद्द्वयं, कश्चिच्च त्रयमित्यादि । अनुभावेन तु स्निग्धमधुरत्वलक्षणेन कश्चिदेकगुणानुभावः, कश्चिद् द्विगुणानुभावः, कश्चित् त्रिगुणानुभाव इत्यादि । प्रदेशैस्तु कणिकादिद्रव्यरूपैः कश्चिदेकप्रसृतिप्रमाणो भवति, अन्यस्तु प्रसृतिद्वयमानोऽपरस्तु प्रसृतित्रयमान इत्यादि । एवं कर्मापि ज्ञानावारकादिपुद्गलैर्निर्वृत्तत्वात् प्रकृत्या किञ्चित् ज्ञानमावृणोति, किञ्चिद्दर्शनं, किञ्चित्तु सुखदुःखे जनयतीत्यादि, स्थित्या तु त्रिंशत्सागरोपमकोटाकोट्यादिकालावस्थायि भवति । अनुभावेन त्वेकस्थानिक-द्विस्थानिक-तीव्रमन्दादिकरसोपेतं, प्रदेशतस्तु

अथ द्वितीय-तृतीयनामान्वयमाह—

अहवा जं तग्गाहिं, कुणइ अहे संजमाउ नरए वा। हणइ व चरणायं से, अहकम्म तमायहम्मं वा ॥६॥

व्याख्या—अथवेति प्रथमार्थाऽपेक्षया अपरार्थप्रकारप्रतिपादनार्थः, 'जं'ति यत्साधुदानसङ्कल्पषट्कायारम्भनिष्पन्नमशनादिकं कर्तृभूतं, 'तद्ग्राहिणं' उक्तविशेषणाशनाद्यादायकं, साधुमिति प्रक्रमः, 'करोति' विधत्ते–नयतीत्यर्थः। क्वेत्याह–'अधो'ऽधस्तादसंयम इत्यर्थः, नीचनीचतरनीचतमसंयमस्थानेषु वा। कस्मात् सकाशादित्याह–'संयमात्' चारित्रात्, उच्चोच्चतरोच्चतमसंयमस्थानेभ्यो वा, अथवा 'अध' इत्यधोगतौ, यदाह–'नरए व'त्ति, नरके–सीमन्तकादौ, वा शब्दो विकल्पार्थः, तदधःकर्म्मेति योगः, अधो–ऽधस्तात् 'कर्म' क्रिया–अधःकर्म्मेति। तृतीयमाह–'हणइ व'त्ति, यदित्यत्रापि योज्यते, ततश्च यत्साधुसङ्कल्पषट्कायारम्भकृतं भक्तादिकं 'हन्ति' विनाशयति, 'वा' तृतीयार्थसूचनार्थः, किमित्याह–'चरणायं'ति चरणात्मानं–चारित्ररूपं प्राणिनं, कस्य सम्बन्धिनमित्याह–'से'त्ति तस्य–भणितस्वरूपभक्तादिग्राहिणः साधोस्तदात्मघ्नमिति सम्बन्धः। आत्मानं–स्वं हन्तीत्यात्मघ्नं, अमनुष्यकर्तृकेऽपि च ठक्। 'अहकम्म तमायहम्मं व'त्ति व्याख्यातमेव, नवरं–'वा' शब्दोऽत्राऽभिधानसमुच्चयार्थो द्रष्टव्य इति गाथार्थः ॥ ६ ॥

सम्प्रत्यात्मकर्मलक्षणं चरमनामभेदं व्याख्यातुमाह—

दी०—अथवेति प्रकारान्तरार्थः, यत्कर्म तद्ग्राहिणं साधुं संयमादधः करोति–असंयमे नरके वा नयति, वा विकल्पार्थः। तृतीयमाह–यत्कर्म हन्ति वा चरणात्मानं 'से' तस्य–साधोस्तदधःकर्म आत्मघ्नं च, वा समुच्चये, इति गाथार्थः ॥ ६ ॥

आद्यदोष-
नामचतुष्टये
द्वितीय-
तृतीयना-
मान्वयम्॥

साध्वर्थमुद्धारानीतं प्रामित्यम् ९। तथा कृतपरावर्त्तं परिवर्त्तितम् १०। स्थानान्तरात्साध्वर्थं साध्वालयमानीय दत्तमभ्याहृतम् ११। घटादिकमुद्भिद्य ददत उद्भिन्नम् १२। मालादेरुत्तारणान्मालापहृतम् १३। भृत्यादेरनिच्छतो गृहीतमाच्छेद्यम् १४। बहूनां सत्कं शेषैरननुज्ञातमेकेन दत्तमनिसृष्टम् १५। स्वार्थे पाकारम्भेऽधिक्षेपोऽध्यवपूरकः १६। एवं षोडश 'पिण्डोद्गमे' आहारोत्पत्तौ दोषाः स्युरिति गाथाद्वयार्थः ॥ ३-४ ॥

अथैतान् सूत्रकृद्विवृणोति, तत्राद्यदोषस्य चत्वारि नामानि, यथा—आधाकर्म १, अधःकर्म २, आत्मघ्नं ३, आत्मकर्म ४ चेति। आद्यं व्याचिख्यासुराह—

आहाए वियप्पेणं, जईण कम्ममसणाइकरणं जं। छक्कायारंभेणं, तं आहाकम्ममाहंसु ॥ ५ ॥

व्याख्या—'आहाए'त्ति आधया, पर्यायमाह—'वियप्पेणं'ति 'विकल्पेन' दायकाध्यवसायेन, केषां सम्बन्धिनेत्याह—'जईण'त्ति यतीनां सम्प्रदानभूतसाधूनां, यतिदानबुध्येति तात्पर्यं 'कम्मं'ति कर्म, किं तदित्याह—'असणाइकरणं जं'ति अशनादीनां—भोजनप्रभृतीनां 'करणं' निष्पादनं यत्, केन प्रकारेणेत्याह—'षट्कायारम्भेण' षट्सङ्ख्यपृथिव्यादिजीवनिकायोपमर्द्दन, 'तं'ति तदाधाकर्म्मेति ' आहंसु 'त्ति आहुः—उक्तवन्तस्तीर्थकरगणधरादय इति गम्यत इति गाथार्थः ॥ ५ ॥

साम्प्रतं द्वितीय—तृतीयनाम्नी व्याचिख्यासुराह—

दी०—आधानमाधा, तया, विकल्पेन—दायकाध्यवसायेनेति पर्यायः, केषां ? यतीनां ' कर्म ' अशनादिकरणं यत्पट्कायारम्भेण तदाधाकर्मेत्याहुरिति गाथार्थः ॥ ५ ॥

क्रीयते स्म—साधुनिमित्तमर्थादिना गृह्यते स्मेति क्रीतं ८। अपमित्यं प्रामित्यं वा—दास्याम्येतत्तवेत्यभिधाय साधुनिमित्तं गृहीत-मुच्छिन्नं उद्यतकमिति यावत् ९। 'परिवर्त्तितं' साध्वर्थं कृतपरावर्त्तं १०। 'अभि' इति साध्वभिमुखं 'हृतं' स्थानान्तरादानीतमभिहृतं, अभ्याहृतमित्यर्थः ११। उद्भेदनमुद्भिन्नं, साध्वर्थं कुशूलादेरुद्‍घाटनं, तद्योगाद्भक्ताद्यपि तथोच्यते १२। मालान्मञ्चादेरपहृतं—साध्वर्थमानीतं मालापहृतं, चः पूर्ववत् १३। 'आच्छिद्यते' अनिच्छतोऽपि पुत्रादेः सकाशात्साधुदानाय गृह्यते यत्तदाच्छेद्यं १४। न निसृष्टं—सर्वस्वामिभिः साधुदानाय नानुज्ञातमनिसृष्टं १५। 'अधि' इति आधिक्येनावपूरणं—स्वार्थं दत्ताद्रहणादेर्भरणमध्यवपूरः, स एवाऽध्यवपूरकः, तद्योगाद्भक्ताद्यप्येवमुच्यते १६। इत्येवं षोडशसङ्ख्याः पिण्डस्या—शनाद्याहारस्योद्गमः प्रसूतिरुत्पत्तिः प्रभवो जन्मेति पर्यायाः पिण्डोद्‍गमस्तस्मिन् दोषा उक्तस्वरूपाः स्युरिति गाथाद्वयार्थः॥ ३–४ ॥

साम्प्रतमाधाकर्मदोषो व्याख्यायते, अस्य च सान्वयानि चत्वारि नामानि भवन्ति, तद्यथा—आधाकर्म्म अधःकर्म्म आत्मघ्नं आत्मकर्म चेति। तत्राद्यं व्याचिख्यासुराह—

दी०—आधाय साधून् षड्जीवनिकायविराधनादिना 'कर्म' भक्तादिपाकक्रियाकरणं, तदाधाकर्म, निरुक्ताद्यलोपः १। तदेव यावन्ति[यावदर्थि]कादीनुद्दिश्य कृतमौद्देशिकम् २। आधाकर्माद्यवयवः पूतिस्तद्योगात्पूतिकर्म ३। किञ्चिद् गृहियोग्यं किञ्चित्साधूनामिति मिश्रजातम् ४। साध्वर्थं पृथक् स्थापितं स्थापना ५। विवाहादेः पश्चात्पुरःकरणं साध्वागमनं प्रतीक्षमाणप्राभृतेन भवा प्राभृतिका ६। यत्यर्थं देयवस्तुनः प्रकटीकरणं—प्रादुष्कारः ७। क्रीतं द्रव्यादिना ८।

तत्राद्यान् षोडशोद्गमदोषान् गाथाद्वयेनाह—

आहाकम्मु १ द्देसिय २, पूईकम्मे य ३ मीसजाए य ४ ।
ठवणा ५ पाहुडियाए ६, पाओयर ७ कीय ८ पामिच्चे ९ ॥ ३ ॥
परिअट्टिए १० अभिहडु ११–ब्भिन्ने १२ मालोहडे अ १३ अच्छिज्जे १४ ।
अणिसिट्ठ १५ ऽज्झोयरए १६, सोलस पिंडुग्गमे दोसा ॥ ४ ॥

व्याख्या—इह च सर्वत्र विभक्तिलोपादिकं प्राकृतलक्षणं स्वयमेवावसेयं, विस्तरभयाच्च न ब्रूमः । आधानमाधा, प्रस्तावादमुकस्मै साधवे इदं भक्तादिदेयमित्यादिरूपो दातृसङ्कल्पः, तया 'कर्म' पाकादिक्रियेत्याधाकर्म, यद्वा आधायकर्म्मेति विगृह्य निरुक्तवशेन यकारलोपादाधाकर्मेति, तद्योगाद्भक्ताद्यपि तथोच्यते, एवमन्यत्रापि १ । उद्देशनं उद्देशो—यावदर्थिकादिप्रणिधानं, तेन निर्वृत्तं तत्प्रयोजनं वेत्यौद्देशिकं भक्तादि, इह दोषभणनप्रक्रमेऽपि यद्दोषवतो भक्तादेरभिधानं तत्तयोरभेदविवक्षणात्, एवमन्यत्रापि २ । शुद्धस्यापि अविशुद्धभक्तादिमीलनात् पूते-रपवित्रस्य'कर्म'करणमिति पूतिकर्म्म, चः समुच्चये ३ । मिश्रेण—गृहिसाध्वादिप्रणिधानलक्षणभावेन जातं—पाकादिभावमुपगतमिति मिश्रजातं, चः पूर्ववत् ४ । स्थाप्यते-साधुदानाय किञ्चित्कालं यावन्निधीयते यत्तत् स्थापना, भक्ताद्येव ५ । 'प्राभृतं' कौशलिकं, तदिवोपचारसाधर्म्याद्यका सा प्राभृतिका ६ । प्रादुः—प्राकाश्यं, तस्य 'करणं' साध्वर्थं विधानं प्रादुष्कारस्तद्विशेषितं भक्ताद्यपि प्रादुष्कार एवोच्यते ७ ।

संयमो 'देहे' काये भवति, उद्घुष्यते च-"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं" इत्यादीति । 'सो'त्ति स पुनर्देहः 'पिण्डेनैवा'-ऽशनाद्याहारेणैव सत्तामात्रमपि धारयति, आबालगोपालाङ्गनादीनां प्रसिद्धं चैतत् । सह दोषैः सदोषः, 'सो'त्ति स पुनः पिण्डः 'प्रतिक्रुष्टः' प्रतिषिद्धः, आगम इति गम्यते, 'इमे' अनन्तरमेव वक्ष्यमाणतया प्रत्यक्षास्ते दोषाः, च शब्दः पुनः शब्दार्थः । अत्र च गाथायां सर्वत्रानुरूपक्रियाऽध्याहारतोऽवसेया । " यश्च निम्बं परशुना, यश्चैनं मधुसर्पिषा । यश्चैनं गन्धमाल्याभ्यां, सर्वस्य कटुरेव सः ॥ १ ॥ " इत्यादाविवेति गाथार्थः ॥ २ ॥

साम्प्रतं प्रस्तावितपिण्डदोषावसरः, ते च द्विचत्वारिंशत्, यत आह-" **सोलस उग्गमदोसा, सोलस उप्पायणाए दोसा उ । दस एसणाए दोसा, बायालीसं इय हवंति ॥ १ ॥** " त्ति । तत्र तावदाहारोद्गमविषयषोडशदोषप्रतिपादनाय गाथाद्वयमाह—

दी०–जीवाः सर्वेऽपि सुखैषिणस्तदभिरतत्वात्, गाथाऽन्तीयश्च शब्दः पुनरर्थः प्रत्येकं योज्यः, तत्पुनः सुखं शिवे, निरुपद्रवत्वात्, तच्च शिवं 'संयमेन' पञ्चाश्रवविरमण–पञ्चेन्द्रियनिग्रह–कषायजय–दण्डत्रयविरतिरूपसप्तदशधाप्रतीतेन, तन्मूलत्वात् । स च संयमो देहे, तत्साध्यत्वात् । स च देहः पिण्डेन, तदाधारत्वात् । स च पिण्डः सदोषः 'प्रतिक्रुष्टः' सिद्धान्ते निषिद्धः, संयमबाधितत्वात् । ते च दोषा 'इमे' वक्ष्यमाणाः, बहुवचनेनात्र दोषाणां विविधत्वमुक्तं, यदाहुः– " **सोलस उग्गमदोसा, सोलस उप्पायणाइ दोसा य । दस एसणाइ दोसा, गासे पण मिलिय सगयाला ॥ १ ॥** " ॥ २ ॥

१७॥१॥" इत्यागमप्रसिद्धेन वा। अत्र चाद्यः संयमः प्रसिद्ध एव, द्वितीयस्तु शिष्यहितार्थं किञ्चिदुच्यते–तत्र पृथिव्यादिपञ्चेन्द्रियान्तजीवानां मनो-वा-कायैः करण-कारणानु-मतिभेदतः सङ्घट्टन-परितापना-पद्रावणपरिहाररूपो नवविधः संयमो भवति। अजीवसंयमस्तु पुस्तका[? अ]प्रत्युपेक्ष्य दुष्प्रत्युपेक्ष्य [च पुस्तक-]दूष्य-तृण-चर्मपञ्चक-विकटहिरण्यादीनामग्रहणरूपः। आह–किमेषामग्रहण एव संयम ? उत ग्रहणेऽपि ?, उच्यते—अपवादतो ग्रहणेऽपि, यत उक्तं–'दुप्पडिलेहिय दूसं, अद्धाणाई विवित्त गिण्हंति। घेप्पइ पोत्थयपणयं, कालियनिज्जुत्तिकोसट्ठा॥१॥" इत्यादि। ननु ज्ञानसाधनत्वात् पुस्तकपञ्चकस्य कथं नोत्सर्गतोऽपि ग्रहणं ? उच्यते–सत्त्वोपघातहेतुत्वात्, आह च–"जइ तेसिं जीवाणं, तत्थगयाणं (तु) च सोणियं होज्जा। पीलिज्जंते धणियं, गलिज्ज तं अक्खरे फुसिउं॥१॥" इत्यादि। 'तत्रगतानां' पुस्तकस्थितानां। प्रेक्षासंयमस्तु यत्र स्थानादिकं किञ्चिदाचरति, तत्र प्रत्युपेक्ष्य प्रमार्ज्य चाचरतीति। उपेक्षासंयमस्तु द्विधा–व्यापारे अव्यापारे च। उपेक्षाशब्दस्य लोके तथा प्रवृत्तिदर्शनात्। तथा च वक्तारो भवन्ति–उपेक्षकोऽयमस्य ग्रामस्य-चिन्तक इत्यर्थः। तथा किमिदं वस्तु विनश्यदुपेक्षसे ? न चिन्तयसीत्यर्थः। तत्र व्यापारोपेक्षासंयमो यत्साम्भोगिकसाधून् सीदन्त इतरांश्च प्रावचनिककार्ये प्रेरयति। अव्यापारोपेक्षासंयमस्तु यत्सावद्यकर्म्मसु सीदन्तं गृहिणं न प्रेरयति। प्रमार्जनासंयमस्तु यत्सागारिकसमक्षं पादौ न प्रमार्जयति, तदभावे तु प्रमार्जयतीति। परिष्ठापनासंयमस्तु जीवसंसक्तस्याशुद्धस्याधिकस्य क्षेत्रकालातिक्रान्तस्य वा भक्तादेर्विधिना यस्त्यागः। मनःसंयमस्तु तस्यैवाकुशलस्य निरोधः, कुशलस्योदीरणं। एवं वाक्संयमोऽपि। कायसंयमस्तु सति कार्ये उपयोगतो गमनागमनादिविधानं, तदभावे तु सुसंलीनकरचरणाद्यवयवस्यावस्थानमिति। अथ प्रकृतमुच्यते–'सो'त्ति स पुनः

ते च 'चत्वारः' चतुःसङ्ख्या 'भेदाः' प्रकारा यस्य स तथा, तं आहारमिति योगः। तत्राशनं–शालितन्दुलसूपादि, पानं–सौवीरतन्दुलधावनादि, खादिमं फलपुष्पादि, स्वादिमं–हरीतकीशुण्ठ्यादि। इमं च किमित्याह–'आहाकम्ममिह बेंति'त्ति आधाकर्म्म इह–जिनप्रवचने, न तु शाक्यादिशासने, अथवा इहेति पिण्डविशुद्धिप्रक्रमे, अन्यथा यद्गेहादिकं चीयते वस्त्रादिकं +व्यूयते तुम्बकादेश्च यन्मुखादि क्रियते तदपि, ब्रुवते–प्रतिपादयन्ति, गणधरादय इति गम्यते। 'आहारं' पिण्डमिति योजितमेव। किमविशेषेणैव? नेत्याह–'पढम'मित्यादि, प्रथम–मादौ "चिय-च्चेव-एवार्थे" इति वचनात् 'चिय'शब्द एवार्थे द्रष्टव्यस्तस्य च प्रयोगं दर्शयिष्यामः। 'यतियोग्यं' साध्वर्थं, उपलक्षणत्वात् गृहिनिमित्तं च 'क्रियमाणं' कर्त्तुमारब्धं तथा 'निष्ठितं' निष्ठां प्राप्तं–साधुग्रहणयोग्यतां गतमित्यर्थः, चः समुच्चये 'तर्हि' ति प्राक्तनावधारणस्येह सम्बन्धात्तत्रैव–साध्वर्थमेव यतिनिमित्तमेवेत्यर्थः। अनेन च वक्ष्यमाणे प्रथम–तृतीयभङ्गद्वये आधाकर्म्म भवति, नान्यत्रेत्यावेदितमिति गाथार्थः॥ ९॥ 'जइजोग्गं कीरंतं, निट्ठियं च तहिं'तीत्युक्तं, अत्र च क्रियमाणं निष्ठितमिति पदद्वयेन भङ्गचतुष्कं सूचितमतस्तत्प्रतिपादनार्थमाह—

दी०—अशनं १, आदिशब्दात्पानं २ खादिमं ३ स्वादिमं ४ चेति चतुर्भेदमाहारं 'इह' ×जिनमते पिण्डविशुद्धौ वा तद्विद आधाकर्म ब्रुवते, कीदृशं? प्रथममेव यतियोग्यं मिश्रं वा 'क्रियमाणं' कर्त्तुमारब्धं 'निष्ठितं' निष्पादितं वा 'तस्मिन्' यत्यर्थे, इति गाथार्थः॥ ९॥ कृतनिष्ठितयोश्चतुर्भङ्गीमाह–

+ "यूयते" अ०। "धूयते–व्रूयते" इत्यपि प्रत्यन्तरे। × 'जैनमते" प. अ.।

तस्स कड तस्स निट्ठिय, चउभंगो तत्थ दुचरिमा कप्पा। फासुकडं रद्धं वा, निट्ठियमियरं कडं सव्वं ॥१०॥

व्याख्या—'तस्स कड तस्स निट्ठिय'त्ति विभक्तिलोपात्तस्य कृतं तस्य निष्ठितमिति वाक्ये 'चउभंगो'त्ति चतूरूपो भङ्गश्चतुर्भङ्गो,जातिनिर्देशाच्चत्वारो भङ्गा भवन्तीत्यर्थः। तत्राद्यः कण्ठोक्त एव १। तदुपलक्षितास्त्वन्ये त्रय इमे—तस्य कृतमन्यस्य निष्ठितं २, अन्यस्य कृतं तस्य निष्ठितं ३, अन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितमिति ४। तत्र तस्येति प्रस्तावात्साधोर्निमित्तं 'कृतं' कर्तुमारब्धं तथा तस्येति साधोरेव निमित्तं निष्ठितमिति सर्वथा प्रासुकीभूतं राद्धं वेति प्रथमः १। तथा तस्य कृतमिति पूर्ववत्, ततो दातुः साधुगोचरदानपरिणामापगमादन्यस्येति गृहस्थस्य निमित्तं, निष्ठितमिति पूर्ववदिति द्वितीयः २। तथाऽन्यस्य कृतमिति पूर्ववत्, ततो दातुः साधुविषयदानपरिणामभवनात् क्रियान्तरप्रवर्त्तने तस्य निष्ठितमिति पूर्ववदिति तृतीयः ३। तथा अन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितमिति पूर्ववदिति चतुर्थः ४। 'तत्थ'त्ति तत्र-तेषु चतुर्षु भङ्गेषु मध्ये 'द्विचरमौ' द्वितीयचतुर्थौ, तौ किमित्याह—'कप्प'त्ति कल्प्यौ—साधोरासेवायोग्यौ, एतद्भक्तभक्तादेः शुद्धत्वात्, प्रथमतृतीयौ त्वकल्प्यावेव, तत्सम्भवभिक्तादेः पूर्वमाधाकर्मत्वेनाभिहितत्वात्। अथ कृतनिष्ठितस्वरूपमाह—'फासुकड'मित्यादि, प्रगता 'असवः' प्राणा यस्मात्तत्प्रासुकं—निर्जीवं 'कृतं' विहितं यत्तन्दुलादि, तथा 'रद्धं व'त्ति राद्धं—संस्कृतं, वा समुच्चये, तत्किमित्याह—'निष्ठितं' निष्ठाङ्गतमभिधीयत इति शेषः। तथा 'इयरं'ति 'इतरत्' अन्यत्—यन्न प्रासुकी कृतं यच्च न राद्धं, तत्किमित्याह—'कृतं' कृताख्यं 'सर्वं' निरवशेषमिति गाथार्थः॥ १०॥ एनमेवार्थं दृष्टान्तपुरस्सरं विशेषेणाह—

दी०—'तस्य' साधोर्योग्यं कृतं तस्य निष्ठितमित्येको भङ्गः १, तदुपलक्षितास्त्रयोऽन्ये, यथा—तस्य कृतमन्यस्य निष्ठितं

२, अन्यस्य कृतं तस्य निष्ठितं ३, अन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितं ४ चेति । तत्र तेषु द्वितीयचतुर्थौ भङ्गौ 'कल्प्यौ' शुद्धौ । कृतनिष्ठितयोर्लक्षणमाह–'प्रासुकं' निर्जीवं यत्तन्दुलादि कृतं राद्धं वा तन्निष्ठितं, इतर-द्विपरीतं कृताख्यमिति गाथार्थः ॥ १० ॥

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेनाह—

साहुनिमित्तं ववियाइ, ता कडा जाव तंदुला दुच्छडा। तिछडा उ निट्ठिया पा-णगाइ जहसंभवं नेज्जा ॥११॥

व्याख्या—'साधुनिमित्तं' यत्यर्थं 'ववियाइ'त्ति 'उप्ता' रोपिता, आदिशब्दाल्लूनपूनादिपरिग्रहः, तन्दुला इति योगः । 'ता'इति तावत्, किमित्याह–'कृताः' कृताख्या, भण्यन्त इति शेषः । इह च सर्वत्र 'क्रियमाणं कृत'मिति वचनात्, 'कृतं' क्रियमाणं व्याख्येयं । 'जाव'त्ति यावत् 'तन्दुलाः' शाल्यादिकणाः 'दुच्छड'त्ति द्वौ 'वारौ' छटिताः' कण्डिताः । अत्र च तन्दुलानामुप्तलूनादिविशेषणानि प्रस्थककारणदारुणि प्रस्थकव्यपदेशवत् कारणे कार्योपचारादवसेयानि । तथा 'तिछडा उ'त्ति त्रीन् वारान् 'छटिताः' कण्डिता इत्यर्थः । तुः पुनरर्थे, ततश्च याव[द्]द्विश्छटितास्तावत्कृताः, त्रिश्छटिताः पुनस्त एव 'निष्ठिता'निष्ठिताख्या, भण्यन्त इति प्रक्रमः । अत्र च विशेषज्ञापनार्थं वृद्धसम्प्रदायः कश्चिदुच्यते, यथा– यदि प्रथमां द्वितीयां वा वारां साधुनिमित्तमात्मनिमित्तं वा करटिं छटित्वा तन्दुलाः कृतास्तृतीयां वारां त्वात्मनिमित्तं छटिता राद्धा वा, ते साधूनां कल्पन्ते । यदि तु प्रथमां द्वितीयां वा वारां साधुनिमित्तं स्वनिमित्तं वा तृतीयां वारां तु साधुनिमित्तमेव कण्डिताः, राद्धास्त्वात्मनिमित्तं, ते एकेषामादेशेन एकेनान्यस्मै दत्तास्तेनाप्यन्यस्मायित्यादिरूपेण यावत् सहस्रसङ्ख्ये स्थाने गतास्तावन्न कल्पन्ते, ततः परं कल्पन्ते, अन्येषां तु न कदाचिदपि । यदि तु प्रथमां द्वितीयां वा वारां साधु-

निमित्तं+स्वनिमित्तं वा तृतीयां वारां त्वात्मनिमित्तमेव कण्डिता, राद्धाः पुनः साधुनिमित्तमेव, ते न कल्पन्ते । यदि तु प्रथमां द्वितीयां वा वारां साधुनिमित्तमात्मनिमित्तं वा तृतीयवारां तु साधुनिमित्तमेव कण्डिता राद्धाश्च तदर्थमेव, तेऽपि *साधूनामकल्प्या एव, निष्ठिततन्दुल×तत्पाकजनितद्विगुणाधाकर्म्मदोषदुष्टत्वात् । एवमशनाहारमाश्रित्योक्तं, अथ पानकाद्याहारमङ्गीकृत्योच्यते–'पाणगाइ जहसंभवं नेज्ज' त्ति । पानकं–द्वितीयाहारभेदस्तदादि–'प्रथमं यस्य तत्तथा, तत्कर्मतापन्नमादिशब्दात् खादिमस्वादिम§ग्रहः । तत्किमित्याह–'यथासम्भवं' कृतनिष्ठितसम्भवानतिक्रमेण 'नयेत्' प्रज्ञापकः कर्त्ता श्रोतृप्रतीतौ प्रापयेत् । †तथाहि–पानकं यतिनिमित्तखातकूपादिगतं तदर्थमेव च तत आनीतं यावत्तथाभूतपरिणामेनैव कर्त्रा प्रासुकी क्रियमाणं नाद्यापि सर्वथा प्रासुकी भवति तावत्कृतं, ततस्तथाभूतपरिणामेनैव कर्त्रा कथनादिना सर्वथा प्रासुकी कृतं तु निष्ठितं । खादिमं–कर्कटिकादाडिमाम्रमातुलिङ्गकुष्माण्डवृन्ताकादि, तत्साधुनिमित्तमुप्तं यावत्तथाभूतपरिणामेनैव दात्रा तत् खण्डीकृतं, तथाभूतं च क्षणे क्षणे प्रासुकी भवत्सद्यावत्तत्परिणामस्यैव दातुर्नाद्यापि सर्वथा प्रासुकी भवति तावत् कृतं, ततः साधुनिमित्तमेव रन्धनादिना प्रासुकी कृतं तु निष्ठितं । स्वादिमं–शृङ्गबेरादि, तदपि खादिमवदवसेयं । ननु स्वादिमं–शृङ्गबेरादीत्ययुक्तमुक्तं, सिद्धान्ते तस्याशनाहारमध्ये अधीतत्वात्, तथाचाहावश्यकचूर्णिकारः–"असणे अल्लगमूलग–मंसाइ" त्ति, न, अराद्धप्रासुकावस्थस्य स्वादिमत्वात्, तस्यैव साधुग्रहणयोग्यत्वेन मुख्यरूप-

+ "॰त्तमात्मनिमित्तं वा" भां॰ । * "तेऽपि न कल्पन्त एव" य. अ. ह. क. प. । × "॰तन्दुलाया (सम्पन्न इति पर्यायः) तत्पाक॰" अ॰ । "॰तन्दुलायात तत्पाक॰" य. ह. क. । § "॰दिमपरिग्रहः" अ. । † "यथाहि" अ. प. य. ह. क. ।

तयेह चिन्तयितुमभिप्रेतत्वात्, आह च—

“सच्चित्तभावविकली-कयम्मि दव्वम्मि मग्गणा होई। का मग्गणा? उ दव्वे, सचेयणे फासुभोईणं ॥१॥”

‘मार्ग्गणे’ति आधाकर्म्मविचारणेत्यर्थः। तथेह सर्वत्र भक्तपानादेस्तदर्थं निष्ठागमने दातुः साध्वर्थं क्रियाविशेषो द्रष्टव्यो, न तु तद्दानपरिणाममात्रमेव, क्रियाशून्यस्य तस्यादुष्टत्वात्। यदाह—

“न खलु परिणाममेत्तं, पयाणकाले असक्कियारहियं। गिहिणो तणयं तु जइं, दूसइ आणाइ पडिबद्धं ॥ १ ॥”

तथा विभिन्नदेयमाश्रित्य स्वभोग्याद्यत्र वस्तुनि सङ्कल्पनं क्रियाकाले तद्दुष्टं, विषयोऽनयोः पुण्यार्थं यावदर्थिकयोरित्यर्थः। स्वोचिते तु यदारम्भे तथा सङ्कल्पनं क्वचिन्न दुष्टं, शुभभावत्वात्, तच्छुद्धापरयोगवत्। अत्र च भक्ताधाकर्म्मसम्भवप्रदर्शकमिदमुदाहरणं, यथा–अणेगकुलसयसंकुलो कोद्दवरालगकूरपउरभिक्खो सुलभरमणिज्जवसहीसंजुओ निव्वाघायसज्झायनिव्वाहो एगो गामो अत्थि। तत्थ य (जिणदत्तो नाम) सावओ परिवसइ, साहू य तत्थ एंति, परं आयरियाइपाउग्गो सालिकूरो नत्थि त्ति सावएण भण्णमाणावि न चिट्ठंति। अन्नया खेत्तपडिलेहणत्थं केइ साहुणो तत्थ आगया, ठिया कइवि दिणे, तओ गुरुपाउग्गं नत्थि त्ति अणभिरुइयखेत्ता पट्ठिया गुरुसमीवं। तओ सावएणं एगो साहू पुच्छिओ–‘किं तुब्भं खेत्तं रुइयं न व’त्ति। तओ तेण साहुणा उज्जुगत्तेण उ भणियं–‘जुज्जइ गणस्स खेत्तं, परं गुरुपाउग्गो सालिकूरो नत्थि’त्ति। तओ गएसु तेसु विन्नायपरमत्थेण इमिणा वावियाणि सालिबीयाणि, जाया य बहवे सालिमूडया, अन्नया य पओयणवसेण ते अन्ने वा साहुणो आगए दट्ठूण तेण चिंतियं–‘तहा एएसिं सालिकूरं देमि जहा विन्नायपउरपाउग्गदव्वसंभवा गुरुणो आ[णेंति]-

णेत्ति(?) आहाकम्मियसंकं च न करेंति त्ति। तओ ×विरिंचिऊण सयणाईण दिन्नो साली, भणिया य–'सयं खाएज्जह साहूणंपि दिज्जह'। तेहिं तहेव रद्धो। इमो य वइयरो नाओ बालाईहिं, साहुणो य एसणोवउत्ता भिक्खं हिंडंता तेसिं संकहं सुणंति, जहा एगो +भणइ–'एए ते साहुणो, जेसिं अट्ठाए घरे घरे सालिकूरो रद्धो'। अन्नो +भणइ-मम घरे एएहिं लद्धो, अवरो +भणइ–अहंपि एएसिं तं दाहामि, अन्नो *मायरं भणइ–एयं साहूणं देहि देहि, अन्नो भणइ–थके थकावडियं संपन्नं, जेण अभत्तए सालिभत्तयं जायं। एत्थ लोइओ दिट्ठंतो नेओ, जहा-काइ महिला भणइ–"मज्झ य पइस्स मरणं, दियरस्स य मे मया भज्जा। तो कालाणुरूवमिमं, संवुत्तं"ति। तहा अन्नो जणणिं भणइ–चाउलोदगं देहि, अन्नो आयामं, अन्नो कंजियं, इच्चाइ बालाइजणजंपियं सोउं पुच्छंति–किमेयं?ति। तओ ताणि उज्जुगाणि कहयंति, माइट्ठाणियाणि पन्नवियाणि वा परोप्परं निरिक्खंति। एवं च नाऊण ताणि घराणि परिहरंता तत्थेव अन्नघरेसु भिक्खं हिंडंति, अणिवाहे पुण पच्चासन्नगामे वयंति त्ति। एतदनुसारतस्तु पानादीनामपि सम्भवो भावनीय इति गाथार्थः॥ ११॥

प्रतिपादितमाधाकर्म्मस्वरूपप्रतिपादकं प्रथमद्वारमथ यस्येति द्वितीयद्वारावसरः, तत्र यस्य कृते कृतमाधाकर्म्म स्याद्यस्य च कृते कृतं न स्यादित्येतदभिधित्सुराह—

दी०—साधुनिमित्तमुप्ताः-शाल्यादयो रोपिताः, आदिशब्दाल्लूनादि ज्ञेयं, तावत्कृता यावत्तन्दुला द्वौ वारौ 'छटिताः' क(ख)ण्डिताः, त्रीन् वारांश्छटिताः पुनस्त एव निष्ठिताख्याः स्युः, इदमशनमाश्रित्योक्तं, इतराश्रितमाह–पानकादिशेष-

× "विरंचिऊण [विभज्य]" अ. ह. क. प. । + "पभणइ" अ. । * "सायरं" सादरमिति पर्यायोऽपि अ. ।

लघुवृत्त्या-
वाधाकर्म-
सम्भवप्रद-
र्शकोदा-
हरणम्.

माहारत्रयं यथासम्भवं नयेत्, कोऽर्थः ?, साध्वर्थं कूपादिखनन १चिर्भटिकादि २हरीतक्याद्यारोपणादि ३भावैः कृतनिष्ठिते (प्रतीते), श्रोतृप्रतीतौ प्रापयेत् । अत्रोदाहरणं—एकस्मिन् ग्रामे कदशनाहारिणि सूरियोग्यभक्तालाभात्साधवः सूरिं नानयन्ति, श्रावकश्चैकस्तदुत्कण्ठितः । अन्यदा केषाञ्चित्साधूनां वर्षाक्षेत्रं विलोक्यानिच्छया पश्चाद्गच्छतां तेन साधुरेकः पृष्टः—कुतः क्षेत्रं न रुचितं ?, स च ऋजुको गुरुप्रायोग्यशाल्योदनाद्यभावादित्याह । ततस्तेन वर्षाकाले शालिरुप्तो बहुकश्च जातो, यतिष्वागतेषु स्वजनगृहेषु शालीन् दत्वा भणितं—स्वयं भोक्तव्यः साधूनाञ्च दातव्यः, तैस्तथा कृते 'साध्वर्थं शालि'रिति बालकाद्यालापाद् बाह्यलिङ्गैश्चानेषणां ज्ञात्वा ते न जगृहुः । एवं पानकाद्याहारेष्वपि लक्ष्यमिति गाथार्थः ॥ ११ ॥

उक्तं यदिति द्वारं, साम्प्रतं यस्येति द्वितीयमाह—

साहम्मियस्स पवयण—लिंगेहिं कए कयं हवइ कम्मं । पत्तेयबुद्धनिण्हय—तित्थयरट्ठाए पुण कप्पे ॥१२॥

व्याख्या—'**साहम्मियस्स**'त्ति 'समानेन' तुल्येन 'धर्मेण' स्वभावेन चरतीति साधर्मिको, विवक्षितसदृशपर्यायवानित्यर्थः, तस्य कथमिह साधर्मिकता ग्राह्येत्याह—'**पवयणलिंगेहिं**'ति, प्रवचनं च लिङ्गं च प्रवचनलिङ्गे, ताभ्यां । तत्र प्रवचनं—सकलजीवादिपदार्थप्ररूपकं अत्यन्तानवद्यचरणकरणप्रवर्तकं अचिन्त्यशक्तिकलितं अविसंवादकं भवार्णवतरणपरमबोहित्थकल्पं द्वादशाङ्गं, तस्य च निराधारस्याऽसम्भवात्तदाधारभूतः सङ्घोऽपि प्रवचनं, तथा 'लिङ्ग्यते' चिह्न्यते साधुरनेनेति लिङ्गं-रजोहरणमुखपोतिकागोच्छकपात्रकादीनि । 'कए'त्ति 'कृते' निमित्तं 'कयं'ति 'कृतं' विहितं, अशनादि इति गम्यते 'भवति' जायते, किमित्याह—'**कम्मं**' ति सूचकत्वादाधाकर्माभिहितशब्दार्थं, इदमुक्तं भवति—

यस्य कृते-
कृतमाधा-
कर्म स्यात्त-
न्निरूपणम्

उक्तरूपप्रवचनलिङ्गाभ्यां सङ्घान्तर्वर्त्तिसाधूनां सङ्घान्तर्वर्त्तिसाधु-रेकादशप्रतिमाप्रतिपन्नश्रावकश्च साधर्म्मिको +भवति, तस्य कृते अशनादि कृतं आधाकर्म्म भवतीति । अनेन च प्रवचनतः साधर्मिको न लिङ्गतः १, लिङ्गतो न प्रवचनतः २, प्रवचनतो लिङ्गतश्च ३, न प्रवचनतो न लिङ्गतः ४, इति सिद्धान्तप्रसिद्धचतुर्भङ्गीतृतीयभङ्गवर्त्तिसाधर्म्मिकार्थं कृतं न कल्पत इति प्रतिपादितं । *एतद्वर्ज्यशेषभङ्गत्रयसम्भविसाधर्म्मिकेभ्यस्तु कृतं कल्पत एवेत्याह 'पत्तेयबुद्धनिण्हये'त्यादिपश्चार्द्ध–तत्रैकं वृषभादिबाह्यनिमित्तं प्रतीत्य बुद्धाः प्रत्येकबुद्धाः–समयप्रसिद्धसाधुविशेषाः, ते च सम्भवे सति जघन्यतो रजोहरणमुखपोतिका×-मात्रोपकरणकलिता उत्कृष्टतस्तु चोलपट्टक-मात्रक-कल्पत्रिक-वर्जितनवविधोपधिधारिणः, तथा नियमतो जघन्यत एकादशाङ्गश्रुतविद उत्कृष्टतस्तु भिन्नदशपूर्वश्रुतवेदिनः, तथा देवताऽर्पितलिङ्गाः 'रूप्पं पत्तेयबुद्ध'त्ति वचनाल्लिङ्गवर्जिता वा भवन्तीति । तथा 'निन्हुवते' स्वाग्रहवशात्तीर्थकरवचनं निराकुर्वन्तीति निन्हवा–जमालि-तिष्यगुप्तप्रभृतयः । तथा येनेह जीवा जन्मजरामरणसलिलं मिथ्यादर्शनाविरतिगम्भीरं महाभीषणकषायपातालं सुदुरुत्तरमहामोहावर्त्तरौद्रं विचित्रदुःखौघदुष्टश्वापदगणं रागद्वेषपवनप्रक्षोभितं सन्ततसंयोगवियोगतरङ्गदुर्गमं प्रबलमनोरथवेलाकुलं संसारापारसागरं तरन्ति तत्तीर्थं, तच्च प्रवचनं तदाधारत्वाच्चतुर्वर्ण्णश्रमणसङ्घश्च, तत्कुर्वन्तीति तीर्थकराः-शास्तारः, एतेषामर्थाय–निमित्तं कृतमशनादीति प्रक्रमः । पुनः शब्दो भिन्नवाक्यताप्रतिपादनार्थः । 'कल्पते' गृहीतुं युज्यते । अयमिह भावार्थः–प्रत्येकबुद्धास्तीर्थकराश्च प्रवचनलिङ्गातीतत्वात् 'न प्रवचनतो न लिङ्गत' इति चतुर्थे भङ्गे वर्त्तन्ते, अतस्तदर्थं कृतं कल्पते, आधाकर्मत्वाभावात्, उक्तं च कल्पभाष्ये–

+ "भवतीति" अ. । * "एतद्वर्ज०" प. ह. क. । × "मुखवस्त्रिका" अ. य. ।

" जीवं उद्दिस्स कडं, कम्मं सोवि य जया उ साहम्मी । सोवि य तइए भंगे, लिंगाईणं न सेसेसु ॥ १ ॥ " अस्या अपि व्याख्या–' जीवं ' प्राणिनं ' उद्दिश्य ' आश्रित्य ' कृतं ' विहितं यदशनादि, तत्किमित्याह–' **कम्मं** 'ति तदेवाधाकर्म्मं स्यान्नान्यद्, अनेन च यदि कश्चिद् गृही× मुग्धबुद्धिः स्नेहादिना गृहीतप्रव्रज्यस्य मृतस्य जीवतो वा पित्रादेः प्रतिकृतेः पुरतो ढौकनाय बल्यादिकं निष्पादयति, तदर्थमेव मृतभक्तं वा कुर्यात्, तदाधाकर्म्म न भवतीति प्रतिपादितं । सोऽपि च जीवो यदा तु साधर्म्मिकः, सोऽपि च साधर्म्मिको यदि तृतीयभङ्गे भवति ' **लिंगाइणं**'ति लिङ्गप्रवचनयोरित्यर्थः, न 'शेषेषु' प्रथमद्वितीयचतुर्थेष्विति । किञ्च–" **साहम्मिओ न सत्था+, तस्स कयं तेण कप्पइ जईणं । जं पुण पडिमाण कयं, तत्थ कहा ? का अजीवत्ता ॥ १ ॥** " इह च कृतमित्यत्र तत्रत्यप्रक्रमवशादशनादीति शेषो दृश्यः । ' **तत्थ** 'त्ति तत्र-प्रतिमार्थकृते 'कथे'ति कल्प्याकल्प्यविचारः, ' के 'ति न काचिदित्यर्थः । अजीवत्वादित्यचेतनत्वात्प्रतिमाया इति । अन्यच्च–" **संवट्टमेहपुप्फा, सत्थुं निमित्तं कया जइ जईणं । न हु लब्भा पडिसिद्धुं, किं पुण पडिमट्ठमारद्धं ? ॥ १ ॥** अन्यथा–" **जइ समणाण न कप्पइ, एवं एगाणिया जिणवरिंदा । गणहरमाईसमणा, अकप्पिए न वि य चिट्ठंति ॥ १ ॥ तम्हा कप्पइ ठाउं, जइ सिद्धाययणंमि होइ अविरुद्धं** "ति । ननु यदि तीर्थकरार्थं कृत-

× " मुग्धः स्नेहादिना " अ. । + " शास्ता " । १ " का [कथा.] वार्त्ता ? " । २ " शास्तु-स्तीर्थकरस्य " । ३ " यतीनां न प्रतिषेद्धुं लभ्याः–यतीनां ते आधाकर्मिका न भवन्तीति तत्सुतरां न प्रतिषेद्धुं लभ्यमिति भावः " । ४ " एकाकिनः " । ५ " [सिद्धायतने] प्रासादे–समवसरणे " इति पर्यायाः अ. ।

माधाकर्म्म न स्यात्ततो भक्त्या तदर्थं निष्पादिते अनिश्राकृतेऽपि तद्भवने किं न निवासादि क्रियते ?, उच्यते—महाशातना-दोषप्रसङ्गात्, आह च "जइ वि न आहाकम्मं, भत्तिकयं तह वि वज्जयंतेहिं, भत्ती खलु होइ कया, इहरा आसायणा परमा ॥१॥" ननु यथा अर्हन् स्वार्थकृतं भक्ताद्याधाकर्मिकत्वाद्वर्जयति, तथा किन्न वातोदकपुष्पवर्षणादिकां सपर्यामपि वर्जयति ?, अवर्जयित्वा कथं दोषवान्न भवतीति ?, उच्यते—"तित्थयरनामगोयस्स, खयट्ठा तह य चेव सा-भव्वा। धम्मं कहेइ अरहा, पूयं वा सेवए तं तु ॥१॥ खीणकसाओ अरहा, कयकिच्चो अविय जीयमणुवत्ती। पडिसेवंतो वि तहा, अदोसवं होइ तं पूयं ॥ २ ॥ 'साभव्व'त्ति स्वो भावः स्वभावस्तस्य भावः स्वाभाव्यं, तस्मात्, यथाहि—"आपो द्रवाश्चलो वायुर्दाहकोऽग्निः" इत्यादयो भावाः स्वं स्वं स्वभावं नातिवर्त्तन्ते, एवं तीर्थकरजीवोऽपि ताम-वस्थां प्राप्तस्तथाविधसपर्यानुभवनस्वभावत्वाद्धर्मं कथयति पूजां चासेवते तां देवादिभिः कृतामित्यलं प्रसङ्गेनेति। तथा लिङ्गतो न प्रवचनत इति द्वितीयभङ्गे निन्हवाः, सदृशलिङ्गत्वान्मिथ्यादृष्टित्वेन प्रवचनबाह्यत्वाच्च, वर्त्तन्ते, अतस्तदर्थमपि कृतं कल्पत एव, केवलं ते क्वापि निन्हवत्वेन ज्ञाताः स्युः क्वाप्यज्ञातास्ततश्च यत्र स्थाने जनेन ज्ञाताः स्युस्तत्र द्वितीयभङ्गे, यत्राज्ञातास्तत्र लोकेन साधुबुध्या ग्रहणात्प्रागुक्ततृतीयभङ्गे वर्त्तन्त इति, तदा न कल्पते। तथा प्रवचनतो न लिङ्गत इति प्रथमे भङ्गे एकादशप्रतिमावर्जप्रतिमास्थश्रावका एकप्रवचनान्तर्वर्त्तित्वाद्रजोहरणादिलक्षणसाधुलिङ्गाभावाच्च, वर्त्तन्त इत्यत्र

१ "साधुनिश्रारहिते विधिचैत्ये जिनभवने कृते"। २ "[जीतं] कल्प [तद्] अनुवर्त्ती"। ३ "केवलावस्थां" इति पर्यायाः अ.।

कल्पते, यदाह—× दस ससिहागा सावग-पवयणसाहम्मिया न लिंगेण। लिंगेण उ साहम्मी, नो पवयण-निन्हगा सव्वे ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ १२ ॥

उक्तं यस्येति द्वारं, साम्प्रतं यथेत्यस्यावसरः, तत्र च यैः प्रकारैराधाकर्म्मपरिभोगजन्यः कर्म्मबन्धः स्यात्तान् सदृष्टान्तानभिधातुमाह—

दी०-प्रवचनलिङ्गाभ्यां साधर्मिकस्य कृते कृतं भवत्याधाकर्म, तत्र प्रवचनं-द्वादशाङ्गी तदाधारभूतः सङ्घोऽपि, लिङ्गं-रजोहरण-मुखवस्त्रिकाद्यं, ताभ्यां सङ्घान्तर्वर्त्ती यतिजन एकादशप्रतिमास्थः श्रावकश्च साधर्मिको ज्ञेयः। स च चतुर्द्धा, यथा-प्रवचनतः साधर्मिको न लिङ्गतः १, लिङ्गतो न प्रवचनतः २, प्रवचनतो लिङ्गतश्च ३, न प्रवचनतो न लिङ्गतः ४। अत्र तृतीयभङ्गभवं न कल्पते, इतरभङ्गत्रयभवं तु शुद्धमित्याह-प्रत्येकबुद्धा जघन्यत एकादशाङ्गिन उत्कृष्टतस्तु +भिन्न-(त्रुटित)दशपूर्विणो देवताऽर्पितलिङ्गा अलिङ्गाश्च, निह्नवा जमाल्यादयः, तीर्थकरा-जिनास्तदर्थाय कृतं पुनः कल्पते, द्वौ प्रवचनलिङ्गातीतत्वाच्चतुर्थभङ्गे ज्ञेयौ निह्नवास्तु द्वितीये, अर्हद्बिम्बबल्याद्यर्थमपि कृतं कल्पते, तृतीयभङ्गोक्तसाधर्मिकजीवार्थं तु नैव। ननु यद्यर्हदर्थं कृतं कल्पते तत्कथं न तद्भवने वासः ?, सत्यं, महाऽऽशातनादोषादिति गाथार्थः ॥ १२ ॥

उक्तं यस्येति द्वारं, अथ यथेति तृतीयं सदृष्टान्तमाह—

पडिसेवण[1]-पडिसुणणा[2], संवास[3]ऽणुमोयणा[4]हिं तं होइ। इह तेण[1]रायसुयं[2]पल्लि[3]-राय[4]दुट्ठेहिं दिट्ठंता ॥१३॥

× " दशप्रतिमास्थाः श्रावकाः सशिखाकाः-शिखायुक्ता भवन्ति " इति पर्यायः अ.। + " अभिन्न० " क.।

व्याख्या—प्रतिषेवणं-प्रतिषेवणा आसेवना परिभोग इति यावत् १ । तथा प्रतिश्रवणं प्रतिश्रवणा—कर्त्तुमिच्छतोऽनुज्ञादानलक्षणा २ । तथा संवसनं संवासः, आधाकर्मभोजिभिः सहैकत्रावस्थानं ३ । तथाऽनुमोदनं अनुमोदना आधाकर्मभोजिप्रशंसनं ४ । अत्र च प्रतिषेवणा च प्रतिश्रवणा चेत्यादिद्वन्द्वः कार्यः, ततश्चैताभिः प्रतिषेवणादिभिः क्रियमाणाभिः, किमित्याह—'तं'ति तदाधाकर्म—तद्भोगादिजन्यः कर्मबन्ध इति हृदयं ' भवति ' जायते । एवं प्रतिषेवणादीनां उद्देशमात्रं कृत्वा, अथैतास्वेवोदाहरणान्याह—'इहे'ति आसु प्रतिषेवणादिषु यथाक्रमं स्तेनाश्च—चौराः, राजसुतश्च-नृपपुत्रः, पल्लिश्च-भिल्लप्रायजनसन्निवेशः, राजदुष्टश्च-नृपापराधकारी, स्तेनराजसुतपल्लिराजदुष्टास्तैः करणभूतैः, किमित्याह—' दृष्टान्ता ' उदाहरणानि, भवन्तीति प्रक्रमः । एतांश्च प्रतिषेवादिस्वरूपव्याख्यानावसरे अनन्तरमेव वक्ष्याम इति गाथार्थः ॥ १३ ॥

इदानीं प्रतिषेवणा-प्रतिश्रवणे व्याख्यातुमाह—

दी०—' प्रतिसेवना ' आधाकर्मपरिभोगः १, प्रतिश्रवणा—तद्भोक्तुरनुज्ञा २, संवासस्तद्भोजिभिस्सह ३, अनुमोदना—तद्भोक्तृप्रशंसा ४, आभिस्तदाधाकर्म भवति, तज्जन्यः कर्मबन्धः स्यादिति गाथा[? पूर्वार्द्धा]र्थः । आसां यथाक्रमं दृष्टान्तानाह—'इह' एषु स्तेना—श्चोराः १, राजसुतो—नृपपुत्रः २, पल्लि—भिल्लस्थानं ३, राजदुष्टो—नृपापराधी ४, तेषां दृष्टान्तास्ते च यथास्थानं वक्ष्यामीति गाथार्थः ॥ १ ॥ अथाद्यद्वयार्थमाह—

सयमन्नेण व दिन्नं, कम्मियमसणाइ खाइ पडिसेवा ।
दक्खिन्नादुवओगे, भणओ लाभो त्ति पडिसुणणा ॥ १४ ॥

लघुवृत्त्याद्युद्गमाद्यदोषे यथेति द्वारस्वरूपम् ।
॥ १४ ॥

व्याख्या—स्वयमात्मनाऽऽनीतमिति गम्यते। अन्येन वा आत्मव्यतिरिक्तसाधुनाऽऽनीयेति गम्यते। वा शब्दो विकल्पार्थो 'दत्तं' वित्तीर्णं, किमित्याह–'कम्मियं'ति कर्म्मणा–साध्वर्थक्रियया निर्वृत्तं कार्मिकं-आधाकर्म्मदोषवत् 'अशनादि'भक्तपानादि, किं करोतीत्याह–'खाइ'त्ति खादति मोहोपहतचित्ततया निःशूकत्वाद्भक्षयति, यः साधुरिति गम्यते । न पुनरेवं भावयति, यथा–"जस्स कए आहारो, पाणिवहो तस्स होइ नियमेणं। पाणिवहे वयभंगो, वयभंगे दुग्गई चेवत्ति ॥ १ ॥" तस्य किं भवतीत्याह–प्रतिषेवा पूर्वोक्तशब्दार्था स्यादिति शेषः, अत्र च पुरा सूचितं चौरोदाहरणं यथा—

एगंमि गामे अणेगे चोरा परिवसंति, ते य अन्नया एगाओ सन्निवेसाओ गावीओ हरिऊण नियगामाभिमुहा चलिया। जाहे सदेसं पविट्ठा तओ नियमंडलोत्ति काउं निब्भया भोयणवेलाए तेसिं गोणीणं मज्झाओ किंचियाओ विणासिऊण भोयणत्थं पइउं लग्गा, तम्मि पत्थावे केइ पहिया मिलिया, भोयणकरणत्थं च सव्वेवि भोत्तुकामेहिं चोरेहिं निमंतिया। तओ केई भुंजिउं पयट्टा, केहिवि गोमंसभक्खणं बहुपावंति काउं सयं भक्खणं न कयं, किंतु अन्नेसिं परिवेसणाइ× पारद्धं। एत्थंतरे कूविया+ आगया, तओ तेहिं ते सव्वेवि गहिया, तत्थ जे पहिया आसि 'पहिया अम्हे'त्ति भणंता वि गोमंसभक्खणपरिवेसणाइ×दोसेण तेवि इयरेवि तेहिं वहियत्ति। एवमित्थ वि जे कम्मियं भत्ताइ आणिंति, तं सयं भुंजंति, अन्ने य तेण निमंतंति, निमंतिया य जे तं भुंजंति अन्नेसिं च जे तं परिवेसंति भायणाणि वा जे संठवेंति, ते सव्वे वि नरगाइफलेणं चिक्कणकम्मुणा लिप्पंतित्ति, उक्तं च—

" जे वि य परिवेसंती, भायणाणि धरंति य। तेवि बज्झंति तिव्वेणं, कम्मुणा किमु भोइणो ? ॥ १ ॥"

× परिवेसणाए " प. अ. य. । + " वाहरिका " इति पर्यायः अ. भां. ।

अत्र योजना यथा—चोरस्थानीया आहाकम्मभक्खगनिमंतगसाहुणो, मंसभक्खगपहियसरिसा निमंतियाहाकम्मभोइ-साहुणो, गोमंसपरिवेसगाइपहियतुल्ला कम्मियपरिवेसगाइसाहुणो, पहतुल्लं मणुस्सजम्मं, कूवियसरिसाणि कम्माणि, मरणाइट्ठाणीयं नरगाइगमणंति। अत्र च स्वतो निमन्त्रणातो वा आधाकर्मभोक्तृसाधुषु मुख्यतः प्रतिषेवा प्रसङ्गतः प्रतिश्रवणादयश्च भावनीया इति। अथ प्रतिश्रवणां व्याख्यातुमाह—'दखिन्ने'त्यादिपश्चार्द्धं, तत्र 'दखिन्नादुवउगे'त्ति दाक्षिण्यं प्रतीतं, तदादिः-प्रथमं यस्य तत्तथा, तेन। विभक्तिलोपश्च सूत्रे प्राकृतत्वादित्युक्तमेव। आदिशब्दात् स्नेह-सम्बन्धभयादिपरिग्रहः। उपयोगो यतिजनप्रतीतो भक्तादिग्रहणसमयभाव्यनुष्ठानविशेषः। स चाऽयं लेशतः—यदा हि किल साधवो भिक्षाद्यर्थं× जिगमिषवो भवन्ति, तदा कायिक्यादिव्यापारं कृत्वा पात्राद्युपकरणं गृहीत्वा सम्यगुप-युक्ताः सन्तो गुरोरग्रतः स्थित्वा भणन्ति, यथा—'संदिसह उवओगं करेमो'त्ति, ततः 'करेह'त्ति वचनोच्चारण-तस्तेनाऽनुज्ञाताः सन्तः 'उवओगकरावणियं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थूससिएण'मित्यादिसूत्रमुच्चार्य कायो-त्सर्गेण तिष्ठन्ति चिन्तयन्ति च तत्र नमस्कारमुत्सारितकायोत्सर्गाश्च नमस्कारपाठपुरस्सरमर्द्धावनतगात्रा+ भणंति, यथा-'संदिसह'त्ति, अत्र च निमित्तोपयुक्तो ब्रूते गुरुर्यथा—'लाभो'त्ति। ततः साधवः सविशेषावनता वदन्ति, यथा—'कहघे-त्थामो'त्ति, अत्र च गुरुर्भणति—'यथा तह'त्ति× यथा गृहीतं पूर्वसाधुभिरित्यर्थः। एवं चाभिहिते गुरुणा साधवो भणन्ति, यथा—'आवस्सियाए जस्स य जोगो'त्ति, यस्य च भक्तवस्त्रादेः प्रवचनोक्तेन विधिना 'योगः' सम्बन्धः प्राप्तिलक्षण इत्यर्थः, इति।

× "भिक्षार्थं" अ. मां.। + "०गात्रा भवन्ति भणन्ति च" य.। × "यथा तिहि—त्ति" अ.।

लघुवृत्त्या-
वुद्गमाद्य-
दोषस्य
यथेति द्वारे
प्रति-सेवा-
प्रति-
श्रवणयोः
स्वरूपम् ॥

तस्मिन् क्रियमाणे सति, आधाकर्मभोक्तृसाधुनेति गम्यते। 'भणतो'ब्रुवाणस्याचार्यादेरिति गम्यते। किमित्याह–'लाभो'त्ति लाभमिति शब्दं, किं स्यादित्याह प्रतिश्रवणा–वर्णितशब्दार्था, स्यादिति प्रक्रमः। इह च सूत्रकृता "आलोइए सुलद्धं, भणइ भणंतस्स पडिसुणणा" इति ग्रन्थान्तरप्रसिद्धप्रतिश्रवणायाः स्वरूपान्तरं प्रशंसारूपत्वादनुमोदनैव विवक्षितेति न न्यूनता सूत्रस्याशङ्कनीयेति। उपलक्षणत्वाद्वा तदपीह द्रष्टव्यमिति। अत्रापि प्राक् सूचितं राजसुतोदाहरणं, यथा–

एगो रायपुत्तो रज्जगहणुस्सुओ चिंतेइ, जहा-'एस मम पिया थेरोवि न मरइ त्ति नियभडे सहाए काऊण एयं मारित्ता रज्जं गिण्हामि'त्ति। तओ नियभडेहिं सह इमं मंतियं, तत्थ केहिवि वुत्तं-'अम्हे तुह सहाया होमो'केहिवि वुत्तं-'एवं करेहि' केहिवि तुसिणीकया, केहिवि तं सव्वं रन्नो निवेइयं। तओ रन्ना पढमा तिन्निवि कुमारो य वावाइया, चउत्था पुण पूइयत्ति। एवं लोगुत्तरेवि जे आहाकम्मं आणेत्ता सयं भुंजंति, अन्ने य तेण निमंतंति, जे य निमंतिया 'भुंजह तुब्भे अम्हेवि भुंजामो'त्ति भणंति, जे य आहाकम्मभोइचित्तरक्खणत्थमुवओगे 'लाभो'त्ति जंपंति, आलोइए 'सुलद्धं'ति वा भासंति, जे य मोणेण अच्छंति, ते सव्वेवि नरगाइफलेण दारुणकम्मुणा लिप्पंति। जे पुण पडिसेहंति, ते कम्मबंधाओ मुच्चंतित्ति। उवणओ पुण एवं+ कायव्वो, जहा-कुमारठाणीया आहाकम्मनिमंतगसाहुणो, पिइवहठाणीओ आहाकम्मपरिभोगो, पढमभडत्तिगठाणीया सेसनिमंतियाइ-साहुणो, चउत्थपुरिसठाणीया तब्भोगपडिसेहगसाहुणोत्ति। अत्र च आधाकर्म्मभोक्तॄणां प्रतिषेवादयश्चत्वारोऽपि भावनीयाः, तथाहि—आधाकर्म्मभोजित्वात्प्रतिषेवणा, निमन्त्रणाद्वारेणान्येषामपि तत्परिभोगं प्रति प्रवर्त्तकत्वात्प्रतिश्रवणा,

+ " पुणरेवं " अ. य.।

तद्भोजिभिश्च सहैकत्रावस्थानात्संवासस्तद्भोजिबहुमानाच्चानुमोदना तेषां, यदाह—"पडिसेवणा पडिसुणणा, संवास-ऽणुमोयणा य चउरोवि । पिइमारगरायसुए, विभासियव्वा जइजणे य× ॥ १ ॥" शेषाणां तूक्तानुसारतो यथा-सम्भवं वाच्यमिति । तथेह दृष्टान्ते पदातिभिर्दार्ष्टान्तिके तु निमन्त्रितादिसाधुभिः प्रकृतमिति प्रतिश्रवणोक्तेति गाथार्थः ॥१४॥

अथ संवासानुमोदने व्याख्यातुमाह—

दी०—स्वयमानीतं अन्येन वा दत्तं 'कार्मिकं' आधाकार्मिकमशनादिपिण्डं यः साधुर्निश्शूकः खादति, सा प्रतिसेवा । अत्र चौरोदाहरणं कथ्यते—केचिच्चौराः कुतोऽपि गा अपहृत्य स्वग्रामासन्नमाजग्मुः, तत्र निर्भयानां तेषां स्वयं मारितगोमांसाशनकाले केचित्पथिका मिलितास्तद्भोक्तुं निमन्त्रिताश्च, ततः कैश्चिद्भुक्तं, कैश्चिद्गोमांसशूकया नैव, परं परिवेषणादि-साहाय्यं कृतं । अत्रान्तरे वाहरिकैस्ते चौरा 'मार्गस्था वय'मिति वदन्तोऽपि पथिकाश्च हताः । अत्रोपनयः—चौराभा आधाकर्मप्रतिसेवकाः, पथिकाभास्तन्निमन्त्रणाभोजिनः, परिवेषकाभास्तत्सहायाः, पथावस्थानाभं नृजन्म, गोमांसाशनक-ल्पमाधाकर्मभोजनं, वाहरिकाभानि कर्माणि+, मरणाभं नरकादिगमनमिति । प्रतिश्रवणामाह—विभक्तिलोपाद्दाक्षिण्यादिना, आदिशब्दात्सम्बन्धस्नेहभयादिना, 'उपयोगो' यतिप्रतीतं भक्तादिग्रहणकालानुष्ठानं, यथा—भिक्षार्थं व्रजन्तो यतयः कृतकायिक्यादिव्यापारा गृहीतपात्राद्युपधयो गुरुं वदन्ति—सन्दिशत उपयोगं कुर्मः, ततस्तदादेशेन तदर्थमष्टोच्छ्वासमुत्सर्गं विधायान्ते नमस्कारोच्चारपूर्वं 'संदिसह'त्ति भणन्ति, गुरुराह—'लाभु' त्ति, नम्राङ्गास्तेऽप्याहुः—'कह गिण्हामु'त्ति ?, गुरु-

× " ०जणेणं " अ. य. । + " वाहरिकाभा विषयाः " ह. ।

भणति–'जह गहियं पुव्वसाहुहिं'ति, तेऽप्याहुः–'इच्छं आवस्सियाए जस्स य जोगु'त्ति, अ(त)स्मिन् कार्मिकाशिना साधुना क्रियमाणे गुरो'र्लाभु'त्ति भणतः प्रतिश्रवणा, केऽप्यशुद्धभक्तालोचने 'सुलद्धं'त्ति भणतस्तामाहुः, अत्रानुमोदनैव स्थापितेति न विरोधः । अत्रोदाहरणं यथा– एको राज्ञः सुतो राज्योत्सुकः स्थविरपितृवधोद्यतः स्वाभिप्रायं रहसि भटानामाह, ततः कैश्चिदुक्तं–सहाया वयमिहार्थे, कैश्चित्कुरुष्वेति, कैश्चिन्मौनं कृतं, कैश्चिद्राज्ञो निवेदितं । अथ राज्ञा प्रथमे त्रयः सकुमारा मारिताश्चतुर्थाश्च पूजिताः । अत्र योजना–कुमाराभाः कार्मिकनिमन्त्रकाः, पितृवधाभस्तद्भोगः, प्रथमभटत्रयाभास्तत्प्रतिश्रवणादिकारकाः, चतुर्थभटाभास्तन्निषेधका इति गाथार्थः ॥ १४ ॥ अथ संवासानुमोदने आह—

संवासो सहवासो, कम्मियभोइहिं तप्पसंसाओ । अणुमोयणत्ति तो ते, तं च चए तिविहतिविहेणं ॥१५॥

व्याख्या––संवसनं संवासो भण्यते, कः ? इत्याह–'सहवास' एकत्रावस्थानं । कैरित्याह–कार्मिकभोजिभिराधाकर्मसेविभिः, साधुभिरिति गम्यते । अत्र च पूर्व(सूरि)सूचितः पल्लिदृष्टान्तो यथा–एगाए विसमगिरिसन्निविट्ठाए पल्लिए बहवे चोरा माहणवणियादओ य परिवसंति । ते य चोरा एगस्स राइणो मंडले चोरियं काउं पल्लीए पविसंति । अन्नया अमरिसाऊरियहियत्तेण महासामग्गिं काऊण तेण राइणा सा पल्ली गहिया, तीए गहिज्जमाणीए केवि चोरा हया केवि नट्ठा, बंभणवणियाइएहिं चिंतियं, जहा–'अम्हं अचोराणं राया न किंचिवि करेहि'त्ति न ते पलाणा । तओ राइणा तेवि गिण्हाविया । तओ तेहिं भणियं, जहा–'देव ! अम्हे बंभणवणियादओ न पुण चोरा, तओ राइणा उल्लवियं–'रे पाविट्ठा !! तुब्भे चोरेहिंतोवि अहिययरमवराहिणो, जेण अम्हाणं अवराहकारीणं मज्झे वसह'त्ति, एवं भणंतेणं राइणा तेवि निग्गहियत्ति । एवं अम्हवि जे आहा-

कम्मभोईहिं साहूहिं समं वसंति ते तद्दोसाओ चेव कलुसियसुहपरिणामा उवचियजम्मजरामरणनिबंधणकम्ममहाभरा अवस्सं दुग्गईए पवडंति। एत्थोवणओ जहा–रायट्ठाणीयाणि कम्माणि, पल्लिट्ठाणीया वसही, चोरट्ठाणीया आहाकम्मभोइसाहुणो, वणियाइठाणीया आहाकम्मभोइसहवासिसाहुणो, उवालंभमरणठाणीया दुग्गइत्ति। इह च वणिग्ब्राह्मणादिभिः सहवासदोषदुष्टसाधुभिश्च प्रकृतं, चौराणामाधाकर्मभोक्तृसाधूनां च पूर्ववत् प्रतिषेवादयश्चत्वारोऽपि भावनीया इत्युक्तः संवासो, अथानुमोदनामाह–'तप्पसंसाओ अणुमोयण'त्ति'त्ति। तेषामाधाकर्मभोक्तृसाधूनां तस्य चाधाकर्मिकभक्तस्य 'प्रशंसा' सुखपारणकं भवतां? सुन्दरा यूयं? सुखदैवसिकं युष्माकं? शोभना एते, य एवं मिष्टाहारेण जीवन्तीत्याद्युक्तिस्वरूपा साध्विदं कालोचितमेतदित्यादिवचनसंदर्भरूपा वा श्लाघा, तुः पुनरर्थस्तदर्थश्च स्वयं भावनीयः। किमित्याह–'अनुमोदना' पूर्वोक्तशब्दार्था, उच्यत इति प्रक्रमः, इति शब्दः प्रतिषेवादीनां व्याख्यानपरिसमाप्तिं द्योतयति। अत्रापि प्रागभिहितो राजदुष्टदृष्टान्तो यथा–

एगो वणियकुमारो अईव इत्थिलोलुओ अंतेउरसमीवेण गच्छंतो दिट्ठो रायमहिलाहिं, तेणवि ताओ सरागं पलोइयाओ जाओ य परोप्परं दढमणुराओ। तओ दिव्वजोएणं कहवि संपत्तीए सो ताओ पइदिणं सेविउं पयट्टो। पच्छा रन्ना नाओ। तओ विसिट्ठवत्थनेवत्थो विचित्ताभरणविभूसिओ कयकुंकुमंगरागो तंबूलरंजियाहरो रयणीए अंतेउरे पविट्ठो समाणो वहेऊण नयरमज्झे पक्खिवाविओ। तत्थ य अव्वत्तवेसधारिणो राइणा चारियपुरिसा वावारिया, भणिया य, जहा–'जे एयं पसंसंति निंदंति य ते मम समासे आणेयव्व'त्ति। पभाए य सो नागरगाइलोगेणं वेढिओ, तत्थोवलद्धवुत्तंतेहिं केहिंवि भणियं, जहा-'जाएण जीवलोगंमि सयलेण वि नरेणावस्सं मरियव्वं, परं जाओ नरवइमहिलाओ अम्हारिसेहिं अकयपुण्णेहिं लोयणेहिंपि दट्ठुं दुल्लभाओ,

लघुवृत्त्या-वुद्गमाद्य-दोषस्य यथेति द्वारे संवासानु-मोदनयोः स्वरूपम् ॥

ताओ वि जं माणिऊण मओ, ता एस धन्नो कयपुन्नो सुलद्धं एयस्स माणुसं जम्मं सुजीवियं च एयस्सेव'त्ति। अन्नेहिं भणियं–'पावकारी एसो, जो जणणिसरिसाणं नियसामिभज्जाणं चुक्को'त्ति। एयं च सोउं ते चारपुरिसेहिं रन्नो समप्पिया। राइणा वि जेहिं सो पसंसिओ ते वावाइया, इयरे मुक्का पूइया य त्ति। एवं लोगुत्तरेवि एगे साहुणो आहाकम्मं भुंजंति, अवरे जंपति–'धन्ना एए, सुहं जीवंति'। अन्ने पुण भणंति–'धिरत्थु एतेसिं, जे अरिहंतवुत्तसिद्धंतनिसिद्धं विबुहजणगरहणिज्जमाहारमाहारेंति। एत्थोवणओ इमो–अंतेउरठाणीयं आहाकम्मं, तस्सेवगवणियसुयसरिसा तस्सेवगसाहुणो, 'धन्नो एसो'त्ति जंपगपुरिसठाणीया तस्सेवगपसंसगा, 'अहन्नो एसो'त्ति जंपगपुरिससरिसा तेस्सेवगनिंदगा, रायठाणीयाणि कम्माणि, मरणठाणीयो संसारोत्ति। अत्र च वणिक्पुत्रप्रशंसकपुरुषैराधाकर्म्मभोक्तृप्रशंसकसाधुभिश्च प्रकृतं, वणिक्पुत्रस्याधाकर्म्मभोक्तृमाधूनां पुनः पूर्ववत् प्रतिषेवादयश्चत्वारोऽपि भावनीया इति। उक्ताः प्रतिषेवादयस्तांश्च ज्ञात्वा सुसाधुना यद्विधेयं तदुपदिशन्नाह–'तो ते' इत्यादि, ततो यतः आधाकर्म्म-तद्भोक्तृसाध्वपरिहारिणां साधूनां उक्तलक्षणाः प्रतिषेवादयो दुर्गतिगमननिबन्धना दोषाः सम्भवन्ति तस्मात्कारणात्तान् निन्द्यजीविकानिरतान् अयथावादकारिणो निःशूकशिरोमणीन् शटितताम्बूलपत्रकल्पानाधाकर्म्मभोजिसाधून् तच्च संयमजीवितसद्योविनाशविषतुल्यमाधाकर्म्मदोषदुष्टमाहारं, चः समुच्चये, 'चए'त्ति त्यजेत्–परिवर्जयेत्। कथमित्याह–'तिविहंतिविहेणं'ति त्रिविधंत्रिविधेन करणकारणानुमतिविशिष्टमनोवाक्कायैरित्यर्थः। तत्र तद्भोक्तृसाधून् प्रतिश्रवणासंवासानुमोदनातो वर्जयेत्, यथा–न तेषां तद्विषयामनुज्ञादानलक्षणां प्रतिश्रवणां त्रिविधेन करणेन कुर्यान्नाप्येवमेवान्येन कारयेत् नाप्यन्यं कुर्वन्तमेवं समनुजानीयात्। तथा न तेषु स्ववैरिषु

मध्ये स्वयं वसेत्, नाप्यन्यं साधुं वासयेन्नाप्यन्यं वसन्तं मनोवाक्कायैः समनुजानीयात्। एवमनुमोदनामपि तेषां स्वयं न कुर्यात्, न कारयेन्नाप्यन्यं कुर्वाणं त्रिविधेन करणेनानुजानीयात्। आधाकर्मिकं च प्रतिषेवाऽनुमोदनतो विवर्जयेद्यथा—न तत्स्वयं त्रिविधेन भुञ्जीत नान्यं भोजयेन्नाप्यन्यं भुञ्जानं समनुजानीयात्। एवमनुमोदनेऽपि वाच्यमिति गाथार्थः ॥ १५ ॥

उक्तं यथेति द्वारं, साम्प्रतं यादृशमिति द्वारं, तत्र यानीष दृश्यते यादृशं यैर्वस्तुभिः समानमाधाकर्मिकमित्येतदभिधातुमाह—

दी०—'संवासः' सहवासः कार्मिकभोजिभिः, अत्रोदाहरणं—एकस्यां पर्वतान्तर्वर्त्तिपल्ल्यां चौराधिष्ठितायां बहवो वणिग्विप्रादयो(ऽपि) वसन्ति। अन्यदा तच्चौरोपप्लवादेकेन राज्ञा पल्लिं गृहीत्वा केचिच्चौरा हताः केचिन्नष्टाः, 'निरपराधा वय'-मिति वदन्तोऽपि चोरसंवासाद्वणिजादयोऽपि निगृहीताः। अत्रोपनयः—नृपाभानि कर्माणि, पल्लितुल्या वसतिः, चोराभाः कार्मिकभोजिनः, वणिगा[द्या]भास्तद्भोजिसंवासिनः, निग्रहाभा दुर्गतिरिति। अनुमोदनामाह—तेषां कार्मिकभोक्तॄणां प्रशंसया 'धन्या सुन्दरभोजिनो यूय'मित्यादिकया 'तु' पुनरनुमोदनेति। अत्राख्यानकं—एको वणिक्कुमारः सुरूपः स्त्रीलोलो नृपान्तःपुरीभिर्दृष्टः, उभयानुरागादुव्यवहृतिछद्मना ताः शिषेवे, यावद्राज्ञा ज्ञातो (हतो), हत्वा च राजमार्गे क्षिप्तः, ततः स कैश्चि—'द्धन्योऽसौ, योऽन्येषां दृग्भ्यामप्यदृश्यान् राजदारान् संसेव्य अवश्यम्भाविमरणमापे'त्यादिवचनैः प्रशंसितः, अन्यैश्च 'पापीयानसौ, यो जनन्य इव निजस्वामिभार्याः सिषेवे' इत्यादिनिन्दितः। ततो नृपेण पूर्वनियुक्तचरानीतास्तत्प्रशंसका हताः निन्दकाश्च पूजिता इति। अत्रोपनयः—अन्तःपुराभमाधाकर्म, वणिक्सुताभास्तद्भोजिनः, प्रशंसकाभास्तदनुमोदकाः, निन्दकाभास्तद्गर्हकाः, नृपाभानि कर्माणि, मरणाभः संसारः। एषु दृष्टान्तेषु एकमुख्यत्वे प्रसङ्गादन्येऽपि योज्याः।

उक्ताः प्रतिषेवणाद्याः, अतस्तद्योगे विधेयमाह–ततः कारणात्तान्–कार्मिकभोजिनो यतीन् तच्चाधाकर्म त्रिविधं त्रिविधेन–मनोवाक्कायैस्त्यजेदिति गाथार्थः ॥ १५ ॥ उक्तं यथेति द्वारं, अथ यादृशं तदिति चतुर्थमाह—

वंतुच्चारसुरागो–मंससमामिमंति तेण तज्जुत्तं । पत्तं पि कयतिकप्पं, कप्पइ पुव्वं करिसघट्टं ॥१६॥

व्याख्या—'वान्तं च' भुक्तोद्गिलितं 'उच्चारश्च' पुरीषं 'सुरा च' मद्यविशेषो 'गोमांसं च' बहुला+ पिशितं, तानि तथा, तैरत्यन्तं सर्व्वजनजुगुप्सितैः 'समं'तुल्यं संयमिनां निन्द्यत्वादिदमाधाकार्मिकभक्तादि । इति शब्दो यस्मादर्थस्ततश्च यस्मादिदमेभिरतिकुत्सितैः समानं, तेन कारणेन 'तद्युक्तं' तेनाधाकर्म्मणा 'युक्तं' खरण्टितं, किं तदित्याह–'पात्रमपि' भाजनमपि 'कयतिकप्पं'ति कृता–विहितास्त्रयस्त्रिसङ्ख्याः 'कल्पाः' समयप्रसिद्धा धावनप्रकारा यस्य तत्कृतत्रिकल्पं, तदेव किं? 'कल्पते' यतीनां परिभोक्तुं युज्यते । किंविशिष्टं सदित्याह–'पूर्वं' कल्पकरणकालात्प्रथमतः 'करीषघृष्टं' शुष्कगोमयसंसृष्टं । इदमुक्तं भवति–यदि कथञ्चिदनाभोगादिगृहीताधाकर्म्मभक्तादिना संसृष्टं भाजनं स्यात्तदा गोमयादिसम्मार्जनतो निर्लेपताविधानपुरस्सरं कल्पत्रये कृते सत्येव तत् साधूनां परिभोक्तुं कल्पते, नान्यथा, अतो वान्तोच्चारादिवत्तदप्यत्यन्तं गर्हितमेवेति । अत्र कश्चिदाह–वान्तोच्चारगोमांसग्रहणमत्र कर्तुमुचितं, न सुराग्रहणं, तस्या लोकपेयत्वात्, पेयस्य च जुगुप्सितत्वेनानारूढत्वाद् अन्यथा पेयत्वायोगात् । नैवं, तस्याः कैश्चिदेव जघन्यचरितैः पाने आचरितत्वात्, न च तदाचरितमपि शिष्टानां प्रमाणं, अन्यथा

+ "एकवारप्रसूता गौ बहुला इत्युच्यते" इति पर्यायः अ । "बहुला तु, सुरभ्यां नीलिकैलयोः ॥ १२७३ ॥" इति हैमानेकार्थः ।

वान्तोच्चारादीनामपि सारमेयादिभिर्भोजने आचरित्वात्तेषामपि भक्ष्यत्वप्रसङ्गात्। एवं च न किञ्चिदपेयमभक्ष्यं वा स्यादिति यत्किञ्चिदेतदिति। अथवा वैदिकमतापेक्षं सुराया जुगुप्सितत्वमिति । उपलक्षणमात्रं चेह वान्तादिग्रहणं, तेन गड्डरिकाकरभी-क्षीरलहसुनपल[ा]ण्डुकाकमांसादीन्यपि वेदसमयगर्हितानीह द्रष्टव्यानि, एवं चाभक्षणीयमेवेदमित्युक्तं भवति। ततोऽस्यैवा-भोज्यत्वसमर्थनार्थं दृष्टान्त उच्यते—एगंमि नगरे एगो सेवगो परिवसइ, तस्सऽन्नया जेट्ठभाया पाहुणगो आगओ। तओ तेण नियमहिलाए मंसमाणिऊण समप्पियं, तं च तीसे घरवावारवावडाए मज्जारेण भक्खियं। तओ तीए भयसंभंतहिययाए अन्नं मंसं अलभमाणाए कप्पडियमडयमंसं साणेण तक्खणगिलिउग्गिलियं दिट्ठं, तं च गहेऊण धोविय संधूविय अन्नवण्णं करिय भोयणत्थमुवट्ठियाणं ताणं परिवेसियं। तेहि य गंधेण नायं, जहा—'वंतमेयं'ति। तओ भत्तुणा रुट्ठेण सा ताडिया अन्नं च रंधाविया, तओ भुत्तं ति। केई भणंति—जहा केणइ मंसासिणा कप्पडिएणं अईसाररोगपीडिएणं मंसखंडाणि वोसिरियाणि, मज्जारेण य मंसे खद्धे भत्तुणो भएण तीए ताणि चेव गिण्हित्ता धोवियाणि, जाव परिवेसियाणि। तओ उवलद्धवुत्तंतेण दारगेण वारिओ जणओ, जहा—अम्माए एयाणि एवं कयाणि, ता ताय? मा भक्खेहि त्ति। तओ तेण सा निब्भच्छिया अन्नं च रंधाविय भुत्तं ति। एवमाधाकर्म्माप्यभोज्यमित्युपनय इति गाथार्थः॥ १६ ॥

उक्तं यादृशमिति द्वारं, साम्प्रतमशने च तस्य ये दोषा इति द्वारं व्याचिख्यासुराह—

दी०—वान्तो-च्चार-सुरा-गोमांसानि प्रतीतानि, तत्समभिदं आधाकर्मेति, इति यस्मादर्थे, यत एभिस्तुल्यं तेन हेतुना 'तद्युक्तं' आधाकर्मखरण्टितं पात्रमपि 'कृतत्रिकल्पं' त्रीन्वारान् धौतं, 'पूर्वं' प्रथमं 'करीषघृष्टं' शुष्क-

गोमयोन्मृष्टं कल्पते, नान्यथेति । अत्र सुराग्रहणं शिष्टानुसारेण, अन्यथा वान्तादीन्यपि कुक्कुराद्यशनाद्भक्ष्याणि स्युः, अतो वान्तादिवत्सर्वथेदं साधुभिस्त्याज्यं । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह–कश्चित्सेवको मिलनायातभ्रातृकृते स्वमहिलाया मांसमर्पयत् । तद्व्यापृतायां मार्जारेण भक्षितं, सा तदभावेन भर्तृभीता मृतकमांसं शुना वान्तं दृष्ट्वा तदेव संस्कृत्य तयोर्ददौ, तौ च गन्धादिना तद्वान्तं विज्ञाय तां च निर्भर्त्स्य नवीनमानीय भुक्तौ । केऽप्याहुः–सा केनाप्यतीसारिणा व्युत्सृष्टं मांसमाप, तच्च बालकेन पितुराख्यातमिति, एवमाधाकर्माप्यभोज्यमिति गाथार्थः ॥ १६ ॥

उक्तं यादृशद्वारं, अथ तदशने ये दोषा इति पञ्चममाह—

कम्मग्गहणेऽइक्कम[1]-वइक्कमा[2] तहऽइयार[3]ऽणायारा[4]। आणाभंग[1]ऽणवत्था[2], मिच्छत्त[3]-विराहणा[4] य भवे ॥१७॥

व्याख्या—'कर्मण' आधाकर्मणो 'ग्रहणं' उपादानं कर्मग्रहणं । इह च 'कर्मग्रहण'मित्युक्तेऽपि "आहाकम्मग्गाही, अहो अहो नेइ अप्पाण"मित्यादाविव भक्षणमित्यपि व्याख्येयं, (+यतः)ग्रहणमात्र एव वक्ष्यमाणदोषासम्भवात् प्रस्तुतद्वारविरोधाच्च । तस्मिन्सति किमित्याह–'अइक्कमे'त्यादि, अतिक्रमव्यतिक्रमौ वक्ष्यमाणलक्षणौ, दोषाविति शेषः, वचनव्यत्ययाद्भवेतामिति वक्ष्यमाणक्रियायोगः । तथाऽतीचारानाचारौ वक्ष्यमाणलक्षणावेव । किमियन्त एव तद्ग्रहणे दोषा भवेयुरुतान्येऽपि ?, उच्यते—अन्येऽपि, यत आह–'आणे'त्यादि, 'आज्ञा'सर्वज्ञवचनं, तस्या 'भङ्गो'ऽतिक्रमणमाज्ञाभङ्गस्तद्ग्रहणे भवेत् । आह च–" आणं सव्वजिणाणं, गिण्हंतो तं अइक्कमइ लुद्धो । आणं चऽइक्क-

+ केवलं अ पुस्तक एवोपलभ्यतेऽयं शब्दः ।

मंतो, कस्साएसा कुणइ सेसं ? ॥१॥" अत्र लुब्ध इति विशेषणं योऽलुब्धो ग्लानादिकारणे यतनया तद्गृह्णाति न स तामतिक्रामतीति ज्ञापयति। तथा आज्ञां चातिक्रामन् कस्य शास्त्रविशेषस्यादेशात् ?, न कस्यापीत्यर्थः, करोति शेषं प्रत्युपेक्षणा-शिरस्तुण्डमुण्डनावश्यकाद्यनुष्ठानं, तद्भङ्गे तस्यव्यर्थत्वादिति भावः १। तथाऽनवस्थाऽन्येषां धर्मविषयेऽनास्था तद्ग्रहणे भवेत्, आह च–" एक्केण कयमकज्जं, करेइ तप्पच्चया पुणो अन्नो। सायाबहुलपरंपर–वोच्छेओ संजमतवाणं ॥१॥" अस्या भावार्थः—एकेनापि साधुना कृतमकार्यमाधाकर्म्मसेवादिलक्षणमवलोक्य करोति 'तत्प्रत्यया'त्तदालम्बनेन पुनरपरोऽपि साधुरकार्यं। ततश्च 'सायाबहुल'त्ति 'सातबहुलत्वात्' सुखाभिलाषित्वात् प्राणिनां, परम्परयैकमकार्यं कुर्वन्तं दृष्ट्वाऽन्यः, तत् प्रत्ययादपर, एवं यावत्सर्वेषामकार्ये प्रवृत्तौ व्यवच्छेदः संयमतपसोः स्यादिति २। तथा 'मिथ्यात्वं' विपर्यस्ताध्यवसायलक्षणं तदपि तद्ग्रहणे भवेत्, यदाह–"जो जहवायं न कुणइ, मिच्छद्दिट्ठी तओ हु को अन्नो ?। वड्ढेइ य मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो ॥ १ ॥" अस्या भावार्थः—यः कश्चित्साधु'र्यथावादं' यथाप्रतिज्ञातं न करोति, साधुना हि प्रव्रज्याग्रहणकाले 'सर्वं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामी'ति वदता प्राणिवधहेतुत्वादाधाकर्म्मापि प्रत्याख्यातमेव, अतस्तद्भुञ्जानेन तेन यथावादो न कृतः स्यादिति मिथ्यादृष्टिस्ततस्तस्मात्सकाशात्, हुर्वाक्यालङ्कारे, कोऽन्यो ?, नान्यः कोऽपि, किन्तु स एवेत्यर्थः, स्यात्, किञ्च–वर्द्धयति च मिथ्यात्वमात्मना +परस्य गृहस्थादेः 'शङ्कां' अहो एतेऽन्यथावादिनः अन्यथाकारिण इत्यादिलक्षणामारेकां× जनयन्निति ३। तथा विराधनाऽऽत्मसंयमोभयप्रवचनविनाशस्तल्लक्षणो दोषस्तद्ग्रहणे,

+ "०मात्मनः" अ. य. । × "०माशङ्कां" अ. ।

लघुवृत्त्या-
द्यदोषस्य
पञ्चमद्वारे-
ऽतिक्रमा-
दीनामा-
ज्ञाभङ्गादी-
नां च निरू-
पणं ।

चः समुच्चये, भवेज्जायेत। यत आह–"खद्धे निद्धे य रुया, सुत्ते हाणी तिगिच्छणे काया। पडियरगाण य हाणी, कुणइ किलेसं च किस्संतो ॥ १ ॥" अस्या अपि भावार्थः—किलाधाकर्म प्रायः प्राघूर्णकस्येव साधोरपि गौरवेण विधीयत इति स्वादुः स्निग्धं च स्यात्, ततश्च 'खद्धे'ति प्रचुरे स्वादुतया स्निग्धे च तस्मिन् भक्षिते सति 'रुजा' ज्वर-विशूचिकादिलक्षणो व्याधिः स्यादनेन चात्मविराधनोक्ता, ततश्च 'सुत्ते'ति सूत्रार्थपौरुष्यकरणात्सूत्रार्थयोर्हानिः स्यात्तथा चिकित्सायां क्रियमाणायां 'कायाः' पृथिव्यादयो व्यापाद्यन्ते। तथा प्रतिजागरकसाधूनां च हानिः सूत्रार्थयोरनेन च संयम विराधनोक्ता। तथा करोति क्लेशं–दीर्घरोगितामित्यर्थः, 'क्लिश्यमानः' पीडामनुभवत्सन्। अनेन चोभयविराधनोक्ता। उपलक्षणत्वाचाहो घस्मरा× अमी सितपटभिक्षव, एतत् शास्त्रकारेण चामीषां सम्यग्भोजनादिविधिर्नोपदिष्टो, येनैते एवमनु-भवन्तीत्यादिलक्षणा प्रवचनविराधनाऽपि द्रष्टव्या इति गाथार्थः ॥ १७ ॥

अथ प्रागुक्तानतिक्रमादिदोषान् व्याख्यातुमाह—

दी०—आधाकर्मग्रहणे अतिक्रमव्यतिक्रमौ तथा अतीचारा-नाचारौ वक्ष्यमाणार्थौ दोषौ स्यातां। किमन्येऽपीत्याह–'आज्ञाभङ्गः' सर्वज्ञवचनातिक्रमः, तथा 'अनवस्था' अन्येषां धर्मेऽनास्था, तथा मिथ्यात्वं, यथोक्ताकरणात्, तथा विराधना आत्मसंयमोभयरूपा, तत्र गौरवादाधाकर्म, तच्च स्निग्धं रोगायेत्याद्यात्मविराधना, तद्योगे संयमस्योभयस्यापि भवेदिति गाथार्थः ॥ १७ ॥ अतिक्रमादीनामर्थमाह—

× "भक्षणशीला" इति पर्यायो भां. पुस्तके।

आहाकम्मामंतण–पडिसुणमाणे अइक्कमो होइ। पयभेयाइ वइक्कम, गाहिए तइएयरो गिलिए ॥१८॥

व्याख्या—'आहाकम्मामंतण'त्ति विभक्तिलोपादाधाकर्म्मणा–पूर्वोक्तशब्दार्थेना'मन्त्रणं' भो यते ! गृहाणेदमिति गृहस्थाभ्यर्थनं, तस्मिन् सति 'प्रतिश्रृण्वति' ग्रहीष्यामीति जल्पति अनिषेधधिया मौनावलम्बिनि वा सति साधौ, किमित्याह–'अतिक्रमो' मनाक् चारित्रधर्म्मोल्लङ्घनं 'भवति' जायते। ततः 'पयभेयाइ'त्ति विभक्तिलोपा'त्पदस्य' चरणस्य भेद-स्तद्ग्रहणार्थं गमनायोत्पाटनं पदभेदः, स आदिर्यस्य तद्ग्रहगमनादेस्तत्पदभेदादि, तस्मिन् विहिते सति यावत्तन्न गृह्णाति तावत्किमित्याह–विशेषेणातिक्रमो–व्यतिक्रमः, पूर्वस्माद्गुरुश्चरणापराध इत्यर्थः। ततो 'गृहीते' पात्रकादौ स्वीकृते सति, आधाकर्मणीति प्रक्रमः, यावन्मुखे न प्रक्षिपति तावद्वसत्यागमनादावपि, किमित्याह–तृतीयो–ऽतिचारोऽतिशयेन चारश्चारित्रलङ्घनमतिचारो, द्वितीयापराधाद्गुरुतरचरणापराध इत्यर्थः। तत 'इतरो'ऽनाचारस्तत्र 'आचारः' कल्पो मर्यादेति यावत्तन्निषेधादनाचारः, तृतीयदोषाद्गुरुतमचारित्रदोष इत्यर्थः। स भवति, क्व सतीत्याह– 'गिलिते' गलरन्ध्रादधः प्रवेशिते, आधाकर्मकवलादाविति प्रक्रमाद्गम्यत इति। केचित्तु ग्रहणं कवलोद्धरणमेव यावद्गिलनं तु मुखे क्षेप इति व्याख्यान्तीति। अत्राह कश्चित्–नन्वतिक्रमादयः प्रस्तुतदोषाः "**पिंडं असोहयंतो, अचरित्ती इत्थ संसओ नत्थि। चारित्तंमि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थीया ॥१॥**" इत्याद्यागमानुसारतः सर्वथा चरणाभावरूपा एव व्याख्यातुं युज्यन्ते, न पुनर्यथा भवद्भिरत्र चरणापराधरूपा व्याख्यायन्ते, नैवं, उत्तरगुणगोचराणामतिक्रमादीनां सूत्रे सर्वथा चरणाभावसम्पादकत्वानभिधानात्, यदाह दशाचूर्णिकृत्–

१ "पिण्डविषयाणां" इति पर्यायः अ।

"शबलयति *विचारणायां मूल[1]गुणेसु आइमेसु तिसु भंगेसु सबलो भवइ। चउत्थभंगे सव्वभंगो, तत्थ अचरित्ती चेव भवइ। उत्तरगुणेसु चउ[2]सु वि ठाणेसु सबलो"त्ति। अत्र भङ्गकास्तत्रत्यप्रक्रमवशादतिक्रमादय एत्रावसेयाः। यद्येवं 'पिंडं असोहयंतो' इत्यादिग्रन्थः कथं नीय[3]ते ?, उच्यते-निश्चयनयाभिप्रायतया उत्सर्गदेशनाविषयतया अभीक्ष्णसेवागोचरतया वा नेतव्योऽयमिति। अपरस्त्वाह-ननु मनसा चरणविषयप्रतिषेवायां गच्छवासिनां प्रायश्चित्तं नोक्तमागमे। यदाह-" जीवो पमायबहुलो, पडिवक्खे दुक्करं ठवेउं जे। कित्तियमेत्तं वहिही, पच्छित्तं दुग्गयरिणी वा ॥ १ ॥" अस्या भावार्थः-मनसा सेविते नास्ति प्रायश्चित्तं, यतोऽयं जीवः प्रमादबहुलः, सदा तस्याऽभ्यस्तत्वादतः प्रतिपक्षेऽप्रमादलक्षणे 'दुक्करं' ति दुष्करं स्थापयितुं 'जे' इति पादपूरणे, किञ्च-कियन्मात्रमयं जीवोऽतिचपलचित्तजनितापराधसम्भवं प्रायश्चित्तं वक्ष्यति ? दरिद्राधमर्ण इवेति। न च प्रायश्चित्ताभणनेऽप्यतिचारसद्भावस्तत्सम्भवे तदभणनस्यानुपपन्नत्वात्। तत्किमिहोच्यते ? गृहस्थेनाधाकर्मनिमन्त्रणे ×तदपरिजिहासोर्मौनावलम्बिनोऽपि साधोरतिक्रमलक्षणश्चरणापराधः। अत्रोत्तरं-मनसा सेविते प्रायश्चित्तं नास्तीति यदुच्यते तत्र तपःप्रभृतिकं प्रायश्चित्तं नास्तीत्यवगन्तव्यं। प्रतिक्रमणादिकन्तु तत्राप्यस्त्येव, मनोदुष्प्रणिधानादौ प्रतिक्रमणादिप्रायश्चित्तस्य सुप्रसिद्धत्वात्। एवं च सति मनोविराधनायां कथं न प्रायश्चित्तं ? कथं च नापराध ? इत्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥ १८ ॥

---

*अत्र "शबल इति" एवं भवितुमर्हतीति मम मतिः। १ मूलगुणेषु प्राणातिपातादिषु यथाक्रमं अतिक्रमादयः संयोज्या इति भावः। २ अतिक्रम-व्यतिक्रम-अतीचार-अनाचाराः, एषु चतुर्ष्वपीत्यर्थः"। ३ "विचार्यते" इति पर्यायाः अ। × आधाकर्मापरित्यक्तुकामस्य।

साम्प्रतं तद्भोजनदोषाधिकार एव यः कथञ्चिदेतद्भुक्त्वा सम्यग्गुरुभ्योऽपुनःकारेणालोच्य प्रायश्चित्तं न प्रतिपद्यते स विराधक एव भवतीत्यावेदयन्नाह—

दी०—' आधाकर्मामन्त्रणं ' तद्दायकाभ्यर्थनं ' प्रतिशृण्वति ' अनिषेधयति सति साधोरतिक्रमो-मनाक् चारित्रोल्लङ्घनं भवति, ' पदभेदादौ ' तद्ग्रहणार्थं चलनादौ व्यतिक्रमः पूर्वस्मादधिकः, ' गृहीते ' स्वीकृते तस्मिंस्तृतीयोऽतीचाराख्यो द्वितीयादधिकः, इतरश्चतुर्थोऽनाचाराख्यस्तृतीयादधिको ' गिलिते ' तस्मिन् भक्षिते स्यात्। अत्र विभक्तिलोपादिकं प्राकृतत्वादिति गाथार्थ ॥ १८ ॥ अथ कथञ्चिदेतद्भुक्त्वा यो नालोचयति स किमित्याह—

भुंजइ आहाकम्मं, सम्मं न य जो पडिक्कमति लुद्धो। सव्वजिणाणाविमुह-स्स तस्स आराहणा नत्थि॥

व्याख्या—यः साधु' भुङ्क्ते ' अभ्यवहरति, किं तदित्याह-' आधाकर्म ' पूर्वोक्तस्वरूपं, सम्यग्भावशुद्ध्या ' न च ' नैव ' य ' इति योजितमेव, ' प्रतिक्रामति ' प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या तद्भोजनात् प्रतिनिवर्त्तते। किं विशिष्टः सन्नित्याह-' लुब्धो ' गृद्धः, अनेन च यः कथञ्चिद्भुक्त्वाऽपि सम्यक्प्रतिक्रामति यश्चालुब्धो ग्लानादिकारणे भुङ्क्ते तस्य व्युदासः कृतो वेदितव्य इति। ' सर्वजिनाज्ञाविमुखस्य ' समस्ततीर्थंकरोपदेशपराङ्मुखस्य तस्य-द्रव्ययतेः, किमित्याह-' आराधना ' सुगतिनिबन्धनसदनुष्ठाननिष्पादना ' नास्ति ' न विद्यत एवेति गाथार्थः ॥ १९ ॥

उक्तमशने तस्य ये दोषा इति पञ्चमद्वारं, साम्प्रतं ' दाने च तस्य ये दोषा ' इति षष्ठद्वारं व्याचिख्यासुराह—

दी०—भुङ्क्ते आधाकर्म यः साधुः, सम्यग्भावाच्च न प्रतिक्रामेत्-प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या गुरोर्नालोचयेत् ' लुब्धो ' गृद्ध-

स्तस्य–द्रव्ययतेः सर्वजिनाज्ञाविमुखस्य आराधना सुगतिहेतुत्वनुष्ठानरूपा नास्तीति गाथार्थः ॥ १९ ॥

उक्तं तदशने दोषद्वारं, अथ षष्ठं तद्दाने दोषाख्यमाह—

जइणो चरणविघाइ-त्ति दाणमेयस्स नत्थि ओहेण। बीयपए जइ कत्थ वि, पत्तविसेसे व होज्ज जओ ।२०।

व्याख्या—'यतेः' साधोः सम्बन्धि 'चरणं' चारित्रं विहन्ति विषमिश्रान्नवत्प्राणान् परिभुक्तं सद्विनाशयतीत्येवं शीलं चरण-विघाति। उपलक्षणं चैतत्तद्दायकाशुभाल्पायुर्बन्धनिबन्धनत्वस्य, तथा च प्रज्ञप्तिसूत्रं–[श. ५ उ. ६ पत्र २२५] "कहण्णं भंते! जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति ?, गोयमा! (तिहिं ठाणेहिं, तंजहा–) पाणे अइवाइत्ता १, मुसं वइत्ता २, तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता ३, एवं खलु जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति।" अस्यार्थः—'कथं' केन प्रकारेण, 'ण'मिति वाक्यालङ्कारमात्रे, भदन्त! 'जीवाः' प्राणिनः "अप्पाउयत्ताए त्ति–अल्पमायुर्यस्यासावल्पायुष्कस्तस्य भावस्तत्ता, तस्यै–अल्पायुष्कतायै, स्वल्पजीवितव्यनिबन्धनमित्यर्थः, अल्पायुष्कतया वा कर्म आयुष्कलक्षणं 'प्रकुर्वन्ति' बध्नन्ति ?। ('पाणे अइवाइत्त' त्ति) प्राणान्–जीवान'तिपात्य' विनाश्य 'मुसं वइत्त'त्ति मृषावादमुक्त्वा 'तहारूवं'ति तथाविधस्वभावं–भक्तिदानोचितपात्रमित्यर्थः 'समणं व'त्ति 'श्राम्यति' तपस्यतीति श्रमणोऽतस्तं 'माहणं व'त्ति मा हनेत्येवं योऽन्यं प्रति वक्ति स्वयं हनननिवृत्तः सन्नऽसौ माहनः, अथवा ब्रह्म–ब्रह्मचर्यं कुशलानुष्ठानं वाऽस्यास्तीति ब्राह्मणोऽतस्तं, 'वा' शब्दौ समुच्चये, 'अफासुएणं'ति न प्रगता 'असवो' असुमन्तो यस्मात्तदप्रासुकं–सजीवमित्यर्थः, तेन, 'अणेसणिज्जेणं'ति

एष्यत इत्येषणीयं-कल्प्यं, तन्निषेधादनेषणीयं, तेन अशनादिना प्रसिद्धेन 'पडिलाभेत्त'त्ति 'प्रतिलम्भ्य' लाभवन्तं कृत्वा। अथ निगमयन्नाह-एवमित्यादि। 'एवं' उक्तलक्षणेन क्रियात्रयेणेति, शेषं सुबोधं। अयमत्र भावार्थः-अध्यवसाय-विशेषादेतत्रयं जघन्यायुःफलं भवति। अथवेहापेक्षिकी अल्पायुष्कता ग्राह्या, यतः-किल जिनागमाभिसंस्कृतमतयो मुनयः प्रथमवयसं भोगिनं कञ्चन मृतं दृष्ट्वा वक्तारो भवन्ति-नूनमनेन भवान्तरे किञ्चिदशुभं प्राणिघातादिकमासेवितं अकल्प्यं वा मुनिभ्यो दत्तं येनायं भोग्यऽप्यल्पायुः संवृत्त इति। अन्ये त्वाहुर्यो जीवो जिनसाधुगुणपक्षपातितया तत्पूजार्थं पृथिव्याद्यारम्भेण १, स्वभाण्डासत्योत्कर्षणादिना २, आधाकर्मादिकरणेन च ३, प्राणातिपातादिषु वर्त्तते तस्य वधादिविरतिनिरवद्यदाननिमित्तायुष्कापेक्षयेयमल्पायुष्कता समवसेया"। अथवेहाप्रासुकादिदानमल्पायुष्कतायां मुख्यं कारणमितरे तु सहकारिकारणे इति व्याख्येयं, प्राणातिपातन-मृषावादनयोर्दानविशेषणत्वात्, तथाहि-प्राणानतिपात्याधाकर्मादिकरणतो, मृषोक्त्वा यथा-भो यते! स्वार्थमिदं सिद्धं भक्तादि, कल्पनीयं चेदं भवतामतो नानेषणीयमिदमिति शङ्का कार्येति। ततः प्रतिलम्भ्य साधून् दातृप्राणिनोऽल्पजीवितव्यनिबन्धनमायुर्बध्नन्तीति। एवमस्य गमनिकामात्रमुक्तं, विस्तरार्थस्तु तद्वृत्तेरवसेयः। अथ प्रकृतमुच्यते-तत्र 'चरणविघाइ त्ति' इति शब्दो हेतौ, तत इति हेतो'र्दानं' साधुभ्यो वितरणं, एतस्य-आधाकर्मणो भक्तादेर्नास्ति-शास्त्रविहितं विवेकिगृहिणां न विद्यते, केन? इत्याह-'ओघेन' उत्सर्गेण-कारणमन्तरेणेत्यर्थः। कारणतस्तु स्यादपीत्यावेदयन्नाह 'बीयपए' इत्यादि, उत्सर्गापेक्षया द्वितीयपदमपवादस्तस्मिन् यदि चेत् कथमपि क्वचिदनिर्वाहादौ तद्दानं भवेत्। अत्र च यदीति ब्रुवाणः कादाचित्कत्वमस्यावेदयति, यतो न संविग्नभावित-

श्रावकाः आगमाभिज्ञत्वात्साधुसंयमबाधापरिहारित्वात्तदुपष्टम्भकत्वाच्च सुयतिभ्य एतद्यथाकथञ्चित्प्रयच्छन्ति, नापि सुयतयो यथाकथञ्चिदेव गृह्णन्ति । यदाह—"कारणपडिसेवा वि हु, सावज्जा निच्छए अकरणिज्जा" । किं सर्वथा ? नेत्याह—"बहुसो वियारइत्ता", कर्त्तव्येतिं शेषः । "अधारणिज्जेसु अत्थेसु ॥१॥" अत्यागाढकारणेष्वित्यर्थः । "जइ वि य समणुन्नाया", सावद्यप्रतिषेवेति प्रक्रमः । "तहवि य दोसो न वज्जणे दिट्ठो । दढधम्मया हु एवं, नाभिक्खनिसेवनिद्दयया ॥२॥" तथा पात्रविशेषः—समग्रगुणयुक्तपात्रं, तद्विषये, वा शब्दोऽशुद्धदानसम्भवप्रकारान्तरसमुच्चयार्थः । यदि तद्दानमिति प्रक्रमो, भवेत्—स्यात् । ननु किं कारणमपवादमेवाश्रित्येदं दीयते, नोत्सर्गतोऽपीत्यत आह—' जओ 'त्ति, यतो—यस्मात्कारणादिदं वक्ष्यमाणं सूत्रमत्र नियामकमस्तीति गाथार्थः ॥ २० ॥ तदेवाह—

दी०—यतेश्चारित्रविघातिस्यादिति हेतोरेतस्याधाकर्मणो दानं विवेकिनां नास्ति 'ओघेन' उत्सर्गेण—कारणं विना, तदेवाह—द्वितीयपदे अपवादाख्ये यदि काप्यनिर्वाहादौ पात्रविशेषे वा तद्दानं भवेत्, नान्यथा, यत इति वक्ष्यमाणोक्ताविति गाथार्थः ॥ २० ॥ तामेवाह—

संथरणंमि असुद्धं, दोण्ह वि गेण्हंतदेंतयाणऽहियं । आउरदिट्ठंतेणं, तं चेव हियं असंथरणे ॥ २१ ॥*

---

१ '०श्चरणविघातीदमिति' इत्यपि प्र० । * समुद्धृतेयं गाथा समानामशीत्यधिके सहस्रेऽणहिलपत्तने श्रीमदुर्लभराजराजसदसि चैत्यवासीन्विजित्य खरतरबिरुदसम्प्रापक—श्रीमज्जिनेश्वरसूरिवरविनेयावतंसैर्नवाङ्गवृत्तिविधानात्खरतरगच्छप्रतिष्ठाप्रापकैराचार्यवर्यैः श्रीमदभयदेवसूरिपादैः पञ्चमाङ्गवृत्तौ पञ्चमाष्टमशतषष्ठोद्देशकयोः क्रमेण २२७—३७३ पत्रयोः ।

कारणविशेषतो दातव्यादातव्ये आतुरदृष्टान्तः।

व्याख्या—'संस्तरणे' प्रासुकैषणीयाहारादिप्राप्त्यैव साधूनां निर्वाहे सति अशुद्धमनेषणीयं गृह्यमाणं दीयमानं, चेति गम्यते। द्वयोरपि, नैकस्य कस्यापीत्यपि शब्दार्थः, गृहीतृदात्रोः—साधुश्रावकयोरित्यर्थः। किमित्याह—'अहितं' अनर्थहेतुत्वादपथ्यं स्यादिति शेषः। उत्सर्गतस्तावदेवं, अपवादतस्तु 'आउरे'त्यादि, 'आतुरो' रोगी, तस्य 'दृष्टान्त' उदाहरणं न्याय इति यावदातुरदृष्टान्तस्तेन, यथा हि रोगिणः कामप्यवस्थामाश्रित्य पथ्यमप्यपथ्यं स्यात्काञ्चित् पुनः समाश्रित्यापथ्यमपि पथ्यं, तथा च भिषक्शास्त्रम्—"उत्पद्यते हि साऽवस्था, देशकालामयान् प्रति। यस्यां कार्यमकार्यं स्यात्, कर्मकार्यन्तु वर्जयेत् ॥ १ ॥" कार्यं-विधेयं, तदप्यकार्यं-न कर्त्तव्यं स्यात्। कर्मकार्यं-कर्त्तव्यक्रियामित्यर्थः। एवमेव 'तं चेव'त्ति तदेवाशुद्धमपि दीयमानं गृह्यमाणं च दातृगृहीत्रोर्हितमवस्थोचितत्वात्पथ्यं स्यात्। क्वेत्याह—'असंस्तरणे' अनिर्वाहे दुर्भिक्षग्लानाद्यवस्थायामित्यर्थः। अयमभिप्रायो—यद्यपि इदमाधाकर्माज्ञाभङ्गाद्यनेकदोषकारणं वर्णितं, तथापि—"सव्वत्थ संजमं सं-जमाउ अप्पाणमेव रक्खेज्जा। मुच्चइ अइवायाओ, पुणो विसोही तया विरई ॥ १ ॥ काहं अच्छित्तिं अदुवा अहीहं, तवोवहाणेसु य उज्जमिस्सं। गणं च नीई व सारविस्सं, सालंबसेवी समुवेइ मुक्खं ॥ २ ॥ सालंबणो पडंतो, अप्पाणं दुग्गमे वि धारेई। इय सालंबणसेवी, धारेइ जइं असढभावं ॥ ३ ॥ अप्पेण बहुमिच्छेज्जा, एयं पंडियलक्खणं। सव्वासु पडिसेवासु, एयं अट्ठपयं विऊ ॥ ४ ॥ न वि किंचि अणुन्नायं, पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं। एसा तेसिं आणा, कज्जे सच्चेण होयव्वं ॥ ५ ॥ धावंतो

१ "नीई य व सार०" य. क. ह.। "नीईए सार०" प.।

उव्वाओ×, मग्गन्नू किं न गच्छइ ? कमेण। किं वा मउई किरिया, न कीरए? असहओ तिक्खं ॥ ६ ॥"
इत्याद्यागमाभिज्ञैर्यथावसरं बहुतरगुणलाभाकाङ्क्षया गृह्यमाणं दीयमानं च न दोषायेति गाथार्थः ॥ २१ ॥

अथ यदुक्तं-' पत्तविसेसे व होज्ज 'त्ति तद्व्याख्यानयन्नाह—

दी०-' संस्तरणे ' शुद्धान्नादिलाभान्निर्वाहे सति अशुद्धं गृण्हतो द्वयोरपि गृहीतृदात्रो-र्यतिगृहस्थयोरहितं-अनर्थहेतुत्वाद्-पथ्यं, ' आतुरदृष्टान्तेन ' रोगिणो ज्ञातेन+, तस्य हि अवस्थाविशेषादन्नमेवापथ्यं पथ्यं च स्यात्, तथा तदेव तयोर्हितं-गुणहेतुत्वात्पथ्यं, क ? ' असंस्तरणे ' दुर्भिक्षग्लानाद्यवस्थास्विति गाथार्थः ॥ २१ ॥ अत्र पात्रविशेषे वेति यदुक्तं तदाह—

भणियं च पंचमंगे, सुपत्तसुद्धऽन्नदाणचउभंगे। पढमो सुद्धो बीए, भयणा सेसा अणिट्ठफला ॥२२॥

व्याख्या-' भणितं च ' प्रतिपादितं च, केत्याह-पञ्चमाङ्गे प्रज्ञप्त्यभिधाने, क स्थाने ? इत्याह-सुपत्तसुद्धऽन्नदाण-चउभंगे 'त्ति, शोभनं ' पात्रं ' दानस्थानं सुपात्रं, तत्र तस्मै वा शुद्धान्नदानं-एषणीयाहारवितरणं सुपात्रशुद्धान्नदानं, तद्विषय'श्चतुर्भङ्गो' विकल्पचतुष्टयं, स तथा, तस्मिन्, किं भणितमित्याह-' पढमो 'इत्यादि, प्रथमः-सुपात्रे शुद्धान्नदानमित्येवं-लक्षण आद्यभङ्गः, शुद्ध-एकान्तेन निर्जराहेतुत्वान्निर्दोषः। द्वितीये-सुपात्रे अशुद्धान्नदानमित्येवंस्वरूपे द्विसङ्ख्यभङ्गके 'भजना' बहुत्तरनिर्जराऽल्पतरपापकर्मबन्धसम्भवाच्छुद्धेर्विकल्पना। शेषौ-कुपात्रे शुद्धान्नदानं कुपात्रेऽशुद्धान्नदानमित्येवं-

× " श्रान्तोऽपि गच्छन् " इति पर्यायः अ.। " उव्वाओ " ह. क.। + " न्यायेन " अ. म.।

लक्षणौ तृतीयचतुर्थभङ्गकावनिष्टफलावेव-*एकान्तेन पापकर्मबन्धहेतुत्वादनीप्सितकार्यप्रसाधकौ, इति शब्दाध्याहारादित्येतद्भणितं। तथा च प्रज्ञप्त्यष्टमशतषष्ठोद्देशकसूत्रम्-

"समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा एसणिज्जेणं फासुएणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ?, गोयमा ! एगंतसो से निज्जरा कज्जइ, नत्थि य से पावे कम्मे कज्जइ "त्ति अस्यार्थः-'श्रमणोपासकस्य' श्रावकस्य 'ण'मिति वाक्यालंकारे 'भदंत !' सकलकल्याणनिलय ! तथारूपं श्रमणं वा 'माहनं वा' ब्राह्मणं वा प्रासुकैषणीयेनाशनादिना 'प्रतिलाभयतो' लाभवन्तं कुर्वतः। 'किं कज्जइ'त्ति किं फलं भवतीत्यर्थः ?, गौतम ! 'एगंतसो'त्ति एकान्तेन निर्जरा क्रियते, 'से'त्ति तस्य श्रमणोपासकस्य 'नत्थि य से'त्ति नास्ति चैतद्यत् 'से' तस्य पापं कर्म 'क्रियते' भवति, अप्रासुकदान इवेति प्रथमभङ्गार्थप्रतिपादकसूत्रार्थः।

द्वितीयभङ्गसूत्रं पुनरिदं-"समणोवासयस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ?, गोयमा ! बहुतरिया निज्जरा कज्जइ अप्पतराए से पावे कम्मे कज्जइ "त्ति अस्यार्थः प्राग्वन्नवरं-'बहुतरिय'त्ति बहुतरा पापकर्मापेक्षया। 'अप्पतराए'त्ति अल्पतरं निर्जरापेक्षया। अयमर्थः-गुणवते पात्रायाप्रासुकादिद्रव्यदाने चारित्रसाधनकायोपष्टम्भो १, जीवघातो २, व्यवहारतस्तच्चारित्रबाधा च ३ भवति। ततश्च चारित्रसाधककायोपष्टम्भान्निर्जरा जीवघातादेश्च पापं कर्म स्यात्। तत्र च

" "०फलावेकान्तेन" ह. क.। + "गोयमा !" अ. ह. क. य.।

लघुवृत्त्या-वुद्गमाद्य-दोषे पात्र-दानयोश्च-तुर्भङ्गी।

स्वहेतोः सामर्थ्यात् पापापेक्षया बहुतरा निर्ज्जरा, निर्जरापेक्षया चाल्पतरं पापं भवति । इह च विवेचका मन्यन्ते–असंस्तरणादिकारणत एवाप्रासुकादिदाने बहुतरा निर्जरा भवति, नाकारणे, *यदुक्त–'संथरणंमि असुद्ध'मित्यादि×, तथा–" नायागयाणं कप्पणिज्जाणं, अन्नपाणाईणं दव्वाणं देसकालसद्धासक्कारसंजुत्तं पराए भत्तीए आयाणुग्गहबुद्धीए संजयाणं दाण "मित्यादि, अन्येत्वाहुरकारणेऽपि गुणवत्पात्रायाप्रासुकादिदाने परिणामवशाद् बहुतरा निर्जरा भवत्यल्पतरं च पापं कर्मेति, निर्विशेषणत्वात्सूत्रस्य परिणामस्य च प्रमाणत्वात् । आह च–" परमरहस्समिसीणं, +समत्तगणिपिडगभरियसाराणं । परिणामियं पमाणं, निच्छयमवलंबमाणाणं ॥ १ ॥ "ति । नन्वेवं धर्मार्थमप्रासुकादिदानं कर्त्तव्यमापन्नमित्यत्रोच्यते–आपद्यतां नाम, भूमिकापेक्षया को दोषः, यतो यतिधर्म्माशक्तस्य गृहथस्य द्रव्यस्तवे प्राणातिपातादिकमुक्तमेव प्रवचने, यच्चोच्यते–'संथरणंमि असुद्ध'मित्यादिना अशुद्धं द्वयोरपि दातृगृहीत्रोरहितायेति, तद्ग्राहकस्य व्यवहारतः संयमविराधनात् दायकस्य च लुब्धकदृष्टान्तभावितत्वेनाव्युत्पन्नत्वेन वा ददतः शुभाल्पायुष्कतानिमित्तत्वात् ।

---

* "यत उक्त." अ. य. । × गाथेयं सम्पूर्णाऽस्यैव ग्रन्थस्यैकविंशतितमा । + पठितसमस्तगणिपिटकसाराणां–अधीतद्वादशांगधारीणां ।

१ पात्रापेक्षया । २ पासत्थाईहिं भाविया ते लुब्धकदृष्टान्तभाविया, कहं ?, ते पसत्था एवं कहंति–जहा लुद्धगो हरिणस्स पिट्ठओ धावइ, हरिणस्स पलायमाणस्स सयं लुद्धगस्स वि जेण तेणप्पगारेण हरिणं अंबेउं(?) वा धायंतस्स सेयं, एवं जहा हरिणो तहा साहू, जहा लुद्धगा तहा सावगा साहू य, अकल्प्यकाण्डप्रहारात्ते पलायन्ति । पासत्था सड्ढे भणंति–जेण तेणप्पगारेण सव्वाइं अलीयाइं भासिऊण तुब्भेहिं कप्पियं अकप्पियं वा स [मप्पियव्वं] इति पर्यायाः अ. "

शुभमपि चाऽयुरल्पं अहितमिह विवक्षितमिति द्वितीयमङ्गप्रतिबद्धसूत्रसङ्क्षेपार्थः ।

तृतीयचतुर्थभङ्गकसूत्रं पुनरिदं–" समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं अस्संजयं अविरयं अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मं फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ?, गोयमा ! एगंतसो से पावे कंमे कज्जइ, नत्थि से कावि निज्जरा कज्जइ"त्ति, प्रतीतार्थं चैतन्नवरं–' असंयतः ' सप्तदशप्रकारसंयमाद्बहिर्भूतस्तथा विविध-मनेकधा द्वादशविधे तपसि रतो विरतस्तन्निषेधादविरतः । तथा प्रतिहतानि स्थितिह्रासतो ग्रन्थिभेदेन, प्रत्याख्यातानि हेत्वभावतः पुनर्वृद्धिनिरोधात्, कर्माणि ज्ञानावरणादीनि येन स तथा, तन्निषेधात् अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, तं, एवं च ' असंजए'त्यादिना निर्गुणः पात्रविशेष उक्तः, ' फासुएण वा अफासुएण वे'त्यादिना तु प्रासुकाप्रासुकादेर्दानस्य पापकर्मफलता निर्जराया अभावश्चोक्तः, असंयमोपष्टम्भस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् । यश्च प्रासुकादौ जीवघाताभावेन अप्रासुकादौ च जीवघातसद्भावेन विशेषः सोऽत्र न विवक्षितः । पापकर्मणो निर्जराया अभावस्यैव चेह विवक्षितत्वादिति तृतीयचतुर्थभङ्गसूचकसूत्रार्थः । एवं तावत्–' सुपत्तसुद्धऽन्नदाणचउभंगे पढमो सुद्धो ' इत्यादिग्रन्थसुखावबोधार्थं सव्याख्यानं सूत्रत्रयमपि निदर्शितं । अत्र च द्वितीयसूत्रभावार्थं अन्ये पुनराहुरकारणेऽपि गुणवत्पात्रायाप्रासुकादिदाने परिणामवशाद्बहुतरा निर्जरा भवत्यल्पतरं च पापकर्मेत्यादिलक्षणमाश्रित्य ' पत्तविसेसे व होज्ज'त्ति प्राक्तन[विंशतितम]गाथाऽवयवार्थो भावनीय इति गाथार्थः ॥ २२ ॥

उक्तं दाने च तस्य ये दोषा इति षष्ठद्वारं, साम्प्रतं यथापृच्छेति सप्तमं द्वारं, तत्र यथा पृच्छा सम्भवस्तथा दर्शयितुमाह—

लघुवृत्ता-
वुद्गमाद्य-
दोषे दान-
पात्रयोश्च-
तुर्भङ्गी ।

दी०-भणितं चैतत्पञ्चमाङ्गे अष्टमशतषष्ठोद्देशके सुपात्रशुद्धान्नदानोपलक्षणे तच्चतुर्भङ्गे, यथा-सुपात्रे शुद्धान्नं १, सुपात्रे अशुद्धान्नं २, कुपात्रे शुद्धान्नं २, कुपात्रे अशुद्धान्नमिति ४। एषां स्वरूपमाह-प्रथमो भङ्गः शुद्धो, निर्जराहेतुत्वात्, द्वितीये 'भजना' शुद्धेर्विकल्पना, बहुतरनिर्जराऽल्पतरपापबन्धात्। शेषौ द्वावनिष्टफलौ, एकान्तेन पापबन्धहेतुत्वादिति गाथार्थः ॥२२॥

उक्तं दानद्वारं, अथ यथापृच्छेति सप्तमं आह--

देसाणुचियं बहुदव्व—मप्पकुलमायरो य तो पुच्छे। कस्स कए केण कयं?, लक्खिज्जइ बज्झलिंगेहिं ॥२३॥

व्याख्या-देशस्य-मालवकादिमण्डलस्यानुचितं-तत्रासम्भवादयोग्यं देशानुचितं, तथा 'बहु' प्रचुरं, किं तदित्याह-'द्रव्यं' शाल्योदनादि, तथा 'अल्पं' एकद्व्यादिमानुषं 'कुलं' गृहं, तथा आदरो-दातुर्भक्तिविशेषकृतः सम्भ्रमः, चः समुच्चये, यदि स्यादिति शेषः 'तो'त्ति ततस्तदनन्तरं तदा वा-तस्मिन्काले, किमित्याह-'पृच्छेत्' प्रश्नं कुर्यात्, केन-प्रकारेणेत्याह-'कस्से'त्यादि, कस्य-किं गृहस्थस्याऽऽहोश्वित्साधोः 'कृते' निमित्तं? तथा केन पुरुषादिना 'कृतं' निष्पादितमिदं शाल्योदनादि द्रव्यमिति प्रक्रमः। एवं च प्रश्ने कृते सति यदि दाता प्राञ्जलस्वभावो भवति तदा कथयत्येव यथा-भवन्निमित्तमेतद्विहितं, अथ मायावित्वात्सत्यं न कथयति तथापि तत् ज्ञायत इति दर्शयन्नाह-'लक्खिज्जइ बज्झलिंगेहिं' ति 'लक्ष्यते' ज्ञायते यदुताशुद्धमिदमिति। कैः कृत्वेत्याह-बाह्यलिङ्गैः सविलक्षहसितपरस्परावलोकनस्खलद्भाषितादिभिर्बहिर्वर्त्तिचिह्नैः, ततश्च साधुभिस्तत्परिहर्त्तव्यमिति। अथ कदाचित्पृष्टे सति दाता रोषं कुर्यात्। का तप्तिर्युष्माकमस्मद्गृहवृत्तान्त-परिज्ञाने इत्यादिकं, साक्षेपवचनं वा किञ्चित् ब्रूयात्ततस्तद्भावमलीकसत्यकोपादिकं ज्ञात्वा गृहीतव्यमिति गाथार्थः ॥ २३ ॥

उक्तं यथापृच्छेति सप्तमद्वारं, साम्प्रतं छलनेत्यष्टमद्वारं व्याख्यातुमाह—

दी०—देशस्य मालवाकादेरनुचितं तत्रासम्भावि 'बहुद्रव्यं' शाल्योदनादि 'अल्पकुलं' स्तोकमानुषादिगृहं 'आदरश्च' दातुर्भक्तिसम्भ्रमो यदि स्याद्त्ततस्तदा वा पृच्छेत्—कस्य कृते इदं ? केन हेतुना पुंसा वा कृतं ? भक्तादीति पृष्टे यदि सत्यं नाचष्टे तथापि लक्ष्यते बाह्यलिङ्गैर्विविधशरीरादिचिह्नैरिति गाथार्थः ॥ २३ ॥ उक्तं यथापृच्छाद्वारं, अथ छलनेत्यष्टममाह—

थोवं ति न पुट्ठं न क-हियं च गूढेहिं नायरो व कओ। इय छलिओ वि न लग्गइ, सुओवउत्तो असढभावो॥

व्याख्या—'स्तोकं' स्वल्पं, द्रव्यमिति गम्यते, इति हेतोरुपलक्षणत्वाद्बह्वपि देशोचितमिति कारणाद्वा 'न' नैव 'पृष्टं' पूर्वोक्तप्रकारेण प्रश्नितं, साधुनेति गम्यते, तथा 'न' नैव कथितं—मायावित्वाद्गृहिभिः साधुना पृष्टमपि न निवेदितं, यथा भवदर्थं कृतमेदिति। 'वा' विकल्पे। तथा 'गूढै' रलक्ष्यस्वभावैः, गृहिभिरिति गम्यते। 'न' नैवादरो—भक्तिविशेषः कृतोऽभ्युत्थानवन्दनप्रसन्नवदनत्वादिसम्भ्रमो 'वा' विकल्पे 'कृतो' विहितः। इत्येवमनेन प्रकारेण 'छलितोऽपि' अशुद्धाहारग्रहणतो गृहिभिर्व्यंसितोऽपि, साधुरिति प्रक्रमः, किमित्याह—'न' नैव 'लगति' अशुद्धाहारग्रहणादिजनितकर्म्मणा सह श्लिष्यति। किंविशिष्टः सन्नित्याह—'श्रुते' पिण्डैषणाध्ययनादौ 'उपयुक्तो' दत्तावधानः—श्रुतोपयुक्तः, सिद्धान्तोक्तपिण्डदोषपरिज्ञानोपायावहितचित्त इत्यर्थः। पुनरपि किंविशिष्ट इत्याह 'अशठभावो' निर्म्मायचित्तपरिणतिरनेन चैतदाचष्टे—यः पिण्डैषणानभिज्ञोऽभिज्ञोऽपि वा प्रमादितयाऽनुपयोगवान् व्यंस्यते, स कर्मणा बध्यत एव, भगवदाज्ञाविराधकत्वात् क्लिष्टपरिणामत्वाच्चेति गाथार्थः ॥ २४ ॥

उक्तं यथा छलना स्यादित्यष्टमद्वारं, अथ कथञ्चिदशुद्धपिण्डग्रहणेऽपि शुद्धिर्यथा स्यात्तद्विपक्षत्वात्तद्ग्रहणेऽप्यशुद्धिश्च यथा स्यादित्येवं लक्षणं नवमद्वारमभिधित्सुराह ।

दी०—स्तोकं देयद्रव्यं, उपलक्षणाद्बह्वपि देशोचितमिति न पृष्टं, पृष्टं चेन्न कथितं मायावित्वाद् गृहिभिस्तथा 'गूढै' रलक्ष्यैस्तैर्नैवादरो वा–भक्तिसम्भ्रमः कृत, इत्येवं 'छलितोऽपि' अशुद्धं ग्राहितोऽपि साधुर्न 'लगति' तज्जन्यकर्मणा न श्लिष्यति, कथम्भूतः ? 'श्रुतोपयुक्तः' एषणाविधिसावधान 'अशठभावो' निर्मायचित्त इति गाथार्थः ॥ २४ ॥

उक्तं छलनाद्वारं, अधुना शुद्धा(? शुद्ध्या)ख्यं नवममाह—

आहाकम्मपरिणओ, बज्झइ लिंगिव सुद्धभोई वि । सुद्धं गवेसमाणो, सुज्झइ खवगोव कम्मे वि ॥२५॥

व्याख्या—'आधाकर्मपरिणतो'ऽशुद्धाहारग्रहणभोजनाऽभिलाषी सन्, भिक्षुरिति गम्यते । किमित्याह–'बध्यते' आधाकर्मभोगप्रभवदारुणकर्मणा श्लिष्यते । क इवेत्याह–'लिङ्गिवत्' तथाविधद्रव्यसाधुवेषधारकपुरुषवत् । अनेन च संविधानकं सूचयति । किंविशिष्टो भिक्षुरित्याह–'शुद्धभोज्यपि' प्रासुकैषणीयाहाराभ्यवहार्यपि, न केवलमशुद्धभोजीत्यपि शब्दार्थः । अनेन च परिणाम एव तत्त्वतः कर्मबन्धकारणमित्याचष्टे । लिङ्गिसंविधानकं चेदम्—

एगम्मि नगरे एगेण सावएणं संघभोज्जं दवावियं । तं च सोऊणं एगो साहू पच्चासन्नगामाओ तग्गहणत्थं सिग्घमागओ । तओ तं भिक्खट्ठमुवट्ठियं दट्ठुं सावएणं भणिया साविया 'देहि एयस्स भिक्खं'ति । तीए भणियं–सव्वंपि तं दिन्नं । तओ तेण भणियं-मम भत्तमज्झाओ देहि । तओ तीए ओयणमोयगाइयं पडिपुन्नं भोयणं दिन्नं, साहुणा य संघभत्तं ति मन्न-

माणेण अइसाउं उक्कोसगं च त्ति मुच्छिएण य तं भुत्तं ति। एवं च सो सुद्धंपि भुंजंतो असु(ह)द्धपरिणामवसेण आहाकम्म-परिभोगदोसजणियकम्मुणा बद्धोत्ति।

अनेन च शुद्धग्रहणेऽपि शुद्धिर्यथा न स्यादित्येतत्प्रतिपादितं, अथाशुद्धग्रहणेऽपि शुद्धिर्यथा स्यात्तथा दर्शयति–'शुद्ध'-मित्यादि, 'शुद्धं' निर्दोषं, पिण्डमिति गम्यते। 'गवेषयन्' आगमनीत्या मार्गयन्, साधुरिति प्रक्रमः, किमित्याह–शुद्ध्यति–विशुद्धपरिणामत्वात्कर्ममलक्षपणतो निर्मली भवति, क इवेत्याह–'क्षपक इव' विकृष्टतपःकर्तृसाधुवत्। अनेनापि संविधानकं सूचयति। क्व सत्यपीत्याह–'कर्म्मण्यपि' आधाकर्मभोगेपीत्यर्थः। न केवलमितरभोग इत्यपि शब्दार्थः। अनेन च परिणामशुद्धिरेव तत्त्वतः कर्मक्षयकारणमित्याह। पठ्यते च 'परमरहस्समिसीण'मित्यादि। क्षपकसंविधानकं चेदं—

एगम्मि सुविहियसाहुगच्छे एगो साहू इहपरलोयनिरासंसो सम्मं अहिगयजिणवयणरहस्सो वोसट्ठचत्तनियदेहो विगिट्ठ-तवोकम्मनिरओ चिट्ठइ। अन्नया य सो खवगसाहू मासक्खवणपारणगनिमित्तं 'मा इहनगरे तवचरणावज्जियलोगाओ अणे-सणा भविस्सइ'त्ति गओ पच्चासन्नगामं। तत्थ य एगाए साविगाए उवलद्धखगतवोकम्मवुत्तंताए मा कयाइ खवगो इह एइ' त्ति संजायदाणसद्धाए घयगुलसंजुत्तं पायसं संसाहियं, तहा 'मा आहाकम्मसंकाए खवगो न गिण्हहि'त्ति माइट्ठाणेण पत्त-पुडयमल्लगाणि पायसखरंटियाणि इओ तओ पक्खित्ताणि डिंभरूवाणि य माइट्ठाणं गाहियाणि, जहा–जया एरिसो साहू इत्था-गच्छइ तया तुब्भे भणेज्जह, जहा–अम्मो! बहुयं पायसं अम्हाणं परिवेसियं, अहं च तुब्भे निब्भच्छिस्सामि। तओ भणिज्जह–किं दिणे दिणे पायसं रंधिज्जइ?, न किंपि कज्जं अम्हं इमिणा, भग्गाइं अम्हे इमस्स त्ति। इत्थंतरे सो खवगो भिक्खं हिंडंतो

लघुवृत्त्या-वाद्यदोष-स्य नवम-द्वारे शुद्ध-ताया अशु-द्धतायाश्च स्वरूपम्।

भवियव्वयावसेण पढमं तीसे चेव घरमागओ, सा य भत्तिभरपूरियनिरंतरहिययावि संवरियागारा अकयसंभमा मोणेणं चेव ठिया। ताणि य माइट्ठाणपन्नवियाणि डिंभरूवाणि तहेव काउमारद्धाणि। तओ तीए ताणि तहेव निब्भच्छिऊण एयाणि ताव मत्तिल्लयाणि न गिण्हंति, जइ तुज्झ रोयइ तो तुमं गिण्ह इमं पायसं ति भणमाणीए तस्स जावणा निमित्तं घयगुलसंजुत्तस्स पायसस्स भायणं भरेऊण आणियं, साहुणा य एसणोवउत्तेणं सुद्धं ति कलिऊण गहियं, तओ पज्जत्तं ति काउं नियत्तो गोयराओ, आगओ य किंचि वि रहपएसं। तत्थ य समालोइयपडिक्कंतो कयतक्कालोचियसज्झायजोगो चिंतिउं पय(त्तो)ट्टो, जहा—जइ एत्थावसरे केइ अद्धाणाइपडिवन्नगा साहुणो एंति, परमन्नगहणेण य मे अणुग्गहं करिंति, तो तारिओ होमि भवन्नवाओ त्ति, इच्चाइ-सुद्धऽज्झवसाणपरो तंमि य विसिट्ठाहारे मासक्खवणपारणगपत्ते वि अमुच्छिओ कड्ढिऊण पंचनमोक्कारं विहीए भुंजिउं पयत्तो। तओ सुहज्झवसायस्स भोयणावसाणे निरावरणं पडिपुन्नं केवलवरनाणदंसणं समुप्पन्नं सिद्धो य कालेणं भयवं खवगकेवलि त्ति॥

इह च परिणामशुद्धिरेव तत्त्वतः कर्म्मक्षयकारणमित्युक्तं, तत्र परिणामशुद्धिरपि सर्वज्ञाज्ञाराधनानुगतैव यथोक्त-फलप्रसाधिका, नान्यथेति मन्तव्यं। यथोक्तं—" भावशुद्धिरपि ज्ञेया, यैषा मार्ग्गानुसारिणी। प्रज्ञापनाप्रियाऽत्यन्तं, न पुनः स्वाग्रहात्मिका॥ १॥ " ततश्च स्वच्छन्दभावपरिहारार्थं आज्ञाभङ्गाभङ्गकारिणां महापायस्वकार्यप्रसाध-कत्वप्रतिपादकमुदाहरणमुच्यते—

एगंमि नगरे एगस्स रन्नो पत्तपुप्फफलसमिद्धपायवगणरमणिज्जाणि दोन्नि उज्जाणाणि अहेसि, तं जहा—चंदोदयं च सूरोदयं च। तत्थ चंदोदयं नगरस्स अवरदिसाए, सूरोदयं पुव्वदिसाए। अह वसंतसमए अंतेउरकीलाकोउगत्थिणा पत्थिवेणं संज्झाए

पडहगदावणपुरस्सरं नियपुरिसेहिं नयरे घोसावियं, जहा—भो भो ! सुणंतु तणकट्ठहाराइणो पुरिसा ! रन्ना समाइट्ठं—अहं पभाए अंतेउरपरिगओ सूरोदये उज्जाणे गमिस्सामि, तं तुब्भेहिं चंदोदये चेव गंतव्वं ति । तओ राया पच्चूसे सूरोदये गमणागमणेसु संमुहो सूरो त्ति कलिऊण चंदोदयं गओ । तं च घोसणं सोउं जे तत्थ दुरप्पाणो सिड्डिगप्पायपुरिसा, ते ' अम्हे दुल्लभदंसणाओ नरिंदमहिलाओ पासिस्सामो' त्ति चिंतिऊण सूरोदयं गया । तत्थ य पत्तलदुमसालासु लिक्किउं ठिया । ते य उज्जाणारक्खियपुरिसेहिं रायाणाभंगकारिणो त्ति गहेऊणं पहया बद्धा य । जे पुण तणहारगाइणो घोसणं सोऊणं चंदोदयं गया, तेहिं सहसापविट्ठाओ दिट्ठाओ वरवसणभूसणधराओ पव्वणिंदुमुहीओ वियसियवरकमलदीहरलोयणाओ निवंगणाओ, तओ तेवि तहेव बद्धा, नयराभिमुहं चलियस्स य अवरण्हे राइणो दंसिया दोवि वग्गा उज्जाणपालएहिं । तओ राइणा पुच्छिऊण तव्वइयरं सूरोदयगामिणो अदिट्ठोवरोहा वि ममाणाभंगकारिणो त्ति वहाविया, इयरे आणाकारिणो त्ति दिट्ठोवरोहा वि विसज्जिय त्ति । एवमित्थ वि तित्थयराणाभंगकारिणो अकयाहाकम्मभोगा वि जम्मजरामरणवेयणानिबंधणदारुणकम्मबंधाइयं महाऽणत्थं पाविंति, इयरे कहिंचि तब्भोगकारिणो वि ताओ मुच्चंति सकज्जपसाहगा य भवंति । भणियं च—" सयलसुरासुरपणमिय–जिणगणहरभणियसमयपरतंता । आराहिऊण सम्मत्त–नाणचरणाइं परमाइं ॥ १ ॥ सत्तट्ठभवग्गहण–ब्भंतरकालंमि केवलं नाणं । उप्पाडिऊण जंति य, विहुयमला सासयं मोक्खं ॥ २ ॥ तत्थ य जरजम्मण–मरण–रोगतण्हाछुहाभयविमुक्का । साइअपज्जवसाणं, कालमणंतं लहंति सुहं ॥ ३ ॥" इति गाथार्थः ॥ २५ ॥

एवं चाज्ञाभङ्गाद्यनेकदोषनिबन्धने आधाकर्म्मग्रहणे प्रतिपादिते सत्याह कश्चित्—

लघुवृत्ता-
वाद्यदोषा-
ष्टमद्वारे प-
रिणामशुद्धे-
र्महत्त्वम् ।

दी०–आधाकर्मपरिणतोऽशुद्धपिण्डार्थी ' बद्ध्यते ' तज्जन्यकर्मणा श्लिष्यते शुद्धभोज्यपि, आस्तामितरः। क इव ? इत्याह–'लिङ्गीवत्' वेषधारकसाधुवत्, तत्कथेयं–कश्चित्साधुरेकस्मिन्नगरे कस्यापि श्रावकस्य गृहे सङ्घभोज्यं श्रुत्वा तीरग्रामाद्रसलोलतया तत्राजगाम, तद्भिक्षार्थं श्रावकप्रेरिता पत्नी 'सर्वमग्रे दत्त'मित्युवाच, ततो 'मम भक्तादपि देही'त्युक्त्वा दापितं सम्पूर्णमिष्टान्नं, सङ्घभक्तधिया विहृत्य बुभुजे, स चैवमशुद्धपरिणामादशुद्धकर्मणा बद्धः। किमशुद्धभोज्यपि शुद्ध्यति ? इत्याह–शुद्धं गवेषयन् 'शुद्ध्यति' कर्ममलक्षयान्निर्मली भवति 'कर्मण्यपि' आधाकर्मभोगेऽपि 'क्षपक इव' उत्कृष्टतपःकर्तृसाधुवत्। तत्कथेयं–यथा कस्मिंश्चिद् गच्छे साधुरेको निरीहस्तपस्वी मासक्षपणान्ते पारणार्थमनेषणीयभयाद् ग्रामान्तरं+ यावस्तत्रैका श्राविका विज्ञाततत्पारणा दानश्रद्धया झटिति कृतपरमान्ना प्रगुणितघृतगुडा आधाकर्माच्छादनाय बहिः क्षिप्तपायसोपलिप्तपत्रादिपुटका 'नित्यं न रोचत इद'मिति शिक्षितक्षीरान्नभोजिबालका तं क्षपकं गृहमायान्तं वीक्ष्य क्षीरान्नपूर्णभाजनं सघृतगुडमुत्पाट्य बालपरिवेशनच्छद्मनाऽभ्युत्थिता तेषां शिक्षावशादगृण्हतां क्षपको जल्पितो–'यदि तव रोचते तदा गृहाणे'त्युक्ते शुद्धधिया विहृत्य तदशुद्धमप्यमूर्च्छितो भुञ्जानो विशुद्धाध्यवसायवशात्तदन्ते केवलज्ञानमाप, एवमसावशुद्धभोज्यपि शुद्धान्वेषणाच्छुद्ध इति गाथार्थः ॥ २५ ॥

अथ त्रिकरणशुद्धस्य साधोराधाकर्मणा को दोषः ? इति पूर्वपक्षयन्नाह—

+ " ०न्तरं ययौ, तत्रैका " क. ज. म.।

नणु मुणिणा जं न कयं, न कारियं नाणुमोइयं तं से।
गिहिणा कडमाइयओ, तिगरणसुद्धस्स को दोसो ? ॥ २६ ॥

व्याख्या–नन्विति प्रश्ने, 'मुनिना' साधुना यदशनादिकं 'न' नैव 'कृतं' स्वयं निष्पादितं तथा 'न' नैव 'कारितं अन्येन निर्वर्तितं तथा 'न' नैवा'नुमोदितं' परेण क्रियमाणं कृतं वा श्लाघितं तदशनादिकं 'से'त्ति तस्य मुनेर्गृहिणा–अगारिणा 'कृतं' निष्पादितं सत् 'आइयओ'त्ति आददानस्य–गृह्णतः, किंविशिष्टस्य मुनेरित्याह–'त्रिकरणशुद्धस्य' मनोवाक्कायैर्निर्दोषस्य सतः 'को दोषः' किं दूषणं ?, न कोऽपीत्यर्थः। अयमत्र प्रेरकाभिप्रायः–इह किल तावज्जीवस्य मनोवाक्कायैः सावद्ययोगकरणादिरूपतया व्यापृतैरेव दोषो जायते, न चैतेषां मध्यादेकमपि साधुसत्कं गृहिणा साध्वर्थं पिण्डे क्रियमाणे व्याप्रियते, अतः कथं तद्ग्रहणे तस्य दोषसम्भवः ? इति गाथार्थः ॥ २६ ॥ अत्रोत्तरमाह—

दी०–नन्विति पूर्वपक्षे, मुनिना यन्न कृतं न कारितं नानुमोदितं, तदाधाकर्म 'से' तस्य गृहिणा कृतमा'ददानस्य' गृण्हतः त्रिकरणशुद्धस्य को दोषः ? इति गाथार्थः ॥ २६ ॥ अत्रोत्तरमाह—

सच्चं तहवि मुणंतो, गिण्हंतो वड्ढए पसंगं से। निद्धंधसो य गिद्धो, न मुयइ सजियं पि सो पच्छा ॥२७॥

व्याख्या–'सत्यं' अवितथमेतदनन्तरोक्तमिति गम्यते। 'तथापि' एवमपि सतीत्यर्थः। 'मुणन्' साध्वर्थमिदं विहितमित्यवगच्छन्, साधुरिति गम्यते, किं कुर्वाण ? इत्याह–'गृह्णन्' स्वीकुर्वन् गृहिणा दीयमानं, पिण्डमिति गम्यते।

लघुवृत्ताद्यदोषाष्टमद्वारे परिणामशुद्धेर्महत्त्वम्।

किं करोतीत्याह–'वर्द्धयति' वृद्धिं नयति। कमित्याह–'प्रसङ्गं' पुनःपुनराधाकर्मकरणप्रसक्तिं, कस्येत्याह–'से'त्ति तस्य दातृगृहिणः, अपरं च तद्ग्रहणे साधुरपि यत्करोति तदाह–'निद्धंधसो' निःशूको–निर्दय इत्यर्थः। च शब्दो दोषान्तरसमुच्चयार्थः। तथा 'लुब्धो' गृद्धः किं करोतीत्याह–'न' नैव 'मुञ्चति' परित्यजति, किं तदित्याह–'सजियं पि'त्ति सजीवमपि–अप्रासुकमपि, न केवलं निर्जीवमित्यपि शब्दार्थः। 'सो'ऽशुद्धाहारग्राही साधुः 'पश्चात्' सकृदपि ग्रहणानन्तरं, अयमत्राभिप्रायः–अकुशलाभ्यासतो निर्द्धन्धसत्वसद्भावात्तत्रैव सदा रतिमान् भवति। यदाह–"करोत्यादौ तावत्सघृणहृदयः किञ्चिदशुभं, द्वितीयं सापेक्षो विमृशति च कार्यं च कुरुते। तृतीयं निःशङ्को विगतघृणमन्यत्प्रकुरुते, ततः पापाभ्यासात्सततमशुभेषु प्ररमते ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ २७ ॥

व्याख्यातं शुद्धिरिति नवमद्वारं, तद्व्याख्यानाच्च व्याख्याता "तं पुण जं जस्से"त्यादिद्वारगाथा, तद्व्याख्यानाच्च व्याख्यात आधाकर्माख्यः प्रथमपिण्डोद्गमदोषः। अथ मूलद्वारगाथाऽभिहितं द्वितीयदोषमौद्देशिकाभिधानं व्याख्यातुमाह—

दी०–सत्यमिदं, तथाप्येवं सति 'मुणंतो' जानन् मुनिस्तथा गृह्णन् कार्मिकं वर्द्धयति 'प्रसङ्गं' नित्यमाधाकर्मकरणप्रसक्तिं 'से' तस्य गृहिणः, स्वयं कथं? इत्याह–'निद्धंधसो य' निश्शूकश्च 'गृद्धो' लुब्धः सन्न मुञ्चति 'सजीवमपि' अप्रासुकमपि साधुः 'पश्चात्' तद्ग्रहणानन्तरमिति गाथार्थः ॥ २७ ॥

उक्तो नवभिर्द्वारैराधाकर्माख्यः प्रथम उद्गमदोषः, अथ द्वितीयमौद्देशिकाख्यमाह—

उद्देसियमोहविभा-गओ य ओहे सए जमारंभे। भिक्खाउ कइवि कप्पइ, जो एही तस्स दाणट्ठा ॥२८॥

व्याख्या—इहौद्देशिकं द्विविधं भवति, तद्यथा-ओघौद्देशिकं विभागौद्देशिकं चेति, एतदेवाऽऽह-'औद्देशिकं' पूर्वोक्तशब्दार्थं, ओघ इति विभक्तिलोपा'दोघत' ओघमाश्रित्य, उद्देशादिवक्ष्यमाणभेदाविवक्षणात्सामान्यत इत्यर्थः। तथा 'विभागतो' विभागमाश्रित्य, उद्देशादिवक्ष्यमाणविशेषविवक्षणाद्विशेषत इत्यर्थः। चः समुच्चये। स्यादिति शेषः। तत्राद्यभेदं विवृण्वन्नाह-'ओहे'त्यादि। 'ओघे' ओघविषयं औद्देशिकं तत्स्यात्, यत्किमित्याह-यत् 'स्वके' स्वकीये-स्वार्थप्रवर्त्तित इत्यर्थः। यदित्यस्य योगो दर्शित एव। कस्मिन्नित्याह-'आरम्भे' अग्निज्वालनस्थाल्यादि[आ]*रोपणादिके पाकादिव्यापारे, किमित्याह-भिक्षाभक्तादिविभागान् '+कत्यपि' कियतीरपि द्वित्रादिकान्, न पुनः समग्राहारमपीत्यपिशब्दार्थः, 'कल्पते' विवक्षयति, काचिद्दात्रीति गम्यते। किमर्थमित्याह-यः कश्चिदनिर्द्धारितस्वरूपः पाषण्डिकादिरेष्यति-आगमिष्यति, तस्य पाषण्डिकादे'र्दानार्थं' वितरणानिमित्तं। इदमुक्तं भवति-यत्काचिदगारिणी क्वचिद्दुर्भिक्षादावनुभूतबुभुक्षादिदुःखा समासादितसुभिक्षभोजनमात्रधना "नादत्तं भुज्यते न चाकृतं फलती"ति भावितमतिः स्वार्थनिष्पाद्यमानाहारमध्याद्यः कश्चिदेष्यति तस्य दानार्थं कतिचिद्भिक्षाः सङ्कल्पयति तदोघौद्देशिकं, एतच्च पिण्डैषणोपयुक्तेन साधुना "दिन्नाओ ताओ पंच-वि+रेहाओ करेइ देइ व गणंती। देह इओ माय! इओ, अवणेह य एत्तिया भिक्खा ॥ १ ॥" इत्यादिदातृचेष्टाभिरवगम्य निस्सन्देहेऽनापृच्छय सन्देहे त्वापृच्छय परिहर्त्तव्यं। विवक्षितभिक्षासु ×च दत्तासु अदत्तासु च अन्योद्धृतासु वा शेषं शुद्धत्वाद् गृहीतव्यमिति गाथार्थः ॥ २८ ॥ उक्तमोघौद्देशिकं, साम्प्रतं विभागौद्देशिकं व्याचिख्यासुराह—

औद्देशिकद्वैविध्यमाद्यस्य च स्वरूपम्।

* °स्थाल्यारो° क. प.। + कियत्यपि प. क. ह।·+ पंच ति° ह.। × °चादत्तासु दत्तासु च अन्यत्रो° अः, च दत्तासु अन्यत्रो° प. क. ह।

दी०—औद्देशिकमोघतो विभागतश्च द्विधा, तत्र 'ओघः' सामान्यतो दातृविकल्पस्तस्मिन्, किमित्याह—यत् 'स्वके' स्वार्थे आरंभे पाकादौ भिक्षाभक्तादिविभागान् 'कल्पयति' कियती अपि कल्पते, काचिद्दात्रीति गम्यं, किमर्थं? इत्याह—यः कश्चिदनिर्दिष्टः पाषंडिकादिरेष्यति तस्य दानार्थमिति स्पष्टं। कल्पितभिक्षादानादूर्द्ध्वं च शुद्धमिति ॥ २८ ॥

उक्तमोघौद्देशिकं, अथ द्वितीयं भेदैराह—

बारसविहं विभागे, चउहुद्दिट्ठं कडं च कम्मं च। उद्देससमुद्देसा—देससमाएसभेएणं ॥ २९ ॥

व्याख्या—'द्वादशविधं' द्वादशप्रकारं 'विभागे' विभागविषयं औद्देशिकं भवतीति गम्यते। द्वादशविधत्वमेव दर्शयति—'चउहुद्दिट्ठ'मित्यादि, चतुर्भिः प्रकारैश्चतुर्द्धा भवति, किं तदित्याह—उद्दिष्टं वक्ष्यमाणलक्षणं, तथा कृतं च वक्ष्यमाणलक्षणं, चः शब्दश्चतुर्द्धेत्यस्यानुकर्षणार्थः, तथा कर्म च वक्ष्यमाणस्वरूपं, चः प्राग्वत्। केन प्रकारेणेत्याह—'उद्देसे'त्यादि, उद्देशं च वक्ष्यमाणलक्षणं, एवं समुद्देशं चादेशं च समादेशं च उद्देशसमुद्देशादेशसमादेशानि, एतल्लक्षणो यो 'भेदः' प्रकारस्तेन। अयमर्थः—विभागौद्देशिकमुद्दिष्ट—कृत—कर्मलक्षणमूलभेदात्त्रिविधं, तदपि प्रत्येकं उद्देश—समुद्देशा—देश—समादेशलक्षणोत्तरभेदाच्चतुर्विधमित्येवमिदं द्वादशविधं भवतीति गाथार्थः ॥ २९ ॥ साम्प्रतं प्रागुद्दिष्टोद्देशादिभेदचतुष्टयं व्याचिख्यासुराह—

दी०—द्वादशविधं तद्विभागे विचार्यमाणे, कथं? इत्याह—'चतुर्द्धा' उद्दिष्टं १ कृतं २ कर्म ३ चेति त्रिभेदमपि चतुष्प्रकारं, कैः? उद्देश—समुद्देश—आदेश—समादेशभेदैर्द्वादशविधमिति गाथार्थः ॥ २९ ॥ उद्देशा×दीनां व्याख्यानमाह*—

× "°शादीनाह" म.। * "व्याख्यामाह" क. प.।

जावंतियमुद्देसं, पासंडीणं भवे समुद्देसं । समणाणं आएसं, निग्गंथाणं समाएसं ॥ ३० ॥

व्याख्या--'जावंतिय' त्ति सूचकत्वा+द्यावदर्थिकानां-समस्तार्थिनां निमित्तं कल्पितं, अशनादीति सर्वत्र गम्यं, भवेत्, किमित्याह-'उद्देशं' औद्देशिकाख्यं । तथा 'पाषण्डं' व्रतं, तद्विद्यते येषां ते पाषण्डिनश्चरकाऽऽदयस्तेषां निमित्तं विवक्षितमशनादि 'भवेत्' स्यादिति क्रियापदं सर्वत्र सम्बन्धनीयं । किमित्याह-'समुद्देशं' समुद्देशसञ्ज्ञं । तथा 'श्रमणानां' निर्ग्रन्थ-शाक्य-तापस-गैरिका-जीविकलक्षणानां निमित्तं कल्पितं भवेत्, किमित्याह-'आदेशं' आदेशिकनामकं । तथा 'निर्ग्रन्थानां' साधूनां कृते कल्पितं भवेत्, किमित्याह-'समादेशं' समादेशाभिधमिति गाथार्थः ॥ ३० ॥

अथ प्रागुद्दिष्टमेवोद्दिष्ट-कृत-कर्मलक्षणं विभागौद्देशिकमूलभेदत्रयं विवृण्वन्नाह-

दी०-'यावन्तिकादीनां' समस्तार्थिनां कृते कल्पितं, भक्तादीति गम्यं, किं स्यात् ? उद्देशाख्यं, पाषण्डिनां-चरकादीनां कृते तदेव समुद्देशाख्यं भवेत्, श्रमणानां-निर्ग्रन्थ-शाक्य-तापस-गैरिका-जीविकानां कृते तच्चादेशाख्यं, निर्ग्रन्थानां-साधूनां कृते तत्समादेशाख्यमिति गाथार्थः ॥ ३० ॥ अथ प्रागुक्तोद्दिष्टादित्रयं विवृण्वन्नाह-

संखडिभुत्तुव्वरियं, चउण्हमुद्दिसइ जं तमुद्दिट्ठं । वंजणमीसाइकडं, तमग्गितवियाइ पुण कम्मं ॥३१॥

व्याख्या--'संखडि'त्ति विभक्तिलोपात्सङ्खड्यां-विवाहादिप्रकरणे 'भुत्तुव्वरियं'ति 'भुक्ते' स्वजनादिभिरभ्यवहृते

+ °त्वात्सूत्रे सद्या° प. । § "धाटिभिक्षाचराः" इति पर्यायः भ. ।

द्वादशविधे विभागौद्देशिके उद्देशादिचतुर्णां स्वरूपम् ।

‘उद्धरितं’ शेषीभूतं भुक्तोद्धरितं यदोदन-तीमन-दधि-मोदकचूर्ण्यादिभक्तं, तत्तदवस्थमेव ‘चतुर्णां’ चतुस्सङ्ख्यानां यावदर्थिक-पाषण्डिक-श्रमण-निर्ग्रन्थानामिति प्रक्रमाद्गम्यते, निमित्तमिति शेषः। ‘उद्दिशति’ मनसा सङ्कल्पयति वाचा वा निर्दिशति, गृहस्थ इति गम्यते, यथा—समस्तभिक्षुकेभ्य इदं दातव्यं पाषण्डिकेभ्यो वेत्यादि, यदित्यस्य योगो दर्शित एव। ‘तं’ ति तद्भक्तं, किमित्याह—‘उद्दिष्टं’ उद्दिष्टौद्देशिकं, ज्ञातव्यमिति शेषः। एतस्य चाकल्प्यता यावदर्थिकाद्यर्थं व्यवस्थापिते तत्र जीवघातसम्भवात्। न चेदमित्थं स्थापनान्तर्भावि, ‘सट्ठाण—परट्ठाणे’त्यादिभिन्नलक्षणत्वात्तस्या + इति। तथा ‘वंजणमीसाइकडं तं’ति ‘व्यञ्जनेन’ दध्यादिना ‘मिश्रं’ संयोजितं—व्यञ्जनमिश्रं, तदादिर्यस्य तद्व्यञ्जनमिश्रादि, यदोदनादीति प्रक्रमः। आदिशब्दश्च स्वगतानेकभेदसूचनार्थो व्याख्येयः। ‘कृतं’ कृतौद्देशिकं तदोदनादि विज्ञेयमिति प्रक्रमः। इदमुक्तं भवति—‘संखडिभुत्तुव्वरियं, चउण्हमुद्दिसइ जं’ इत्यत्राप्यनुवर्त्तते, ततश्च प्रकरणोपभुक्तावशिष्टं यदोदनमोदकचूर्ण्यादिकं ‘व्यञ्जनेन’ दधि—तीमन—विकट—फाणित—निर्भञ्जनघृतादिना तदर्थमेव मिश्रं कृत्वा चतुर्णां यावदर्थिकादीनां अन्यतरनिमित्तमुद्दिशति गृही, यदुत—इदममुकेभ्यो दातव्यमिति, तद्द्रव्यं औद्देशिकमपि सत् करम्बकादिलक्षण-पर्यायान्तरेण कृतत्वात् ‘कृतं’ कृतौद्देशिकमित्यवसेयमिति। तथा ‘अग्गितवियाइ पुण कम्मं’ति ‘अग्नि’र्वह्निस्तत्र तेन वा ‘तापितं’ उष्णीकृतं अग्नितापितं, गुडादीति गम्यते, तदादिर्यस्य तदग्नितापितादि, आदिशब्दात्सचित्त-जल—लवण—राजिकासम्मिश्रदध्यादिपरिग्रहः। पुनः शब्दो भिन्नवाक्योपदर्शनार्थः। ‘कर्म’ कर्मौद्देशिकं ज्ञातव्यं।

+ परम्परादिस्थापनाया भिन्नस्वरूपत्वादिति भावः (पर्यायः अ.)।

अयमत्र भावार्थः–इहापि 'संखडिभुत्तुव्वरियं' इत्याद्यनुवर्त्तते, ततश्च विवाहादिप्रकरणोपयुक्तावशेषं यन्मोदकचूर्ण–मुद्गौदनादिकं तदर्थमेव अग्नितापितगुडादिना पुनर्मोदकादि विधाय मुद्गादीन्वा पुनः संस्कृत्य सचित्तजल–लवणप्रभृति-द्रव्यसम्मिश्रदध्यादिना करम्बकं वा कृत्वा चतुर्णां यावदर्थिकादीनामन्यतरनिमित्तमुद्दिशति, तदौद्देशिकमपि [एतदेव मन्योक्तेन] "आहाए वियप्पेणं, जईण कम्ममसणाइकरणं जं। छक्कायारंभेणं, तं आहाकम्ममाहंसु ॥ ५ ॥" इत्येतल्लक्षणेन देशतः कर्मणा युक्तत्वात् 'कर्म' कर्म्मौद्देशिकं ज्ञातव्यमिति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

व्याख्यात औद्देशिकाख्यो द्वितीयः पिण्डोद्गमदोषः, अथ तमेव तृतीयं पूतिकर्माख्यं व्यचिख्यासुराह––

दी०–'सङ्खड्यां' विवाहादौ भुक्तादुद्वरितं–शेषीभूतं भक्तादि चतुर्णां पूर्वगाथोक्तानां कृते, यदिति सर्वत्र, 'उद्दिशति' मनोवाग्भ्यां निर्दिशति तदुद्दिष्टाख्यं, तदेवोद्वरितं 'व्यञ्जनमिश्रादि' दध्यादिना मिश्रितं कूरादि कृताख्यमुच्यते, अग्निना तापितं गुडादिस्तदादिर्यस्य, आदिशब्दात्सचित्तजललवणादीनां सङ्ग्रहस्तदेवेत्थम्भूतं पुनः कर्माख्यं भवेदिति गाथार्थः ॥ ३१ ॥ उक्तं त्रयोदशधा औद्देशिकं, अथ तृतीयं पूतिकर्माख्यमाह––

उग्गमकोडिकणेण वि, असुइलवेणं व जुत्तमसणाई। सुद्धंपि होइ पूई, तं सुहुमं बायरं ति दुहा ॥३२॥

व्याख्या–उद्गमकोटिरविशुद्धकोटिर्मूलगुणा इत्येकार्थाः, सा चाधाकर्मलक्षणा, यद्वक्ष्यति [अत्रैव]–"इय कम्मं १ उद्देसिय–तिय २ मीस ३ ऽज्झोयरंतिमदुगं च। आहारपूइ १ बायर–पाहुडि १ अविसोहिकोडित्ति ॥ ५३ ॥" तस्या उद्गमकोटेरुपचारादुद्गमकोटिदोषयुक्ताहारस्य 'कणो'ऽवयव उद्गमकोटिकणस्तेनापि, न केवलं बहुने-

त्यपि शब्दार्थः । 'असुइलवेण व'त्ति 'वा' शब्दस्येवार्थत्वादशुचिलवेनेव-विष्ठाऽवयवेन यथा 'युक्तं' मिलितं, किं तदित्याह-'अशनादि' भोजनपानादि । किंविशिष्टमपि सदित्याह-'शुद्धमपि' पूर्वावस्थायां सर्वथा दोषरहितमपि सत्, आस्तामशुद्धमित्यपि शब्दार्थः । 'भवति' जायते । किमित्याह-'पूति' अपवित्रं-सदोषमित्यर्थः । एवं सामान्येन पूतिदोषमभिधायाथ भेदतस्तमाह-'तं सुहुम'मित्यादि, 'तं'ति तत्पूति 'सूक्ष्मं' अल्पदोषत्वाच्छ्लक्ष्णं तथा 'बादरं' बहुदोषत्वेन स्थूलं । इत्यमुना प्रकारेण 'द्विधा' द्विप्रकारं भवतीति प्रक्रम इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ अथ तद्द्विविधमपि व्याख्यातुमाह--

दी०-'उद्गमकोटि'रुद्गमदोषदशकविभागोऽत्रैवोद्गमदोषान्ते वक्ष्यमाणस्तद्दोषयुक्ताहारस्य 'कणो'ऽवयवस्तेनापि, आस्तां बहुना, अशुचिलवेनेव, युक्तमशनादि, शुद्धमपि भवति 'पूति' अपवित्रं, एवं सामान्येनोक्त्वा भेदस्तदाह-तत्पूति सूक्ष्मं बादरं च द्विधेति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ अथ द्वैविध्यमाह--

सुहुमं कम्मियगंधऽग्गि-धूमबप्फेहिं तं पुण न दुट्ठं । दुविहं बायरमुवगरण-भत्तपाणे तहिं पढमं ॥३३॥

व्याख्या-'सूक्ष्मं' बादरेतरं पूति स्यादिति शेषः, कैरित्याह-कार्मिकगन्धाग्निधूमबाष्पैः । 'कार्मिकं' आधाकर्मिकं 'गन्धश्च' भक्तादिसत्का घ्राणिः, 'अग्निश्च' वह्निः 'धूम'श्चाग्नीन्धनसम्पर्कजो वस्तुविशेषो 'बाष्प'श्चोष्णभक्तादेरूष्मा गन्धाग्निधूमबाष्पाः, कार्मिकस्य गन्धाग्निधूमबाष्पाः कार्मिकगन्धाग्निधूमबाष्पास्तैः । अयमर्थः-शुद्धमप्यशनादिकमाधाकर्मिकभक्तादिगन्धबाष्पाग्निधूमैः सह मिलितं सूक्ष्मपूति स्यादिति । आह-यद्येवं तर्हि नास्त्येव किञ्चिदपूति, एकत्रोत्पन्नैरपि तैर्विशीर्यैतश्चेतश्च गमनतः सर्वलोकभक्तादिव्याप्तेरित्याशङ्क्याह-'तं पुण न दुट्ठं'ति 'तत्' सूक्ष्मं पूति 'पुन'र्विशेषणे 'न' नैव 'दुष्टं' दोषकारि, किन्तु

प्ररूपणामात्रमेवैतन्न पुनः परिहार्यं, आचीर्णत्वादशक्यपरिहारत्वाच्चेति भावना । अथ बादरपूतिविवरणायाह–'दुविह' मित्यादि, 'द्विविधं' द्विप्रकारं 'बादरं' स्थूलं पूति स्यादिति प्रक्रमः । द्विविधमेवाह–'उवगरणभत्तपाणे'त्ति, राध्यमानस्य दीयमानस्य वा अशनादेर्यदुपकुरुते तदुपकरणं चुल्यादि, तच्च भक्तपाने च उपकरणभक्तपानं, 'तस्मिन्'तद्विषयं-उपकरणविषयं भक्तपानविषयं चेत्यर्थः । तत्राद्यं भेदं व्याचिख्यासुः प्रस्तावनामाह–'तहिं पढमं' ति 'तत्र' तयोर्मध्ये 'प्रथमं' आद्यमुपकरणपूत्यभिधानं एवं स्यादिति शेषः, इति गाथार्थः ॥ ३३ ॥ यथा स्यात्तथैव दर्शयति–

दी०–सूक्ष्माख्यं पूति स्यात्, कैः ? कार्मिकगन्धाग्निधूमबाष्पैः प्रतीतैः, तत्पुनर्न दुष्टं, अशक्यपरिहारत्वादाचीर्णं । बादराख्यमाह–द्विविधं बादरं पूति–उपकरणविषयं भक्तपानविषयं च, तयोः प्रथममाहेति गाथार्थः ॥ ३३ ॥

कम्मियचुल्लीभायण-डोवठियं पूइ कप्पइ पुढो तं। बीयं कम्मियवग्घार-हिंगुलोणाइ जत्थ छुहे ॥३४॥

व्याख्या–'कार्मिका' आधाकर्मिकाः 'चुल्ली' चाधिश्रयणी 'भाजनं च' स्थाल्यादि 'डोवश्च' चट्टुकश्चुल्लिभाजनडोवाः, कार्मिकाश्च ते चुल्लिभाजनडोवाश्च कार्मिकचुल्लिभाजनडोवाः । उपलक्षणं चैते कडुच्छुकोदूखलिकादीनां, तेषु 'स्थितं' गतं, शुद्धमप्यशनादीति गम्यते । किमित्याह–'पूति' पूर्वोक्तशब्दार्थं स्यादिति शेषः । ततश्च साधूनां ग्रहीतुं तन्न कल्पते । किं सर्वथा ? नेत्याह–'कप्पइ पुढो तं'ति 'कल्पते'ग्रहीतुं युज्यते 'पृथग्' विभिन्नं–स्वयोगेनान्यत्र सङ्क्रान्तमित्यर्थः, तदुपकरणपूति । अथ भक्तपानपूतिस्वरूपमाह–'बीय'मित्यादि, द्वितीयं–भक्तपानविषयं पूति तत्स्यादिति प्रक्रमः । यत्र किमित्याह–'कम्मिये'त्यादि, कार्मिका–न्याधाकर्मिकाणि वाघारहिङ्गुलवणादीनि, अत्र समासः सुकर एवेति न दर्शितः । यत्र शुद्धेऽ-

प्यशनादौ 'छुहे'त्ति 'क्षिपति' संस्कारार्थं मध्ये प्रवेशयति, तत्र वाघारो हिङ्ग्वादिदहनसमुत्थो धूमः, हिङ्गुलवणे प्रतीते, नवरं–आधाकर्मिकत्वं हिङ्गुद्रव्यस्य स्वार्थनिष्पन्नमुद्गादिभक्तसंस्कारार्थं सचित्तोदकेन साधुनिमित्तं द्रवीकृतस्य, लवणस्य तु तदर्थमेव चूर्णितपरिणामितस्येत्यादिगमेन भावनीयं । आदिशब्दाज्जीरकादिपरिग्रह, इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ तथा–

दी०–कार्मिकार्थं चुल्लीभाजने प्रतीते, डोवश्चट्टुकः, उपलक्षणत्वादन्यदपि कार्मिकोपकरणं, तेषु स्थितं–तद्गतं शुद्धमपि भक्तादि उपकरणपूत्याख्यं वर्ज्यं, किं सर्वथा? नेत्याह–कल्पते तत् 'पृथग्'विभिन्नं–स्वयोगेनान्यत्र सङ्क्रामितमित्यर्थः । द्वितीयमाह–'द्वितीयं' भक्तापानाख्यं पूति तत्स्यात्–यत्र कार्मिकवग्घारहिङ्गुलवणादीनि क्षिपेद्दाता संस्कारायेति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

एतदेवाह––

कम्मियवेसण धूमिय-महव कयं कम्मखराडिए भाणे । आहारपूइ तं कम्म-लित्तहत्थाइ छिक्कं च ॥ ३५ ॥

व्याख्या–'कार्मिकवेसनेन' तप्तघृतादिक्षिप्तकुस्तुम्बुरुणा, उपलक्षणत्वाद्राजिकादिना च 'धूमितं' स्फोटितं सन्धूमितमिति यावत्, कार्मिकवेसनधूमितं यत्पेयादीति गम्यते । अथवेति प्रकारान्तरद्योतनार्थः । 'कृतं' स्वार्थं निष्पादितं स्थापितं वा यदशनादीति गम्यते । क्वेत्याह–'कम्मखराडिए भाणे'त्ति 'कर्मखरण्टिते' आधाकर्मलिप्ते 'भाणे'त्ति भाजने स्थाल्यादिके । तत्किमित्याह–'आहारपूति'भक्तपानपूति स्यादिति शेषः, तत्पूर्वोक्तमशनादिकं । न केवलमेतदेव, किन्तु 'कर्म्मलिप्तहस्तादिस्पृष्टं च' आधाकर्मखरण्टितकर-करोटिकादिछुप्तं च । 'च' शब्द उक्तसमुच्चयार्थ, इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

अथ दातृगृहभाजनविषयपूतिविभागं साधुपात्रकल्प्याकल्प्यविधिं चाभिधित्सुराह––

दी०---'कार्मिकवेशनेन' तप्तघृतराजिकादिक्षेपादिना धूमितं, अथवा कार्मिकखरण्टिते भाजने 'कृतं' निष्पादितं स्थापितं वा तद्भक्तादि आहारपूतिरुच्यते, न केवलं तत्, कार्मिकलिप्तहस्तादिस्पृष्टं चेति गाथार्थः ॥ ३५ ॥ अत्र विशेषमाह---

पढमे दिणम्मि कम्मं, तिण्णि उ पूइकयकम्मपायघरं। पूइ तिलेवं पिढरं, कप्पइ पायं कयतिकप्पं॥३६॥

व्याख्याः-'प्रथमे' आद्ये-यत्राधाकर्मणः पाको विहित इत्यर्थः। 'दिने' दिवसे 'कर्म' आधाकर्मिकं। 'तिण्णि उ'त्ति 'त्रीणि' त्रिसङ्ख्यानि दिनानि पुनः 'पूति' पूत्यभिधानं स्यादिति शेषः। किं तदित्याह-'कयकम्मपायघरं'ति 'कृतो' विहितः 'कर्मण' आधाकर्माहारस्य 'पाको' रन्धनं यत्र तत्कृतकर्मपाकं, तच्च तद्गृहं चेति कृतकर्मपाकगृहं। तथा 'पूति' अपवित्रं स्यादिति वर्त्तते। किं तदित्याह-'तिलेवं पिढरं'ति 'त्रय'स्त्रिसङ्ख्या 'लेपा' भक्तादिदिग्धतारूपा यस्य तत्त्रिलेपं 'पिठरं' स्थालिका। अत्र वृद्धसम्प्रदायः-जम्मि य भायणे कम्मियं रद्धं तम्मि अकयतिकप्पे जइ गिही अप्पणो अट्ठाए रंधइ तो तं पूइं, पुणो बीयवाराए जं रंधइ तं पि पूइं, पुणो वि तइयवाराए जं रंधइ तं पि पूइं, चउत्थवाराए सुद्धं ति। अह अहाभावेण गिही निरवयवे वारतियं कप्पिए रंधइ तो पढमवेलाए वि सुद्धं चेव त्ति। इह चाधाकर्मपाकानन्तरं स्वार्थं वारत्रयं भक्तरन्धनेन यत्स्थालिकायाः खरण्टनत्रयं सम्पद्यते तल्लेपत्रयमभिप्रेतमतस्तदन्विता स्थालीका तदुपसंस्कृतं भक्तं च पूति भवतीति भावार्थः। अतः कार्मिकपाकगृहे दिनचतुष्कं न प्रवेष्टव्यं, परं "×अतरंताई जोग्गा-सईए+गिण्हंति

× अनिर्वाहादौ, आदिशब्दाद्बालग्लानादिग्रहः। + शुद्धाभावे।

तत्थ पविसेउं। *अन्नमहाणसुवक्खड, जं वा सन्नी सयं भुंजे ॥१॥" तथा 'कल्पते' परिभोक्तुं युज्यते, साधूनामिति गम्यते 'पात्रं' स्वभाजनं, पूतिभक्तादिलिप्तमिति द्रष्टव्यं। किंविशिष्टं सदित्याह–'कृता' विहिता अङ्गुलिप्रोञ्छनकरीषोद्वर्त्तनादूर्ध्वमिति द्रष्टव्यं, 'त्रय'स्त्रिसङ्ख्याः 'कल्पा' जलक्षालनरूपा यस्य तत्कृतत्रिकल्पमिति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

व्याख्यातः पूत्याख्यस्तृतीयः पिण्डोद्गमदोषः, अथ तमेव मिश्रजाताख्यं चतुर्थं व्याख्यातुमाह–

दी०–प्रथमे दिने 'कर्म' कार्मिकं, त्रीणि दिनानि तु पूति स्यात्, किं तदित्याह–कृतकार्मिकपाकं गृहं, तत्र दिनचतुष्टयं न विहर्त्तव्यं, तथा त्रिलेपं पिठरं स्थाल्यादि, इह कार्मिकपाकानन्तरं स्वार्थं वारत्रयं भक्तरन्धनेन अकृतत्रिकल्पस्य स्थाल्यादेः खरण्टनत्रयं त्रिलेपमाहुः, चतुर्थलेपे तु न पूतिरिति भावः। कृतत्रिकल्पे प्रथममेव शुद्ध्यति। तथा कल्पते यतीनां 'पात्रं' स्वभाजनं, पूतिभक्तादिलिप्तमिति गम्यं, कृतत्रिकल्पं–अङ्गुलीप्रोञ्छनकरीषोद्वर्त्तनादूर्द्ध्वं कृतास्त्रयः कल्पा–जलक्षालनरूपा यत्र तत्तथेति गाथार्थः ॥ ३६ ॥ उक्तं पूतिकर्म, अथ चतुर्थं मिश्रजाताख्यमाह–

जं पढमं जावंतिय-पासंडिजईण अप्पणो य कए। आरभइ तं तिमीसं ति, मीसजायं भवे तिविहं ॥३७॥

व्याख्या–'जं'ति यदोदनादि 'प्रथमं' आदित एव अग्निसन्धुक्षणा+धिश्रयणदानादेः प्रभृतीत्यर्थः, आरभेत× तन्मिश्रजातं भवेदिति सम्बन्धः। किमर्थमित्याह–'जावंतिये'त्यादि 'यावदर्थिकाश्च' समस्तभिक्षुकाः 'पाषण्डिनश्च§'

---

* अन्यमहानसोपस्कृतं, तदभावे तु यत् ['संज्ञी'] श्रावकः स्वयं भुङ्क्ते तन्महानसोपस्कृतमपि गृह्णन्ति (पर्यायाः अ.)।
+ ०णाद्रहणदा० प. क. ह. अ.। × आरभते प. क. ह. अ.। § पाषण्डिकाश्च प. क. ह.।

सामान्यतो व्रतधारिणो 'यतयश्च' साधवो यावदर्थिकपाषण्डिकयतयस्तेषां, न केवलमेतेषामेव, किन्त्वात्मनश्च—स्वस्य, 'च' उक्तसमुच्चये 'कृते'ऽर्थे—निमित्तमित्यर्थः । 'आरभते' कर्तुमुपक्रमते, गृहस्थ इति गम्यते । 'तत्' प्रागुक्तमोदनादिकं निष्पन्नं सत् 'तिमीसं ति'त्ति 'त्रिभिः' पूर्वोक्तैर्यावदर्थिकादिभिः, श्रमणानां पाषण्डिषु प्रवेशात्, मिश्रं—साधारणं त्रिमिश्रमिति कृत्वा मिश्रजातं पूर्वोक्तशब्दार्थं 'भवेत्' स्यात् 'त्रिविधं' त्रिप्रकारं—यावदर्थिकमिश्रजातं १, पाषण्डिमिश्रजातं २, साधुमिश्रजातं ३ चेत्यर्थः । स्वगृहमिश्रजातमिति क्वापि तृतीयभेदस्य संज्ञान्तरं दृश्यते, तत्राप्ययमेवार्थ इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

अभिहितो मिश्रजाताख्यश्चतुर्थः पिण्डोद्गमदोषः, साम्प्रतं तस्यैव स्थापनाभिधानस्य पञ्चमस्यावसरः, स्थापना च आधार-द्रव्य-कालोपाधिभेदात्त्रिधा सम्भवति, पुनरेकैका स्वस्थान-परस्थान-परम्परा-नन्तर-चिरे-त्वरभेदाद्द्विधेत्यतस्तान्सप्रतिभेदान्दर्शयन्नाह—

दी०—यद्भक्तादि 'प्रथमं' आदित एव 'यावन्तिकाः' समस्तभिक्षार्थिनः १ 'पाषण्डिनः' समान्येन व्रतधारिणो २ 'यतयः' साधवः ३, तेषामात्मनश्च कृत 'आरभते' पाकायोपक्रमते, तत्त्रिभिरेभिर्मिश्रमिति कृत्वा मिश्रजातं त्रिविधं भवेदिति गाथार्थः ॥ ३७ ॥ उक्तं मिश्रजातं, अथ पञ्चमं स्थापनाख्यमाह—

सट्ठाण परट्ठाण-परंपराणंतरं चिरित्तरियं । दुविह तिविहा वि ठवणा-सणाइ जं ठवइ साहुकए ॥३८॥

व्याख्या—स्वस्थानं च चुल्ल्युखादि, परस्थानं च × सुस्थितछब्बकादि, स्वस्थान-परस्थानं, तस्मिन्, यदशनादिकर्मता-

× "च बोहियउं छाबडउं" इति टिप्पितं अ. पुस्तके, तदेव वृत्तितयोल्लिखितं प. ह. प्रतिकृतयोः ।

उद्गमषोडशके पूतिलिप्तस्याकृतत्रिकल्पस्य, पात्रस्याप्यकल्प्यता ।

॥ ३६ ॥

पन्नं साधुकृते गृहस्थः स्थापयति तत्स्थापनेति योगः । अनेन चाधारोपाधिकं स्वस्थानस्थापना परस्थानस्थापना चेति स्थापनायाः सिद्धान्तप्रसिद्धं भेदद्वयं दर्शितं, यदाह–"सट्ठाणपरट्ठाणे, दुविहं ठवियं तु होइ नायव्वं ।" । किंविशिष्टं तदशनादि स्थापयति ? इत्याह–'परंपराणंतरं'ति अपरापरदध्यादिपर्यायसन्तानः परम्परः, स यस्य क्षीरादेर्विद्यते तत्परम्परसम्बन्धात्परम्परं । तथा न विद्यते 'अन्तरं' पर्यायान्तरलक्षणो विशेषो यस्य तदनन्तरं घृतादि । ततश्च परम्परं चानन्तरं च परम्परानन्तरं–तत्परम्पररूपमनन्तररूपं चेत्यर्थः । अनेन च द्रव्योपाधिकं परम्परस्थापना अनन्तरस्थापना चेति ग्रन्थान्तराभिहितं स्थापनाभेदद्वयमुक्तं । तथा 'चिरित्तरियं'ति 'चिरं च' प्रभूतकालं 'इत्वरं च' स्वल्पकालं चिरेत्वरं तत् । अनेन च कालोपाधिकं चिरस्थापना इत्वरस्थापना चेति सिद्धान्तोक्तं स्थापनाया द्वैविध्यं प्रदर्शितं । इत्येवं सा 'द्विधा' स्वस्थानादिभेदेन द्विप्रकारा । 'त्रिधाऽपि' प्रकारत्रयेणापि, न केवलमेकधा द्विधा वेत्यपि शब्दार्थः । अयमत्र भावार्थः–प्रत्येकं सकलस्थापितभेदसङ्ग्रहात् स्वस्थानस्थापना परस्थानस्थापना चेत्येवं, परम्परस्थापना अनन्तरस्थापना चेत्येवं वा चिरस्थापना इत्वरस्थापना चेत्येवं वा द्विविधा स्थापना भवतीति । स्थापनं स्थापना–न्यसनमित्यर्थः, भवतीति शेषः, अशनादि–भोजनपानादि यदनिर्दिष्टस्वरूपं किञ्चित्स्थापयति–न्यस्यति–धारयतीत्यर्थः, गृहस्थ इति गम्यते, साधुकृते-यतिनिमित्तमिति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ अथ स्वस्थानादिस्वरूपं विभणिषुराह—

दी०–स्वस्थानं भक्तपाकस्य चुल्ल्यादि, परस्थानं छब्बकादि, तस्मिन् अशनादि यत्स्थापयति साध्वर्थं सा स्थापना, तच्च कथम्भूतं ? परम्परं क्षीरादि अनन्तरं घृतादि, तच्च तदिति समासः । तथा चिरेत्वरं–बहुकालाल्पकालभेदात्, एवं

स्थापना स्वस्थानादिभेदेन त्रिधाऽपि प्रत्येकं द्विधा भवतीति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ अथ स्वस्थानादिस्वरूपमाह—

चुल्लुक्खाइ सट्ठाणं, खीराइ परंपरं घयाइयरं । दवट्ठिई जाव चिरं, अचिरं तिघरंतरं कप्पं ॥३९॥

व्याख्या–'चुल्लि'श्चाधिश्रयणी 'उखा च' स्थाली चुल्ल्युखे, ते आदी यस्या×वचुल्लकादेराधारभूतवस्तुनः तच्चुल्ल्युखादि, किमित्याह–'स्वस्थानं' निजाश्रयो, भण्यत इति शेषः । अयमत्र भावार्थः–भक्तपाकस्य स्वस्थानं द्विधा भवति–स्थानस्वस्थानं भाजनस्वस्थानं च । तत्र चुल्ल्यादिकं तिष्ठत्यस्मिन् स्थाल्यादीति स्थानमाधारस्तद्रूपं स्वस्थानं स्थानस्वस्थानमुच्यते । स्थाल्यादिकं तु भाजनस्वस्थानमिति । सुस्थितादिकं छब्बकवारकादिकं च परस्थानमुच्यत इति स्वयमेव द्रष्टव्यं, सुज्ञानत्वाच्च गाथायां नोक्तमिति । स्थापनायोजना तु प्राग्दर्शितैवेति । तथा 'खीराइपरंपर'त्ति क्षीरादि–दुग्धेक्षुरसप्रभृतिद्रव्यं, किमित्याह–दधि-प्रक्षण-कक्कवादिपर्यायपरम्पराऽन्वितत्वात्परम्परं भण्यत इति शेषः । अयमर्थः–क्षीरादिविकारद्रव्येषु परम्परास्थापनाऽपि स्यात् । कथमिति चेदुच्यते–किल काचिदगारिणी केनापि साधुना क्षीरं याचिता सती क्षणान्तरे दास्यामित्यभ्युपगम्य समयान्तरे तत्सम्प्राप्तौ अन्यत्र लब्धदुग्धं साधुं प्रत्युवाच, यदुत–गृहाणेदं, तेन चोक्तं–लब्धं मयाऽन्यत्र प्रयोजनोत्पत्तौ तु युष्मदीयमपि गृहीष्ये । एवं चाकर्ण्य सा ऋणभीतेव अद्य तावत्साधुर्न गृह्णाति (ग्रन्थाग्रं १०००), दातव्यं चेदं मयाऽस्मायन्यथा साधुऋणं दुर्मोक्षमिह परत्र च भविष्यति, न चेदमित्थमेव धर्तुं शक्यते, विनश्वरत्वात्ततो दधि कृत्वेदमागामिनि दिने दास्यामीति विचिन्त्य स्थापनाश्चकार । ततो द्वितीयदिने दधि

× प. ह. अ. पुस्तकेष्वेवंविधः पाठः, क. प. पुस्तकयोस्तु " यस्य चुल्ल्युखादेरा. " इति पाठः ।

उद्गमषोडशके स्वस्थानस्थापनादेः स्वरूपम् ।

दीयमानं साधुना नेष्टं, ततो नवनीतदानबुद्ध्या पुनः स्थापनामकार्षीः, एवं मन्थु×दानबुद्ध्या, एवं तक्रदानबुद्ध्या इत्येवं परम्परस्थापनाऽपि क्षीरे स्यादेवमिक्षुरसादिष्वपि यथासम्भवं वाच्यमिति । तथा 'घयाइयरं'ति 'घृतादि' घृतगुडप्रभृति-कमविकारिद्रव्यं, किमित्याह–'इतरद्' अनन्तरं भण्यते–घृताद्यविकारिद्रव्येष्वनन्तरस्थापनैव स्यादित्यर्थः । तथा 'दव्वट्ठिई जाव चिरं'ति द्रव्यस्य घृतगुडादेः 'स्थिति'र्विवक्षितपर्यायेणावस्थानं द्रव्यस्थितिस्तां यावन्मर्यादीकृत्य 'चिरं' चिर-स्थापितमित्यर्थः । भण्यत इति प्रक्रमः । तच्चोत्कृष्टतो देशोनामपि पूर्वकोटिं यावत्सम्भवतीति । तथा 'अचिरं तिघरंतरं कप्पं'ति 'अचिरं' इत्वरस्थापितं भण्यते, किं तदित्याह–'त्रिगृहान्तरं' गृहत्रयान्तरालवर्त्तिद्रव्यं । इदमुक्तं भवति–पङ्क्ति-स्थितगृहत्रयमध्यादेकस्मिन् गृहे साधुसङ्घाटकस्य भिक्षां जिघृक्षोस्तदपरतृतीयगृहादेकस्यापि साधोर्दृष्टिविषयभूतात्तद्दानार्थं यत्स्वहस्तस्थापितं कश्चिद् भक्ताद्यानयति तदित्वरस्थापितं, एतच्च प्रज्ञापनामात्रेणैवैवमुच्यते, न पुनः परिहार्यं, अत एवाह–'कप्पं'ति 'कल्प्यं' कल्पनीयं "भिक्खग्गाही एगत्थ, कुणइ बीओ य दोसु उवओगं" इत्याद्यागमाभिज्ञसाधूनां ग्राह्यं, आचरितत्वात्, उत्कृष्टाचीर्णाभ्याहृतवदिति गाथार्थः ॥ ३९ ॥

प्रतिपादितः स्थापनाख्यः पञ्चमः पिण्डोद्गमदोषः, साम्प्रतं तमेव षष्ठं प्राभृतिकाभिधानं प्रतिपादयितुमाह––

दी०–चुल्ली प्रतीता, 'उखा' स्थाली, तदादि स्वस्थानं, तस्मादुद्धृत्यान्यत्क्षेपणस्थानं परस्थानं स्वयमत्र ज्ञेयं, क्षीरादिदधिप्रक्षणादिपरम्परायोगात् परम्परं, घृतादि इतरदनन्तरं, अनन्तरपर्यायान्तराभावात् । तथा 'द्रव्यस्थितिपर्या-

×वस्त्रे बद्ध्वा निष्काशितजलस्तकभावादर्वाग्भावि वा दधिपरिणामविशेषो मन्थुः ।

येण, द्रव्यस्य-घृतादेरवस्थानं द्रव्यस्थितिस्तां यावत्स्थापितं चिराख्यं, तच्चोत्कृष्टतो देशोनामपि पूर्वकोटिं सम्भवति । इत्वराख्यमाह–त्रिगृहान्तरं साधोः पङ्क्तिस्थितगृहत्रयमध्यादेकस्मिन् विहरतस्तृतीयगृहे साधुदर्शनाद्दानार्थं यद्धस्तादौ स्थापितं भक्तादि तदित्वरं, एतच्च कल्प्यं, गृहत्रयादुपरि नैवेति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ उक्ता स्थापना, अथ षष्ठं प्राभृतिकाख्यमाह–

उद्गम-
षोडशके
प्राभृतिका-
निरूपणम् ।

वायरसुहुमुस्सक्कण-मोसक्कणमिय दुहेह पाहुडिया ।
परओ करणमुस्सक्कण-मोसक्कणमारओ करणं ॥ ४० ॥

व्याख्या—'बायरसुहुमुस्सक्कणं'ति 'बादरं च' स्थूरारम्भगोचरतया स्थूरं 'सूक्ष्मं च' सूक्ष्मारम्भगोचरतया अल्पं, समाहारत्वाद्बादरसूक्ष्मं, बादरसूक्ष्मं च तदु'त्ष्वष्कणं च' उत्सर्पणं, साध्वर्थायेति गम्यते, बादरसूक्ष्मोत्ष्वष्कणं । तथा 'ओसक्कणं'ति 'च' शब्दाध्याहाराद्बादरसूक्ष्मविशेषणानुवृत्तेश्च बादरसूक्ष्मावष्वष्कणं च–स्थूलाल्पावसर्पणं, इत्येवं 'द्विधा' द्विप्रकारा 'इह' अत्र प्रकरणे, अन्यत्र प्रकारान्तरेणापि "तं पागडमियरं वा, करेइ उज्जुअणुज्जुवे"त्येवंविधेन द्वैविध्यं समस्तीत्यत इहेत्युक्तं, प्राभृतिका पूर्वोक्तशब्दार्था स्यादिति शेषः । उत्ष्वष्कणावष्वष्कणस्वरूपमाह–'परओ' इत्यादि, स्वयोगप्रवृत्तिकालावधेः 'परतो'ऽग्रतः 'करणं' आरम्भस्य प्रवर्त्तनं, किमित्याह–'उत्ष्वष्कणं' उत्ष्वष्कणशब्दार्थ उच्यत इति शेषः । तथा 'अवष्वष्कणं' अवष्वष्कणशब्दार्थ उच्यते, किं तदित्याह–स्वयोगप्रवृत्तिकालावधेरारतो–ऽर्वाक्करणं-साध्वर्थमारम्भस्य प्रवर्त्तनं । इह च सूक्ष्ममुत्सर्पणमवसर्पणं वा सूक्ष्मप्राभृतिका, यथा काचित्सूत्रं कर्त्तयन्ती दारकेण भोजनं

याचिता सती ब्रूते–साधौ समागते तवापि दास्यामीत्येवं दारकदानस्योत्सर्पणतस्तथा साध्वर्थायोत्थिता पुत्र ! तवापि दास्यामीत्येवं दारकदानस्यावसर्पणतः । तथा बादरमुत्सर्पणमवसर्पणं च, बादरा सा यथा साधुसंविभागकरणान्महन्मङ्गलं पुण्यं वा जायत इति भावनया साधुदानार्थं पुत्रविवाहादिदिनस्योत्सर्पणतोऽवसर्पणतश्चेति गाथार्थः ॥ ४० ॥

इत्युक्तं पिण्डोद्गमदोषेषु षष्ठं प्राभृतिकाद्वारं, अथ तेष्वेव सप्तमं प्रादुष्करणद्वारं व्याख्यातुमाह–

दी०–'बादरसूक्ष्मं' स्थूलाल्पं 'उत्ष्वष्कणं' साध्वर्थं भाव्युत्सवादेरारम्भस्या+ग्रतः करणं, 'अवष्वष्कणं' च शब्दलोपात्तस्यैवार्वाक्करणमित्येवं स्थूलाल्पभेदाद्द्वयमपि द्विधा इह ग्रंथे प्राभृतिकोच्यते । भेदव्याख्यामाह–परतः करणं उत्ष्वष्कणं, यथा–काचिन्नारी दारकेण याचितभोजना ब्रूते–साध्वागमे×तवापि दास्यामीति सूक्ष्मं तत् । बादरं तु साधुदानं पुण्यायेति श्रद्धया भाविविवाहादेः साध्वर्थमग्रतो नयनं । तथा अवष्वष्कणं 'आरतो'ऽर्वाक्करणं तथैव सूक्ष्मबादरभेदाभ्यामिति गाथार्थः ॥ ४० ॥ उक्ता प्राभृतिका, अथ सप्तमं प्रादुष्करणाख्यमाह–

पाओयरणं दुविहं, पागडकरणं पगासकरणं च । सतिमिरघरे पयडणं, समणट्ठा जमसणाईणं ॥४१॥

व्याख्या–प्रादुष्करणं प्रागुक्तशब्दार्थं तदुच्यत इति शेषः । यत्सतिमिरगृहे श्रमणार्थमशनादीनां प्रकटनमिति सम्बन्धः । तच्च पुन'र्द्विविधं' द्विभेदं, तद्यथा 'पागडकरणं पगासकरणं च'त्ति 'प्रकटे' सप्रकाशे–गृहाद्बहिरित्यर्थः 'करणं' देयद्रव्यादेर्न्यत्रस्थापनं प्रकटकरणं, तथा 'प्रकाशस्यो'द्द्योतस्य 'करणं' विधानं प्रकाशकरणं, चः समुच्चये, सतिमिर-

+ " ०रम्भस्य परतः " ह. । × " साध्वागमने तवापि दास्यामीति " म. । " साध्वागमनेन दास्यामीति " ह. ।

गृहे-सान्धकारागारे 'प्रकटनं' प्रकाशनं 'श्रमणार्थं' साधुनिमित्तं, साधवो ह्यन्धकारवति गृहे अचक्षुर्विषयत्वाद्भिक्षां न गृह्णन्तीत्यतस्तेषां भिक्षाग्रहणनिमित्तमित्यर्थः, यदशनादीनां-भक्तपाना+दीनां गृहिणा विधीयत इति× गाथार्थः ॥ ४१ ॥

अथ प्रकटकरण-प्रकाशकरणे व्याख्यातुमाह-

दी०-प्रादुष्करणं तदुच्यते-'यत्सतिमिरगृहे' सान्धकारस्थाने, अचक्षुर्विषयभिक्षाया अग्रहणात्, श्रमणार्थमशनादीनां प्रकटनमिति योगः, तद्द्विविधं-प्रकटकरणं प्रकाशकरणं चेतिभेदाभ्यामिति गाथार्थः ॥ ४१ ॥ भेदयोरर्थमाह-

पायडकरणं बहिया-करणं देयस्स अहव चुल्लीए। बीयं मणि-दीव-गवक्ख-कुड्डछिड्डाइकरणेणं ॥४२॥

व्याख्या-प्रकटकरणमुक्तशब्दार्थं, भण्यत इति शेषः। किं तदित्याह-'बहियाकरणं'ति 'बहिस्ता'दन्धकारगृहाद्बहिः 'करणं' विधानं, कस्येत्याह-'देयस्य' दातव्यवस्तुनः अथवेति प्रकारान्तरप्रदर्शनार्थः 'चुल्ल्या' अधिश्रयण्याः। अत्र यदि सञ्चारिणीमन्यां वा स्वार्थविहितां चुल्लिं बहिः करोति तदाऽयमेवैको दोषः स्यादथ साध्वर्थाय नूतनामेव तां करोति तत उपकरणपूतिदोषोऽपीति। तथा 'बीय' मित्यादि, द्वितीयं-प्रकाशकरणं, स्यादिति शेषः। केनेत्याह-'मणिदीवे'त्यादि, मणिश्च-रत्नविशेषो 'दीपश्च' प्रदीपो 'गवाक्षश्च' वातायनः 'कुड्यच्छिद्रं च' भित्तिविवरं मणिदीपगवाक्षकुड्यच्छिद्राणि, एतान्यादिर्यस्यान्यद्वार-पूर्वकृतद्वारवर्द्धनादेस्तत्तथा, तस्य 'करणं' केनापिरूपेण विधानं,

+ "॰पा न प्रभृतीनां" प. ह. क.। × "॰ति शेषः, इति गा॰." प. ह. क.।

तेन । इदमुक्तं भवति–यत्कश्चिदविवेकि दायको मन्दप्रकाशगृहमध्यस्थितस्यैव दातव्यवस्तुनः साधुभिक्षाशुद्ध्यर्थं मणि-प्रदीपाग्निप्रभया गवाक्षादिकरणेन वा प्रकाशं करोति तत्प्रकाशकरणमुच्यत इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

इत्युक्तं पिण्डोद्गमदोषेषु सप्तमं प्रादुष्करणद्वारं, साम्प्रतं तेष्वेवाष्टमं क्रीतद्वारं व्याचिख्यासुराह—

टी०–प्रकटकरणाख्यं देयस्य वस्तुनः सान्धकारगृहाद्बहिस्तात्करणं अथवा चुल्ल्या, द्वितीयं प्रकाशकरणाख्यं स्यात्, केन ? मणिदीपगवाक्षकुड्यच्छिद्रादिकरणेनेति गाथार्थः ॥ ४२ ॥ उक्तं प्रादुष्करणं, अथाष्टमं क्रीताख्यमाह—

किणणं कीयं मुल्लेण, चउह तं सपरदव्वभावेहिं । चुन्नाइ कहाइ धणाइ-भत्तमंखाइ रूवेहिं ॥ ४३ ॥

व्याख्या–'क्रयणं' अन्यसकाशात्साध्वर्थं यद्भक्तादेर्ग्रहणं, तत्किमित्याह–'क्रीतं' क्रयणक्रीतयोरभेदोपचारात् क्रीताख्यं तद्भक्ताद्युच्यत इति शेषः । केन यत् क्रयणमित्याह–'मूल्येन' स्वद्रव्यादिना वक्ष्यमाणेन । तच्च पुनर्मूल्यं कतिविधं भवती-त्याह 'चउह तं'ति 'चतुर्द्धा' चतुर्भिः प्रकारैस्तन्मूल्य । कैरित्याह–'सपरदव्वभावेहिं'ति स्वश्चात्मा परश्चान्यः स्वपरौ, तथा द्रव्ये च वक्ष्यमाणलक्षणे भावौ च वक्ष्यमाणलक्षणावेव द्रव्यभावाः, ततश्च स्वपरयोर्द्रव्यभावाः स्वपरद्रव्यभावास्तैः, किं-स्वरूपैरित्याह–'चूर्णादी'त्यादि 'चूर्णं' औपधद्रव्यसङ्करक्षोदः, स आदिर्यस्य स्वद्रव्यगणस्य स चूर्णादिः, स च 'कथे'ति धर्मकथा, साऽऽदिर्यस्य स्वभावप्रकारसमूहस्य स कथादिः, स च 'धनं' रूपककपर्दकादि, तदादिर्यस्य परद्रव्यसमुदयस्य स धनादिः, स च भक्तश्चासौ मङ्खश्च भक्तमङ्खः, स आदिर्यस्य भक्तिमत्तथाविधजनसमाजस्य स भक्तमङ्खादिः, भावप्रक्रमेऽपि भावभाववतोरभेदोपचारान्मङ्खादीरयुक्तं । मङ्खश्च सुकृतदुष्कृतफलसूचकचित्रफलकोपजीवी भिक्षुविशेषः, स च-चूर्णादिकथादि-

धनादिभक्तमल्लादयस्ते 'रूपं' स्वरूपं येषां स्वपरद्रव्यभावानां ते तथा, तैः । इदमुक्तं भवति–आहारादिलिप्सया चूर्णनिर्माल्य-गुटिकागन्धचन्दनबाहुकण्डकबालपोत्तकादिलक्षणेनात्मद्रव्येण गृहिणः प्रदत्तेन यदशनादिकं साधुना लभ्यते तदात्मद्रव्य-क्रीतमुच्यते, अत्र च दोषाः–चूर्णादिप्रदानानन्तरं दैववशतो नितरां मान्द्ये मरणे वा गृहस्थस्य उड्डाहः स्यादथ कथञ्चिन्नीरो-गत्वं भवेत्ततश्चाटुकारिता असंयतप्रगुणीकरणेऽधिकरणदोषश्च साधोः स्यादिति । तथा आहारलिप्सयैव धर्मकथा-तर्कोपन्यास-विकृष्टमासादितपश्चरण-शीतोष्णाद्यातापनाकरणलक्षणेनात्मभावेन यदवाप्यते तद्भावक्रीतं, अत्र च दोषाः–स्वानुष्ठानफल्गुता-करणप्रभृतयो वाच्याः । तथा सचित्ताचित्तमिश्रभेदेन गृही स्वद्रव्येण साधुनिमित्तं यदशनादि क्रीणाति तत्परद्रव्यक्रीतं, अत्र दोषाः प्रतीता एव । तथा साधुभक्तमल्लादिसत्कविज्ञानलक्षणेन परभावेनोपार्जितं यदशनादि साधुना लभ्यते तत्परभाव-क्रीतं । अत्र सम्प्रदायो यथा–किलैकदा एकः साधुशय्यातरमल्लो भक्त्या साधून् भक्तपानादिना निमन्त्रितवान्, ते च शय्यातरपिण्डोऽयमिति न जगृहुः । ततस्तेनाननुगृहीतेन दित्सुना गतप्राये वर्षाकाले कतरस्यां दिशि यूयं गमिष्यथेति पृच्छा चक्रे, तेऽप्यूचुरमुकस्यां दिशीति । ततश्च स तत्राग्रत एव गत्वा निजविज्ञानेन लोकपरिचयं चकार, दीयमानं च कार्ये गृहीष्यामीति वचनपुरस्सरं न स्वीकृतवाँस्तावद्यावत्साधवः समाययुस्ततश्च घृतक्षीरादिकं महत्तरगृहादावितश्चेतश्च याचनतो मीलितं तेभ्यो दत्तवानिति । अत्र च परभावक्रीताभ्याहृतस्थापनालक्षणं दोषत्रयं स्यादिति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

उक्तं पिण्डोद्गमेष्वष्टमं क्रीतद्वारं, साम्प्रतं तेष्वेव नवमं प्रामित्यद्वारमभिधित्सुराह—

दी०–यतिदेयवस्तुनः क्रयणं क्रीतं स्यात्, केन ? मूल्येन । तच्च स्वपरद्रव्ययोर्भावैर्गाथोत्तरार्द्धोक्तैश्चतुर्द्धा । तत्र चूर्णादि,

चूर्ण–औषधद्रव्यसंयोगस्तेन गृहिणोऽर्पितेन साधुर्यल्लभते तत्स्वद्रव्यक्रीतं १ । कथादीति, भक्ताद्यर्थं +धर्माद्याख्यानं, तया यद्वाप्तं तत्स्वभावक्रीतं २ । धनादीति, धनं–सचित्ताचित्तमिश्रभेदं स्वद्रव्यं, तेन साध्वर्थं गृही गृहीत्वा ×यद्देयं ददाति तत्परद्रव्यक्रीतं ३ । भक्तमङ्खादीति, कश्चिन्साधुभक्तः स्वविज्ञानेन रञ्जितजनान् याचयित्वा यद्ददाति तत्परभावक्रीतं ४ । सर्वत्रादिशब्दस्तद्गतानेकभावदर्शनायेति गाथार्थः ॥ ४३ ॥ उक्तं क्रीतं, अथ नवमं प्रामित्यमाह––

समणट्ठा उच्छिंदिय, जं देयं देइ तमिह पामिच्चं । तं दुट्ठं जइभइणी-उद्धारियतेल्लनाएणं ॥ ४४ ॥

व्याख्या–'श्रमणार्थं' यतिनिमित्तं 'उच्छिंदिय'त्ति 'उच्छिद्य' अन्यत उद्यतकं गृहीत्वा यत्किञ्चिद् 'देयं' दातव्यं भक्तादिवस्तु 'ददाति' श्रमणेभ्य एव प्रयच्छति, गृहस्थ इति गम्यते 'तद्' दातव्यं भक्तादिवस्तु 'इह' अत्र प्रकरणे प्रवचने वा 'पामिच्चं'ति प्रामित्यमपमित्यं वा, उच्यत इति शेषः । इदं चात्र सामान्यभणनेऽपि लौकिकलोकोत्तरापमित्य भेदाद्विविधं विज्ञेयं, आगमे तथा भणनाद्यदाह–"पामिच्चं पि य दुविहं, लोइयलोउत्तरं समासेणं ।" इत्यादि । 'तं'ति पुनः शब्दार्थस्य गम्यमानत्वात् तत्पुन 'दुष्टं' दोषकारि । केन प्रत्ययेनेत्याह–यतिभगिन्युद्धारिततैलज्ञातेन, यतिभगिन्या-साधुस्वस्रा 'उद्धारितं' मूल्याभावादुद्धारके गृहीतं यत्तैलं-स्नेहविशेषस्तस्य तल्लक्षणं वा 'ज्ञातं' उदाहरणं, तेन । तच्चेदं––

ते णं काले णं ते णं समए णं कोसलाविसए एगो कुलपुत्तओ होत्था । सो य धम्मं सोऊण संजायसंवेगो निक्खंतो ।

+ " धर्मव्याख्यानतया " ह. म. । × " यद्ददाति " क. ह. म. ।

क्रमेण समहिगयसुत्तत्थकिरियाकलावो सयणदंसणत्थं गओ सन्नायसन्निवेसं। तत्थ य बाहिं ठिएण पुच्छिओ एगो पुरिसो, जह-को मम सन्नायगाणं जीवइ ? त्ति। तेण भणियं-उच्छिन्नं सव्वं पि ते कुलं, नवरं-एगा तव भगिणी जीवइ त्ति। तओ इमं निसामिऊणं पविट्ठो तीसे मंदिरे। सा य तं सहोयराणगारं लोयविरलसिरोरुहं मलाविलं तवोकिससरीरं दट्ठूण अइहरिसभरा-पूरियमाणसा समूससियरोमकूवा भत्तिबहुमाणपुव्वं पज्जुवासिऊण तन्निमित्तं किंचि आहारपागं काउं पयट्टा, निवारिया य साहुणा। तओ तीए अहो एस भट्टारओ पागं न गिण्हइ त्ति विचिंततीए उच्छिदिऊण दिन्नं तेल्लकरिसं, साहुणा य कप्पइ त्ति गहियं। तओ य तमणुसासिय विहरिओ अन्नत्थ साहू। तेल्लं पि अपरिमियवुड्ढीए वड्ढमाणं जायं अइबहुयं। तओ तं दाउ-मचायंतीए से दासत्तं पडिवन्नं। कालंतरेण य पुणो वि आगओ साहू, सुणिओ य तीसे दासत्तणवइयरो तेण बाहिं ठिएणेव। तओ अप्पाहियं×-मा रुय, अचिरेणेव तं दासत्तणओ मोएमो त्ति। पविट्ठो य खणंतरे भिक्खट्ठाए भगिणिसामिणो गिहंमि। तत्थ य उदगसंघट्टभिक्खापडिसेहे कए पुच्छियं घरवइणा-को एत्थ दोसो ? त्ति। साहूणा वि समयभणियदोसपरिकहणा वित्थरेण कया। तओ तेण आउट्टेण भणियं-कहिं मे+वसहि ? त्ति। साहुणा भणियं-अज्जवि नत्थि। तओ दिन्ना तेण से वसही, ठिओ य तत्थ धम्मकहाए साहू, गाहिओ य सो सम्मत्ताणुव्वयाणि। बहुवोलीणे य वासारत्ते गंतुकामेण आपुच्छिओ गिहवई, कहियं च थावच्चोदाहरणं, जहा-थावच्चो सावओ जाओ, तओ तेणाभिग्गहो गहिओ-जो मम कुलाओ कोइ वि पव्वयइ सो मया न वारेयव्वो। तओ तस्स पुत्तो पव्वज्जाए उवट्ठिओ, न य तेण वारिओ, पव्वइओ। तेण वि इमं सोऊण

× [आप्याहितं-]कथापितं। +'ते' प. क. ह.।

एसोच्चिय अभिग्गहो गहिओ। इत्थंतरम्मि सा तस्स साहुणो भगिणी पवज्जाए उवट्ठिया, मुक्का य तेणं पवइया। कित्तिया य एरिसा नाणिणो भविस्संति ? तम्हा पामिच्चं न घेत्तवं ति, एस लोइय पामिच्चदिट्ठंतो त्ति।

लोकोत्तरापमित्यं तु यत्साधोः सकाशादपरसाधुर्वस्त्रादिकं कतिपयदिनभोगबुद्ध्या तद्विधान्यदानबुद्ध्या चोद्यतकं गृहीत्वाऽन्यस्मै साधवे प्रयच्छति स्वयं वा परिभुङ्क्ते तद्विज्ञेयं। तत्र चामी दोषाः—"मइलिय-फालिय-खोसिय-हियनट्ठे वावि अन्नमग्गंते। अइसुंदरे वि दिन्ने, दुक्कररोई कलहमाई ॥ १ ॥" तत्र 'मलिनितं' शरीरादिमलदिग्धं 'पाटितं' द्विधाकृतं 'खोसितं' जीर्णतां नीतं 'हृतं' चौरादिना गृहीतं 'नष्टं' पतितं, शेषं सुबोधमिति। अत्रापवादो यथा—"उव्वत्ताए दाणं, दुल्लभ-खग्गूड-अलस-पामिच्चे। तं पि य गुरुस्स पासे, ठवेइ सो देइ मा कलहो ॥ १ ॥" 'उव्वत्ताए दाणं'त्ति सीदतः साधोर्मुधिकया वस्त्रादेर्दानं कार्यमित्येष तावदुत्सर्गमार्गः, अपवादतस्तु दुर्लभे वस्त्रे 'खग्गूडे' शठे अलसे वा अपमित्यं स्यात्, खग्गूडो हि वक्रतया अलसस्तु याचनाकष्टभयेन, न मुधिकया तद्ददातीत्यपमित्यं क्रियत इति भावः। शेषं प्रतीतमिति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

इत्युक्तं नवमं प्रामित्यद्वारं, साम्प्रतं दशमं परिवर्त्तितद्वारमभिधातुमाह—

दी०—श्रमणार्थं 'उच्छिद्य' उच्छिन्नं गृहीत्वा यद्देयं ददाति तेभ्यस्तमिह प्रामित्यं स्यात्, तत्पुनर्दुष्टं यतिभगिन्युद्धारिततैलज्ञातेन, तच्चेदं—कोशलविषये एकः कुलपुत्रको निष्क्रान्तः, स च गीतार्थत्वे स्वजनानन्वेष्टुं चलितस्ततः सर्वमपि तत्कुलं व्यवच्छिन्नं, भगिन्येकैव कष्टं जीवतीति कुतोऽपि ज्ञातवृत्तान्तस्तत्र जगाम। भगिन्यपि तद्दर्शनादतीव हृष्टा यतिना निषिद्ध-

पाकादिक्रिया वणिजो गृहात्तैलकर्षं वर्द्धमानमुद्धारेणानीय तस्मै ददौ। विहृते साधौ तत्तैलं प्रवर्द्धमानं दातुमक्षमा तद्गृहे दासत्वमापन्ना। कालेन साधुरपि तत्रागतो ज्ञाततद्दासत्ववृत्तान्तस्तस्य वणिजो गृहासन्ने स्थितवर्षाकल्पो वणिजं सकुटुम्बं बोधितवान्। ततो मया व्रतार्थी न कश्चिन्निषेध्य इति गृहीताभिग्रहस्य वणिजः सुतो व्रतं जग्राह। साऽपि यतिभगिनी व्रतार्थिनी दासत्वान्मुक्ता प्रव्रजितेति भ्रातृसाहाय्याद्व्रतं तैलाच्च दासत्वं प्राप्तेति प्रामित्यं वर्जयेत्। एतच्च लौकिकं, यदा साधुः साधोः पार्श्वादन्यार्पणबुद्ध्या वस्त्रादिकमुद्धारेण गृह्णाति तदा लोकोत्तरमपि कलहादिदोषकृज्ज्ञेयमिति गाथार्थः॥ ४४॥

उक्तं प्रामित्यं, अथ परिवर्त्तिताख्यं दशममाह—

पल्लट्टिय जं दव्वं, तदन्नदव्वेहिँ देइ साहूणं। तं परियट्टियमेत्थं, वणिदुगभगिणीहिँ दिट्ठंतो॥ ४५॥

व्याख्या-'पल्लट्टिय'त्ति 'परिवर्त्य' साध्वर्थं परावर्त्तं कृत्वा यत्किञ्चिद् 'द्रव्यं' घृतशाल्योदनादिवस्तु, काभ्यामित्याह-'तदन्नदव्वेहिँ'ति तच्च-परिवर्त्तनीयद्रव्यापेक्षया समानजातियं, अन्यच्च-तदपेक्षयैव विजातीयं, तदन्ये च ते द्रव्ये च घृतादिवस्तुनी तदन्यद्रव्ये, ताभ्यां 'ददाति' प्रयच्छति 'साहूणं'ति 'साधुभ्यो' यतिभ्यस्तद्घृतादिद्रव्यं, किमित्याह-'परिवर्त्तितं' परिवर्त्तितसञ्ज्ञं, भण्यत इति शेषः। अयमर्थः-साधुगौरवनिमित्तं आत्मलाघवपरिहारार्थं वा स्वकीयदुर्गन्धघृतकोद्रवौदनादिद्रव्यसमर्पणेन यत्परकीयसुगन्धघृतशाल्योदनादिद्रव्यं गृहीत्वा साधुभ्यो ददाति, तत्परिवर्त्तितमुच्यत इति। एतदपि लौकिकलोकोत्तरभेदाद्द्विविधमवसेयं, यदाह-"परियट्टियं पि दुविहं, लोइय लोउत्तरं समासेणं"ति। 'एत्थं'ति अत्र लौकिकपरिवर्तिते 'वणिदुगभगिणीहिँ'ति 'वणिग्द्विकस्य' वाणिजकयुगलस्य 'भगिन्यौ' स्वसारौ वणिग्द्विकभगिन्यौ-

ताभ्यां 'दृष्टान्त' उदाहरणं विज्ञेयमिति । तद्यथा—

वसन्तपुरे नगरे द्वौ वाणिजकौ—देवदत्तधनदत्तनामानौ बभूवतुः । तत्र देवदत्तभगिनी लक्ष्मीनाम्नी धनदत्तेन परिणीता, धनदत्तभगिनी च बन्धुमती देवदत्तेन । अन्यदा देवदत्तभ्राता समुपजातवैराग्यस्तृणवदपहाय कटुकविपाकान् कामभोगान् प्रव्रजितः । स चैकदा साधुविहारचर्यया विहरन् वसन्तपुरनगरमाजगाम । तत्र च कृतोचितसूत्रार्थपौरुष्यादि-साधुकृत्यो यथोचितभिक्षासमये विहरन्ननुकम्पया भगिनीलक्ष्मीगृहं प्रविष्टः । चिन्तितं च तया, यथैकं तावदेष मम भ्राता अपरं साधुरन्यच्च प्राघूर्णकस्तदसौ विशिष्टां प्रतिपत्तिमर्हति, केवलं दारिद्र्यभावान्नास्मद्गृहे तथाविधं किञ्चिद्दातव्यमस्ति । ततश्च कोद्रवौदनेन निजभ्रातुर्देवदत्तस्य गृहाच्छाल्योदनं परिवर्त्त्य सा तस्मै सादरमदात् । इतश्च देवदत्तो भुञ्जानो बन्धु-मत्या भणितो, यथा—प्रयच्छामि कोद्रवौदनं यदि ते रोचते, नो चेत्तिष्ठत्विति । एतच्च श्रुत्वा अविज्ञाततद्वृत्तान्ततया झटि-त्युल्लसितकोपानलेन ताडिताऽसौ दृढं । तया चोक्तं—तवैव भगिन्या नीतः शाल्योदनः, किं मामेवमनपराधकारिणीमपि ताडयसि, ततः स्थितोऽसौ । धनदत्तेनापि तं व्यतिकरं विज्ञाय ममानया परगृहादेवं कूरमानीय प्रयच्छन्त्या अतीव लघुत्व-मापादितमिति विचिन्त्य सञ्जातप्रचण्डकोपेन किं पापे ! मामेवं जने लघू करोषीति ब्रुवाणेन स्वजाया लक्ष्मीरपि प्रहतेति । अमुश्चार्थं विज्ञाय साधुना धर्मकथनपुरस्सरमुपशमय्य तानि सर्वाण्यपि प्रव्राजितानीति । कियन्तश्चेदृशा आत्मपरोत्तारण-समर्था भविष्यन्ति ? । तस्मात्परिवर्त्तितं सर्वथा न ग्राह्यमिति भावः ।

लोकोत्तरपरिवर्त्तितं त्विदं—यच्छ्रमणः श्रमणेन सह वस्त्रादिपरिवर्त्तनं करोति । तत्र चामी दोषाः—"ऊणऽहियदुब्बलं वा;

खरगुरुच्छिन्नमइलं असीयसहं । दुव्वण्णं वा नाउं, विपरिणमे अन्नभणिओ वा ॥१॥" तत्र 'न्यूनं' लघु 'अधिकं' अतिबलं 'दुर्बलं' जीर्णप्रायं 'खरं' कर्कशस्पर्शं 'गुरु' भारिकं 'छिन्नं' पाशकदशापर्यन्तरहितं 'मलिनं' मलाविलं 'अशीतसहं' शीतरक्षणाक्षमं 'दुर्वर्णं' विरूपच्छायमित्यादिदोषान्वितं परकीयवस्त्रादिकं विज्ञाय स्वयं परेण वोत्प्रासितो विपरिणमेद्दायक-ग्राहकयोर्मध्यादेकतर इत्यतस्तत्परिवर्त्तनं न कार्यं, कारणे तु विधिना कर्त्तव्यमपीत्याह च–" एगस्स माणजुत्तं, न उ बीयस्सेवमाइकज्जेसु । गुरुपायमूले ठवणं, सो दलयइ अन्नहा कलहो ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

प्रतिपादितं दशमं परिवर्त्तितद्वारं, इदानीमभ्याहृतलक्षणमेकादशद्वारं प्रतिपादयन्नाह—

दी०–परावर्त्य यद्द्रव्यं दुर्गन्धघृतादि तदन्यद्रव्यैः सुगन्धघृतादिभिर्ददाति साधुभ्यस्तत्परिवर्त्तितं स्यात् । इत्थं अत्र वणिग्द्विकभगिन्योर्दृष्टान्तः, स चायं–वसन्तपुरे द्वौ वणिजौ देवदत्तधनदत्ताख्यौ, तत्राद्यस्य भगिनी लक्ष्म्याख्या द्वितीयेन परिणीता, द्वितीयस्य च भगिनी बन्धुमत्याख्या प्रथमेन । अथ प्रथमस्य× भ्राता विषयविरागाद्गृहीतव्रतो विहरन् लक्ष्मी-गृहं प्रविष्टः, सा च चिरायातभ्रातृगौरवार्थं गृहराद्धकोद्रवकूरेण बन्धुमतीगृहराद्धं शालिकूरं परावर्त्तेनानीय तस्मै ददौ । * इतश्च देवदत्तो भुञ्जानः कोद्रवकूरदर्शनात्कुपितः पापे ! किं राद्धमिदमिति बन्धुमतीमताडयत्, यावत्तया कथितं–तवैव भगिनी शालिकूरं गृहीत्वा गतेति । धनदत्तोऽपि विदितवृत्तान्तो लक्ष्मीं प्रति कुपितः, आः पापे ! परगृहराद्धं धान्यमानीय मामेवं लघू करोपीति तां ताडितवानिति जनाद्विज्ञाततत्कलहोत्थानो मुनिस्तान् सम्बोध्य प्रव्रज्यामग्राहयत् । तदेवं परिवर्तितं

× "०स्य लघुभ्राता" अ । * "अदश्च" म ।

दोषाय। एतदपि लोकलोकोत्तरभेदात् पूर्ववद्द्विधेति गाथार्थः ॥ ४५ ॥ उक्तं परिवर्तितं, अथैकादशमभ्याहृतमाह—

गिहिणा सपरग्गामाइ आणियं अभिहडं जईणट्ठा। तं बहुदोसं नेयं, पायडच्छन्नाइबहुभेयँ ॥ ४६ ॥

व्याख्या—'गृहिणा' अगारिणा 'सपरग्गामाइ आणियं'ति स्वश्च—निवासमात्रापेक्षया साधोरात्मीयः, परश्च—स्वकीयादन्यः स्वपरौ, तौ च तौ ग्रामौ च—सन्निवेशविशेषौ स्वपरग्रामौ, तावादी यस्य स्वपरदेशपाटकगृहादिस्थानविशेषस्यासौ स्वपरग्रामादिस्तस्मादानीतं—साधुस्थाने प्रापितं स्वपरग्रामाद्यानीतं, यदशनादीति गम्यते। तत्किमित्याह—'अभिहडं'ति अभ्याहृतं पूर्वोक्तशब्दार्थः, तद्भण्यत इति शेषः। किमर्थमानीतमित्याह—'यतीनां' साधूनां 'अर्थाय' निमित्तं। 'तं'ति पुनः शब्दाध्याहारात्तदभ्याहृतं पुनर्बहुदोषं—संयमात्मविराधनालक्षणानेकानर्थकारणं 'ज्ञेयं' तत्परिजिहीर्षुणा सत्त्वेन बोद्धव्यं। तत्र स्वपरग्रामादेर्जलपथेन स्थलपथेन वा पादाभ्यां नावादिना गन्त्र्यादिवाहनेन वा साध्वर्थं भक्तादि गृहीत्वा समागच्छतो गृहिणः पृथिव्यादिसत्त्वोपमर्देन संयमविराधना, जलनिमज्जनमकरकच्छपग्राहकण्टकादिचौरश्वापदादिभ्यस्त्वात्मविराधनेति। तथा 'पागडछन्नाइबहुभेयं'ति 'प्रकटं' च प्रकाशं यदन्यैरपि ज्ञायत इत्यर्थः। 'छन्नं' च गुप्तं—यन्नान्येन केनापि लक्ष्यत इत्यर्थः, प्रकटछन्ने, ते आदी येषां आचीर्णानाचीर्णप्रभृतिभेदानां ते प्रकटछन्नादयस्ते 'बहवो'ऽनेके 'भेदाः' प्रकारा यस्य तत्प्रकटछन्नादिबहुभेदं। अत्र 'च' शब्दाध्याहारो द्रष्टव्य इति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

अथाचीर्णस्वरूपं तद्ग्रहणविधिं चाह—

दी०—गृहिणा स्वपरग्रामादेरादिशब्दाद्देशपाटकगृहादेरप्यानीतं यतीनामर्थाय अभ्याहृतं स्यात्, तद्बहुदोषं ज्ञेयं, मार्गे

जीवोपमर्दादिहेतुत्वात् । तथा 'प्रकटं' अन्येषां ज्ञातं 'छन्नं' अन्यैरलक्ष्यं, आदिशब्दादाचीर्णानाचीर्णादयो बहवो भेदा यस्य तत्तथेति, च शब्दाध्याहार इति गाथार्थः ॥ ४६ ॥ अथाचीर्णमाह—

आइण्णं तुक्कोसं, हत्थसयंतो घरे उ तिन्नि तहिं। एगत्थ भिक्खग्गाही, बीओ दुसु कुणइ उवओगं ४७

व्याख्या—'आचीर्णं' गीतार्थसाधुभिर्ग्रहणे आचरितं अभ्याहृतं ['तु'] पुनरुत्कृष्टं—सर्वबहु । कियदित्याह—'हस्तशतान्तः' करशतमध्ये । 'गृहाणि' त्वगाराणि पुन'स्त्रीणि' त्रिसङ्ख्यानि यावत् । एतदुक्तं भवति—महत्यां भोक्तृजनपङ्क्तौ दूरप्रवेश-तथाविधगृहे पङ्क्तिस्थितगृहत्रये वा साधुसङ्घाटकस्य भिक्षां जिघृक्षोस्तद्दानार्थं यद्भक्तादि कश्चिद्धस्तशतादानयति, तदुत्कृष्ट-माचीर्णाभ्याहृतं,परतस्त्वनाचीर्णाभ्याहृतं,उपयोगासम्भवात् । हस्तपरिवर्त्तनरूपं तु जघन्याचीर्णाभ्याहृतं, शेषं तु मध्यममिति। 'तहिं'ति 'तत्र' तेषु त्रिषु गृहेषु मध्ये 'एकत्र' एकस्मिन् गृहे, यत्र भिक्षार्थं धर्मलाभो विहित इत्यर्थः । 'भिक्षाग्राही' भिक्षा-प्रतीच्छकः—सङ्घाटकाग्रेतनसाधुरित्यर्थः । 'बीओ'त्ति 'च' शब्दाध्याहाराद्द्वितीयश्च—भिक्षाग्राहकादपरः 'द्वयो'र्धर्मलाभित-गृहादितरयोरगारयोर्विषये, किमित्याह—'करोति' विदधाति 'उपयोगं' अवधानं अनेषणीयावगतये गृहद्वयभिक्षादायकगतं व्यापारं निभालयतीत्यर्थः । आह—ननूक्तं स्थापनायां "अच्चिरं तिघरंतरं कप्पं" ति, तदस्याचीर्णाभ्याहृतस्य इत्वरस्थापि-तस्य च को विशेषः ? उच्यते—तत्र कालविवक्षा, इह तु गृहत्रयापान्तरालक्षेत्रविवक्षेति विशेष इति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

उक्तमेकादशमभ्याहृतं द्वारं, अधुना द्वादशं उद्भिन्नद्वारं व्याख्यातुमाह—

दी०—आचीर्णमभ्याहृतं 'तु' पुनरुत्कृष्टं हस्तशतस्य 'अन्त'र्मध्ये गृहाणि त्रीणि यावत्, तेषु गृहेषु मध्ये एकस्मिन्

गृहे भिक्षार्थमाश्रिते भिक्षाग्राही साधुर्द्वितीयस्तु द्वयोरितरगृहयोः करोत्युपयोगं–दायिकाश्रितां शुद्धिमन्वेषयतीति। नन्वस्य इत्वरस्थापनायाश्च को भेदः? सत्यं, तत्र कालस्य विवक्षा इह तु क्षेत्रस्येति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

उक्तमभ्याहृतं, अथ द्वादशमुद्भिन्नाख्यमाह—

जउछगणाइविलित्तं, उब्भिंदिय देइ जं तमुब्भिन्नं। समणट्ठमपरिभोगं, कवाडमुग्घाडियं वावि ॥४८॥

व्याख्या–'जतुछगणादिना' लाक्षागोमयप्रभृतिना, आदि शब्दान्मृत्तिकया च 'विलिप्तं' उपलिप्तं जतुछगणादिविलिप्तं, तत्कर्मतापन्नं कोष्ठिकादीति गम्यते। 'उद्भिद्य' उद्घाट्य, श्रमणार्थमित्यत्रापि सम्बध्यते 'ददाति' साधुभ्यः प्रयच्छति, गृहस्थ इति गम्यते, यद्भक्तादि 'तदुद्भिन्नं' उद्भिन्नाख्यं उच्यत इति शेषः, कोष्ठिकाद्युद्भिन्नभाजनसम्बन्धात्। तथा 'श्रमणार्थं' साधुनिमित्तं 'अपरिभोगं' अव्यापारं 'कपाटं' लोकप्रसिद्धं 'उद्घाट्य' उद्घाटं कृत्वा 'वा' विकल्पार्थो भिन्नक्रमयोगश्च, ततश्चेदमुक्तं भवति–कपाटं वा उद्घाट्य यद्भक्तादि ददाति तदप्युद्भिन्नमिति। अपि शब्दात्कपाटार्गलादर्दरकाद्यपनयनग्रहः। अत्र च दोषाः–कोष्ठिकादावुद्भिद्यमाने षड्जीवनिकायवधः, उद्भिन्ने च क्रयविक्रयादिविषयमधिकरणं, पुनरुपलिप्यमानेऽप्य-ग्निपृथिव्युदकादिवधः स्यात्। कपाटेऽप्युद्घाट्यमाने पुनर्दीयमाने च साध्वर्थं गृहकोकिलामूषिकादिवधः स्यात्, अव्यापार-दर्दरकेऽप्यपनीयमाने कुन्थु-पिपील्यादिजीवविराधना स्यादित्युद्भिन्नं वर्जनीयमेवेति, कारणतस्तु यतनया ग्रहणेऽपि न दोषो, यदाह–"घेप्पइ अकुंचियागम्मि, कवाडे पइदिणं परिवहंते। अजऊमुद्दियगंठी, परिभुज्जइ दद्दुरो जो य ॥ १ ॥" 'अकुञ्चिकाके' अविद्यमानोल्लालकच्छिद्र इत्यर्थः, यद्वा अक्रेङ्कारव इति गाथार्थः ॥ ४८ ॥

व्याख्यातं द्वादशमुद्भिन्नद्वारं, साम्प्रतं त्रयोदशं मालापहृतद्वारं व्याचिख्यासुराह—

टी०—'जतु' लाक्षा 'छगणं' गोमयं, आदिशब्दान्मृत्तिकादयस्तैर्लिप्तं स्थानमुद्भिद्य—साध्वर्थमुद्घाट्य ददाति यद्भक्तादि तदुद्भिन्नाख्यं स्यात्। तथा श्रमणार्थं 'अपरिभोगं' अव्यापारं कपाटमुद्घाट्य, वा अपिशब्दात्कपाटार्गलाद्यपीति गाथार्थः ॥४८॥

उक्तमुद्भिन्नं, अथ त्रयोदशमं मालापहृतमाह—

उड्ढअहोभयतिरिएसु, मालभूमिहरकुंभीधरणिठियं। करदुग्गेज्झं दलयइ, जं तं मालोहडं चउहा ॥४९॥

व्याख्या—ऊर्द्धाधउभयतिर्यक्ष्विति इतरेतरद्वन्द्वः, ऊर्द्धाधउभयतिर्यग्दिक्समाश्रितेष्वित्यर्थः। केष्वित्याह—मालेत्यादि, विभक्तिलोपान्मालभूमिगृहकुम्भिधरणिषु, तत्र 'मालो' मञ्चो गृहोपरिभागो वा, तद्ग्रहणस्य चोपलक्षणार्थत्वात्सीकक-नागदन्तकादीनामूर्द्धगतानां परिग्रहः। तथा भूमिगृहं लोकप्रतीतं, तद्ग्रहणाच्चाधोदिग्गतानां गर्त्तादीनां परिग्रहः। तथा 'कुम्भी' उष्ट्रिका, तदुपादानाच्च उभयाश्रितव्यापाराणां कुशूलादीनामवरोधः, उच्चकुम्भ्यादिषु हि तन्मध्यगतदेयाकर्षणार्थं पार्ष्ण्युत्पा-टनेनोर्द्धाश्रितव्यापारोऽधोमुखबाह्वादिप्रसारणे चाधोगतव्यापारो दातुरित्युभयाश्रितव्यापारत्वमिति। तथा 'धरणि'र्मेदिनी, तद्ग्रहणाच्च तिर्यगाश्रितानां करेण कष्टप्राप्याणां शेषाधारविशेषाणां सङ्ग्रहो द्रष्टव्यः। ततश्चैतेषु मालादिषु 'स्थितं' गतं—समाश्रितमित्यर्थः। किंविशिष्टं सदित्याह—'करदुर्ग्राह्यं' हस्तदुष्प्राप्यं सत्, किमित्याह—'दलयइ'त्ति 'ददाति' साधुभ्यः प्रयच्छति गृही यद्भक्ताद्यादाय तन्मालापहृतं, दोषविशेषो भण्यत इति शेषः। एतच्च व्याख्यातोपाधिभेदा'च्चतुर्द्धा' चतुष्प्रकारं, यथा—ऊर्द्धमालापहृतं अधोमालापहृतमित्यादि। ननु मालान्मञ्चादेरपहृत—मानीतं मालापहृतमुच्यते, तत्कथं भूमिगृहाद्या-

नीतमपि तदभिधेयतया व्याख्यायते ? उच्यते—व्युत्पत्तिनिमित्तमेवेदमस्य, प्रवृत्तिनिमित्तं तु भूमिगृहाद्यानीतमपि, आगमे तथा रूढत्वादित्यदोषः । अत्र चोदाहरणं यथा—

इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे जयपुरे नगरे पगइभद्दओ दाणधम्मरुई जक्खदिन्नो नाम गाहावई होत्था । पगइविणीया य वसुमई से भारिया। अन्नया य गोयरचरियाए विहरंतो समागओ से गिहे गुणरयणागरो नाम एगो साहू। उट्ठिया य वसुमई सिक्कगमालोहडभिक्खं दाउं । तओ अकप्पो त्ति काऊण पडिसेहेऊण निग्गओ सो भयवं । तयणंतरं च भिक्खट्ठं पविट्ठो एगो तच्चणिओ, पुच्छिओ य सविम्हएण जक्खदिन्नेण, जहा—भो ! कीस इमिणा साहुणा भिक्खा न गहिय त्ति ? । तओ तेण पावोवहयमइणा भणियं, जहा—अदिन्नदाणा खु इमे वराया, केवलमेएसिं सत्थयारेण गलओ चेव न मोडिउ त्ति । तओ गिहवइणा असंबद्धपलावी एसो त्ति किमणेण संलत्तेणं ति चिंतिऊण दवाविया भिक्खा वसुमईए । सा वि जाहे उच्चसिक्कगठियकुडंगाओ हत्थं छोढूण मोयगे गिण्हइ ताहे मोयगसुरभिगंधवसपविट्ठेण कण्हाहिणा करे डक्क त्ति पलवंती पडिया धस त्ति धरणीयले। आउलीहूओ य जक्खदिन्नो, जीवाविया य कहवि गारूडिएहिं। अन्नदियहम्मि पुणो समागओ सो साहू, भणिओ य जक्खदिन्नेणं, जहा—भयवं ! तम्मि दिणे जाणंतेण वि कीस न साहिओ ? भुयंगमो, अहो मे निद्दयत्तणं !! ति। तओ साहुणा भणियं, जहा—भो ! न मए नाओ भुयंगमो, किंतु अम्हाणं मालोहडभिक्खागहणं सपच्चवायं ति काऊण पडिसिद्धं भयवया जिणेणं ति । धम्मो य साहिओ। तं च सोऊण अहो आरहओ धम्मो अइनिउणो त्ति भाविताणि संबुद्धाणि दोवि । गओ साहू सट्ठाणं ति । अथास्य बहुदोषता ख्यापनार्थमन्यदपि कथानकमुच्यते—

किर एगम्मि नगरे एगया एगो साहू भिक्खट्ठाए पविट्ठो, निस्सेणिमालोहडं भिक्खं दलमाणिं अगारिं पडिसेहेऊण निग्गओ। एत्थंतरे पविट्ठो एगो परिव्वायगो, पुच्छिओ य गिहवइणा–कीस अणेण साहुणा भिक्खा न गहिय त्ति ? । तओ तेण भणियं–अदिन्नदाणा इमे त्ति। तओ तस्स भिक्खादाण निमित्तं निस्सेणिमारुहंती घस त्ति पडिया से भारिया गोहुमजंतगोवरि, फाडिया य से कुच्छी, निवडिओ य फुरफुरायमाणो गब्भो, मया य सा। अन्नदियहम्मि आगएण साहुणा पुच्छिएण तहेव संबोहेऊण पव्वाविउ त्ति। इत्याद्यनेकापायकारणं मालापहृतं विज्ञाय संयमिना परिहार्यमेवेति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

व्याख्यातं त्रयोदशं मालापहृतं द्वारं, अथ चतुर्दशमाच्छेद्यद्वारं व्याचिख्यासुराह—

दी०–ऊर्द्धाधउभयतिर्यक्षु यथासङ्ख्यं माल-भूमिगृह-कुम्भी-धरणीषु स्थितं, तत्र 'माले' मञ्चे गृहोपरितनभागे वा, उपलक्षणाच्च सिक्कादि, ऊर्द्धस्थितं १, भूमिगृहादिष्वधःस्थितं २, कुम्भीकोष्ठिकादिषु पाष्ण्युत्पाटनादधोबाहुप्रसारणाच्च उभयस्थितं ३, 'धरणिः' पृथ्वी, तत्रस्थेषु कष्टप्राप्याधारेषु तिर्यक्स्थितं ४, करदुर्ग्राह्यं 'दलयति' ददाति यद्भक्तादि तन्मालापहृतं व्याख्यातोपाधिभेदाच्चतुर्द्धा स्यादिति गाथार्थः ॥ ४९ ॥ उक्तं मालापहृतं, अथ चतुर्दशमाच्छेद्यमाह—

अच्छिदिय अन्नेसिं, बलावि जं देंति सामिपहुतेणा। तं अच्छेज्जं तिविहं, न कप्पएऽणणुमयं तेहिं ॥५०॥

व्याख्या–'आच्छिद्य' अपहृत्य-उद्दाल्येति यावत्। केभ्यः सकाशादित्याह–'अन्नेसिं'ति अन्येभ्यो दातुमनीप्सद्भ्योऽपि कौटुम्बिकदासभृतकादिभ्यो 'बलादपि' हठादेव–बलात्कारेणैवेत्यर्थः। यद्भक्तादि, किमित्याह–'ददति' साधुभ्यः प्रयच्छन्ति। के कर्त्तारः ? इत्याह–'सामिपहुतेण' त्ति, 'स्वामी च' राजा 'प्रभुश्च' गृहादिनायकः 'स्तेनाश्च' चौराः स्वामिप्रभुस्तेनाः।

तदाच्छेद्यं–आच्छेद्याख्यो दोषविशेषो भण्यत इति शेषः । एतच्च 'त्रिविधं' स्वामिप्रभुस्तेनलक्षणदायकभेदात्रिप्रकारं विज्ञेयं । इदं च सर्वमपि 'न' नैव 'कल्पते' साधूनां ग्रहीतुं युज्यते । किंविशिष्टं सदित्याह–'अननुमतं' अननुज्ञातं, अनुज्ञातं तु कल्पत एवेत्यर्थादुक्तं भवति । 'तेहिं' ति 'तैः' कौटुम्बिकादिभिरनेकदोषसम्भवात् । यदाह– "गोवालए य भयए, खरए पुत्ते य धूयसुण्हाय । अवि[अचि]यत्तमसंखडाई, केइ पओसं जहा गोवो ॥ १ ॥" अस्या भावार्थः– गोपालके तथा 'भृतके' कर्मकरे 'द्व्यक्षरे' दासे तथा पुत्रे दुहितरि च 'स्नुषायां च' वधूटिकायां, चकाराद्भार्यादिपरिग्रहः । एतद्विषये प्रभोराच्छेद्यं स्यात्, ततश्च स यद्येतेभ्यः– स्वामिकौटुम्बिकादिभ्योऽपि, चौरास्तु पथिकादिभ्योऽपि, अनीप्सद्भ्यः सकाशाद् गृहीत्वा भक्तादिकं प्रयच्छन्ति, साधवस्तूपरोधादिनाऽपि यदि गृह्णन्ति तदैते दोषाः स्युः । 'अप्रीति'र्गोपादीनां मानसं दुःखं स्यात्, तथा 'असंखडं' कलहः, आदिशब्दादन्तराया-दत्तादानै-कानेकद्रव्यव्यवच्छेदो-पाश्रयनिष्कासन–गालीप्रदान-प्रभृतिदोषजालपरिग्रहः । तथा केचित् प्रद्वेषं साधोरुपरि गच्छेयुः, यथा-गोपः कश्चित् ।

किल केनापि प्रभुणा कस्यापि गोपस्य भृतिदिने तदीयदुग्धं कियदप्याच्छिद्य साधवे दत्तं, साधुना तु गृहीतं । ततश्च स पयोभाजनमादाय स्वगृहमागमत् । दृष्टं च न्यूनं पयोभाजनं तद्भार्यया, ततः सा तस्मै आक्रोशान् दातुं प्रवृत्ता, चेटरूपाणि च रोदितुं लग्नानि । ततो गोपोऽप्युल्लसितबहलकोपानलः सञ्जातसाधुवधपरिणाम इतश्चेतश्च तदन्वेषणं कुर्वाणो ददृशे साधुना, ज्ञाततदभिप्रायेण च तत्परितोषार्थमेवमालापश्चक्रे, यथा–गृहपतिनिर्बन्धान्मया त्वदीयदुग्धं गृहीतं, साम्प्रतं च तवार्पणायोच्चलितोऽहं, न च भवद्गृहं जानामीति गृहाणेदं, ततो गोपेन सञ्जातोपशमेनोक्तं, यथा–तवैव भवत्वेतच्चिरं च त्वया जीवितव्य-

मिति मुक्तोऽसि, द्वितीयवारमेवं माकार्षीरिति। एवमनेकदोषनिबन्धनमिदं ज्ञात्वा मुमुक्षुभिः परिहार्यमेवेति गाथार्थः ॥५०॥

व्याख्यातं चतुर्दशमाच्छेद्यद्वारं, साम्प्रतं पञ्चदशमनिसृष्टाख्यद्वारं बिभणिषुराह—

दी०—'आच्छिद्य' उद्दाल्य 'अन्येभ्यो' भृत्यादिभ्यः सकाशाद्बलादपि यद्ददति स्वामिप्रभुस्तेनाः। तत्र 'स्वामी' राजा 'प्रभु'र्गृहादीनां पतिः 'स्तेना'श्चौराः, तदाच्छेद्यं त्रिविधं स्वामिप्रभुस्तेनभेदैर्न कल्पते 'अननुमतं' अननुज्ञातं तैर्भृत्यादिभिरिति गाथार्थः ॥ ५० ॥ उक्तमाच्छेद्यं, अथ पञ्चदशमनिसृष्टमाह—

अणिसिट्ठमदिन्नमणणु—मयं व बहुतुल्लमेगु जं देज्जा। तं च तिहा साहारण—चोल्लगजड्डाणिसिट्ठं ति॥५१

व्याख्या—'अनिसृष्टं' अनिसृष्टसञ्ज्ञदोषो, भवेदिति गम्यते। किं तदित्याह—'अदत्तं' अवितीर्णं यद्वा 'अननुमतं' अमुत्कलितं—अननुज्ञातमित्यर्थः। 'वा' विकल्पार्थः। 'बहूनां' अनेकेषां स्वामिनां 'तुल्यं' साधारणं बहुतुल्यं 'एको'ऽद्वितीयो दाता यन्मोदकादिकं कर्मतापन्नं 'दद्यात्' प्रयच्छेदिति। 'तच्च' तत्पुनरनिसृष्टं 'त्रिधा' उपाधिभेदात्त्रिप्रकारं स्यात्, केनोल्लेखेनेत्याह—'साहारणचोल्लगजड्डाणिसिट्ठं'ति, अनिसृष्टशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात्साधारणानिसृष्टं चोल्लकानिसृष्टं जड्डानिसृष्टं चेत्येवं। तत्र साधारणं—बहूनां मित्रादिस्वामिनां सामान्यं यन्मोदकादि, तदेव तद्विषयं वा अनिसृष्टं साधारणानिसृष्टं। तत्रोदाहरणं, यथा—

खिइपइट्ठिए नगरे माणिभद्दपमुहेहिं बत्तीसाए जुवाणमित्तेहिं गोट्ठियभत्तं कारियं नीयं च रमणिज्जुज्जाणे, ततो ते तत्थेगं रक्खवालं काऊण गया न्हवणनिमित्तं। एत्थंतरे भिक्खानिमित्तं समागओ एगो साहू। तओ रक्खवालजुवाणएण भणियं—

आद्येषु द्रमदोषेषु पञ्चदशस्यानिसृष्टस्य स्वरूपम्।

भयवं ! अन्नेसिंपि एगतीसाए मित्ताणं सामन्ना एए मोयगा, कहमेगो ते देमि ? । साहुणा भणियं–ते कहिं गया ? । तेण भणियं ण्हाइउं ति । साहुणा भणियं–अहो ते विन्नाणं ! ! जं परसंतिएण वि पुण्णं न तरसि काउणं ति, किंच बत्तीसाए वि मोयगेहिं दिन्नेहिं तव एगो चेव गच्छिही, ता सामन्नदव्वेणं अप्पव्वएणं बहुपुन्नहेउणा कुणसु मोयगदाणेण धम्मं ति । एवं पुणरुत्तभणिएणं तेणं दिन्ना से मोयगा । तओ सो ताओ ठाणाओ नियत्तंतो पुच्छिओ सम्मुहावडियमाणिभद्दाईहिं, जहा–भयवं ! किमित्थ तए लद्धं ? ति, तेण वि सभएणं संलत्तं–न किंचिवि त्ति, तओ तेहिं बला पलोयंतेहिं दिट्ठं से मोयगभरियं भायणं, पुच्छिओ य रक्खवालो, तेण वि भीएण संलत्तं-न मए दिण्णं ति । तओ सलोत्तो चोरो त्ति भणंतेहिं गहिओ साहू, आयड्ढिऊण नीओ ववहारत्थाणं, पुच्छिओ य कारणिएहिं, साहियं च सव्वं जहावुत्तं तं साहुणा, चिंतियं च तेहिं–समुज्जुओ एस साहु त्ति, भणिओ य– मा पुणो एवं काहिसि निव्विसएण+ य गंतव्वं ति, मुक्को त्ति ।

यस्मादेते दोषास्तस्मान्न ग्राह्यमिदं । तथा स्वामिना पदातिभ्यः प्रसादी क्रियमाणं कौटुम्बिकेन क्षेत्रादिस्थितकर्मकरेभ्यो दीयमानं भक्तं चोल्लको भण्यते, स एव तद्विषयं वा अनिसृष्टं चोल्लकानिसृष्टं । एतच्चाननुज्ञातं अदत्तादानान्तरायादिदोषसम्भवाद् ग्रहीतुं न कल्पत एव । तथा 'जड्डो' हस्ती, तस्य सम्बन्धि भक्तपिण्डरूपं वस्तु राज्ञा गजेन चानिसृष्टं जड्डानिसृष्टं, एतदप्यननुज्ञातं साधुभक्तमेण्ठादिना दीयमानमपि न कल्पते, राजपिण्ड-गजान्तराया-दत्तादाना-त्मोपघातादिदोषसम्भवादिति गाथार्थः ॥ ५१ ॥

+ निर्विषयेण–देशातिक्रमेण गन्तव्यमित्यर्थः । (प० अ०)

दी०–अनिसृष्टं तत्स्यात् यद् 'बहुतुल्यं' बहूनां सत्कं, तैरदत्तमननुमतं वा तयोर्मध्यादेको दद्यात्। तच्च त्रिधा–साधारण-चोल्लग-जड्डानिसृष्टभेदैः। तत्र 'साधारणं' बहुस्वामिकं, तथा 'चोल्लकः' स्वाम्यादिना सेवकादीनामेकत्र प्रसादीकृतं भक्तादि, तद्विषयं २। 'जड्डो' हस्ती, तद्भक्तपिण्डमध्याद्दत्तं ३, राजपिण्डादत्तादिदोषकृज्जड्डानिसृष्टमित्याहुरिति गाथार्थः ॥ ५१ ॥

उक्तमनिसृष्टं, अथ षोडशमध्यवपूरकाख्यमाह—

जावंतियजइपासं-डियरथमोयरइ तंदुले पच्छा। सऽट्ठा मूलारंभे, जमेस अज्झोयरो तिविहो ॥५२ ॥

व्याख्या–'यावदर्थिकाश्च' समस्तभिक्षाचरा 'यतयश्च' निर्ग्रन्थाः 'पाषण्डिनश्च' सर्वतीर्थिकास्ते तथा, तेषामर्थाय-निमित्तं यावदर्थिकयतिपाषण्डिकार्थं। किमित्याह–यद् 'अवतारयति' क्षिपति स्थाल्यां, गृहस्थ इति गम्यते। कानित्याह–'तन्दुलान्' धान्यकणान्, उपलक्षणत्वाज्जलादि च। कथमित्याह–'पश्चात्' मूलारम्भोत्तरकालं। क्व सतीत्याह–'सऽट्ठा मूलारम्भे'त्ति 'स्वार्थाय' आत्मनिमित्तं-गृहनिमित्तमित्यर्थः। मूलारम्भे–अग्निज्वालनाद्रहणदानादिलक्षणे व्यापारे प्रवृत्ते सतीत्यर्थः। यदित्यस्य सम्बन्धो दर्शित एव। एषोऽयं 'अध्यवपूरो'ऽध्यवपूरकाख्यो दोषो, भण्यत इति शेषः। स च यावदर्थिकादिविषय भेदात्रिविध–त्रिप्रकारः स्यात्, यथा–यावदर्थिकमिश्राध्यवपूरको यतिमिश्राध्यवपूरकः पाषण्डिमिश्राध्यवपूरकश्चेति। इह च श्रमणमिश्राध्यवपूरकोऽपि घटते, केवलं कुतोऽपि कारणाच्छ्रमणाः पाषण्डिनां मध्ये विवक्षिता इत्यसौ नोक्त इति सम्भावयामः। अस्य चाद्यभेदे यावत्पश्चात्प्रक्षिप्तं तावत्युद्धृते शेषं स्थालीगतं कल्पत एव, न शेष भेदयोरिति गाथार्थः ॥ ५२ ॥ व्याख्यातं षोडशमध्यवपूरकाख्यद्वारं, तद्व्याख्यानाच्च समर्थिताः सर्वेऽपि पिण्डोद्गमदोषा, अथ तेष्वेवाविशोधिकोटिमभिधातुमाह–

आद्येषूद्-गमदोषेषु षोडशस्या-ध्यवपूर-कस्य स्व-रूपम्।

दी०—'यावदर्थिनः' सर्वे भिक्षार्थिनो 'यतयः' साधवः 'पाषण्डिनः' सर्वतीर्थिकास्तदर्थं यदवतारयति—प्रक्षिपति स्थाल्यां, गृहीति गम्यं। तन्दुलानुपलक्षणत्वात्सर्वधान्यादीन्, पश्चान्मूलारम्भस्य, क सति ? स्वार्थाय मूलारम्भे कृतेऽग्निज्वालनादृहणादौ, एषोऽध्यवपूरकस्त्रिविध उक्तभेदैरिति गाथार्थः ॥ ५२ ॥ व्याख्याताः षोडशोद्गमदोषाः अथ तेष्वप्यविशोधिकोटिमाह—

इय कम्मं उद्देसिय—तियमीसऽज्झोयरंतिमदुगं च । आहारपूइबायर—पाहुडियविसोहिकोडि त्ति ॥५३॥

व्याख्या—इत्येतेषु षोडशसु पिण्डोद्गमदोषेषु मध्ये कर्मेत्याधाकर्म, तथा 'उद्देसिय'त्ति औद्देशिकं द्वादशविधं, उद्दिष्ट-कृत-कर्माख्यौद्देशिकानां प्रत्येकं चतुर्भेदत्वात्। तत्र कर्मौद्देशिकस्य मोदकचूरी पुनर्मोदककरणादेर्यत्त्रिकं पाषण्डिश्रमणनिर्ग्रन्थ-विषयं समुद्देशिकादेशिकसमादेशिकाभिधानं, तदौद्देशिकत्रिकं। तथा 'मिश्रं च' मिश्रजातं। अध्यवपूरश्चा—ध्यवपूरकः, तौ तथा, तयोरन्तिमं—चरमं यद्विकं तन्मिश्राध्यवपूरान्तिमद्विकं। 'चः' समुच्चये, स च बादरप्राभृतिका चेत्येवं योज्यः। तथा 'आहारपूति' भक्तपानपूति तथा बादरप्राभृतिका च उक्तलक्षणा, किमित्याह—अविशोधिकोटिः, अविद्यमाना 'शोधिः' शुद्धता आत्मार्थीकरणेऽपि भक्तादेर्यत्र सा तथा, सा चासौ कोटिश्च—उद्गमदोषविभागोऽविशोधिकोटिरित्येवं भण्यत इति शेषः। इति गाथार्थः ॥ ५३ ॥

साम्प्रतमस्या एवातिदुष्टताख्यापनार्थं पात्रविषयविधिमाह—

दी०—इत्येतेषु षोडशोद्गमदोषेषु मध्ये कर्माख्य आद्यदोषः १, तथौद्देशिकत्रिकं—चतुर्विधकर्मौद्देशिकान्त्यभेदत्रयं ३, तथा मिश्राध्यवपूरकयोरन्तिमद्विकं, द्वयोरपि पाषण्डियतिविषयौ द्वौ द्वौ भेदौ, आहारपूति बादरप्राभृतिका चोक्तलक्षणा,

एतद्दोषदशकं अविशोधिकोटिरुद्गमदोषविभागो भण्यत इति गाथार्थः ॥ ५३ ॥ तद्योगे विधिमाह—

तीइ जुयं पत्तं पि हु, करीसनिच्छोडियं कयतिकप्पं। कप्पइ जं तदवयवो, सहस्सघाई विसलवोव्व ॥५४॥

व्याख्या—'तया' अविशोधिकोट्या 'युतं' खरण्टितं स्पृष्टं वा, किं तदित्याह–'पात्रमपि' साधुभाजनमपि 'हु'र्वाक्यालङ्कारमात्रे, किंविशिष्टमित्याह–'करीषेण' शुष्कगोमयचूर्णेन, उपलक्षणत्वाद्भस्मादिना च 'निश्छोटितं' घृष्टं–उद्वर्त्तितमित्यर्थः। करीषनिश्छोटितं सत्, पुनरपि किंविशिष्टं सदित्याह–'कृता' विहितास्त्रय–स्त्रिसङ्ख्याः 'कल्पा' जलप्रक्षालनरूपा यस्य तत्कृतत्रिकल्पं, उपलक्षणत्वादातपादिशोषितं च, किमित्याह–'कल्पते' साधूनां परिभोक्तुं युज्यते। ननु किमिति कृतकरीषोद्वर्त्तन–कल्पत्रिकमेव पात्रमपि कल्पते? नान्यथेत्याह–'ज'मित्यादि 'यद्' यस्मात्कारणात्तस्या–अविशोधिकोटेरवयवो–लवस्तदवयवः, अप्यर्थस्य गम्यमानत्वादविशोधिकोटिलेशोऽपि। किमित्याह–सहस्राणि हन्तुं शीलमस्येति सहस्रघाती, क इवेत्याह–'विषलव इव' प्रधानगरलेशो यथा, इदमुक्तं भवति–यथा अतिप्रधानविषलवोऽपि अन्यान्यवेधेन परम्परया प्राणिसहस्राणि भक्तादिसहस्राणि वा विनाशयति, एवमविशोधिकोटिलवोऽपि शुद्धभक्तसहस्राण्यपि दूषयतीति गाथार्थः ॥ ५४ ॥

अथ विशोधिकोटिं तद्गतविधिं च प्रतिपादयन्नाह—

दी०–'तया' अविशोधिकोट्या युतं पात्रमपि करीषनिश्छोटितं कृतत्रिकल्पं कल्पत इति पूर्ववत्। 'यद्' यस्मात् 'तदवयवो'ऽविशोधिकोटिलेशः सहस्रघातीविषलव इव भक्तादिसहस्राणि विनाशयतीति गाथार्थः ॥ ५४ ॥

अथ विशोधिकोटिं तद्विधिं चाह—

आद्येषूद्गमदोषेषु अविशोधिकोटिदोषाभिधानम्।

सेसा विसोहिकोडी, तद्वयवं जं जहिं जया पडियं। असढो पासइ तं चिय, तओ तया उद्धरे सम्मं ॥५५॥

व्याख्या—'शेषा' अविशोधिकोटयुद्धरितोद्गमदोषा धात्र्यादयश्च, किमित्याह—विशोधिप्रधाना कोटी विशोधिकोटी, अण्यत इति शेषः। तत्र च 'तस्या' विशोधिकोट्या 'अवयवो' अंशस्तदवयवस्तं यं कञ्चन कूरादिकं यत्र पात्रैकदेशे शुद्धभक्तमध्ये वा 'यदा' यस्मिन्नेव क्षणे 'पतितं' गतं—मिलितमित्यर्थः। 'अशठो'ऽमायावी—मनोज्ञेतरेषु रागद्वेषरहित इत्यर्थः। 'पश्यति' अशुद्धमिदमित्यवगच्छति, तदा किं कुर्यादित्याह—'तं चिये'त्यादि 'तमेव' विशोधिकोटयंशं 'तत'स्तस्मात्पात्रकाच्छुद्धभक्त-मध्याद्वा 'तदा' तस्मिन्नेव काले 'उद्धरेत्' पृथक्कुर्यात्परित्यजेदित्यर्थः, साधुरिति गम्यते। न पुनः कालविलम्बं कुर्याच्चिरा-वस्थाने शुद्धस्याप्यशुद्धतापत्तेः। कथं? 'सम्यग्' निरवयवतयेति गाथार्थः ॥ ५५ ॥

अथ पूर्वोक्तमेवार्थं विषयविभागेनाह—

दी०—'शेषा' उद्धरिता उद्गमदोषभवा धात्र्यादिदोषभवा च विशोधिकोटिः स्यात्, तस्या 'अवयवं' लेशं यं कञ्चन 'यस्मिन्' पात्रैकदेशे शुद्धभक्ते वा यदा पतितं 'अशठो' गृद्धिरहितो यतिः पश्येत्तदा ततः पात्राच्छुद्धभक्ताद्वा तमेव लेशं 'उद्धरेत्' विधिना त्यजेत्—सम्यग् निर्लेपयेदिति गाथार्थ ॥ ५५ ॥ अत्र विशेषमाह—

तं चेव असंथरणे, संथरणे सव्वमवि विगिंचंति। दुल्लभदव्वे उ असढा, तत्तियमित्तं चिय चयंति ॥५६॥

व्याख्या—'तं चेव'त्ति तमेव—निपतितमात्रमेव विशोधिकोटयंशं 'विगिंचंती'ति योगः, क्वेत्याह—'असंस्तरणे' अनिर्वाहे। 'संस्तरणे' पर्याप्तौ पुनः 'सर्वमपि' समस्तमेव शुद्धमशुद्धं चेत्यर्थः। 'विगिंचंति'त्ति परित्यजन्ति, साधव

इति गम्यते । इदमुक्तं भवति—यदि कथञ्चिदनाभोगादिना शुद्धभक्तमध्ये विशोधिकोटिदोषदूषितं भक्तं गृहीतं स्यात्, पश्चाच्च विज्ञातं, ततो यदि तेन विनाऽपि निर्वहन्ति तदा सर्वमपि विधिना परित्यजन्ति, अथ न निर्वहन्ति तदा प्रत्यभिज्ञाय तदेव परित्यजन्ति, परं यदा शुद्धशुष्कभक्तमध्ये विशोधिकोटिदोषवत्तक्रतीमनादिद्रवद्रव्यं निपतितं भवेत्तदा शुद्धं काञ्जिकादिजलं तन्मध्ये प्रक्षिप्य करं च भाजनमुखे दत्वा गालयन्ति यथा तत्सर्वं निस्सरतीति । आर्द्रे तु शुद्धतक्रादिके यद्यशुद्धं शुष्कौदनादि पतितं स्यात्तदा यावच्छक्नुवन्ति तावत्तन्मध्यात्करेणोद्धृत्य परित्यजन्तीति, यदा तु द्रव एव द्रवं निपतितं स्याच्चदा किं विधेयं ? इत्याह 'दुल्लभे'त्यादि, दुर्लभद्रवे तु—दुष्प्राप्य+घृतादिद्रवरूपे वस्तुनि पुनरशुद्धे ×इतरघृतादिमध्ये निपतिते, सतीति गम्यते । 'अशठा' अमायाविनः—सत्यालम्बना इति भावः । 'तावन्मात्रमेव' पतितद्रव्यप्रमाणमेव तदाकलय्य 'चयंति'त्ति 'त्यजन्ति' विधिना परिष्ठापयन्ति साधव इति गाथार्थः ॥ ५६ ॥

अथोद्गमदोषनिगमनं उत्पादनादोषप्रस्तावनां चाह—

दी०—तमेव विशोधिकोटयंशं 'असंस्तरणे' अनिर्वाहे 'विगिंचंति' त्यजन्तीति योगः, संस्तरणे सर्वमपि शुद्धमशुद्धं च त्यजन्ति, दुर्लभद्रव्ये—घृतादौ ※द्रव्ये द्रवद्रव्ययोगाद्दुष्प्रापे त्वशठास्तावन्मात्रमेव पतितद्रव्यप्रमाणं त्यजन्ति, निर्लेप÷सलेपे काञ्जिकादिना शोध्यमिति गाथार्थः ॥ ५६ ॥ अथोद्गमदोषनिगमनं उत्पादनादोषप्रस्तावनां चाह—

+ "दुष्प्राप०" प. क. ह. । × "ऽद्धेतर°" ह. क. । ※ "द्रव्ये दुष्प्रापे" ह. । ÷ "निर्लेपे सलेपं" क. "निर्लेपं सलेपं" ह. । अस्मद्विया तु "निर्लेपं सलेपेन" इति शुद्धमाभाति ।

आद्येषूद्गमदोषेषु विशोधिकोटिस्तद्गतविधिश्च।

भणिया उग्गमदोसा, संपइ उप्पायणाए ते वोच्छं। जेऽणज्जकज्जसज्जो, करिज्ज पिंडट्ठमवि ते य ॥५७॥

व्याख्या—'भणिताः' प्रतिपादिताः, के ? इत्याह—'उद्गमदोषाः' *पिण्डोत्पत्तिदूषणानि । 'सम्प्रति' इदानीं 'उत्पादनाया' गृहस्थात्सकाशात्साधुना स्वार्थं भक्ताद्युपार्जनारूपायाः सम्बन्धिनस्तान् दोषान् 'वक्ष्ये' अभिधास्ये, यानुत्पादनादोषान् 'अणज्जकज्जसज्जो' त्ति 'अनार्यकार्येषु' पापकर्मसु—सावद्यव्यापारेष्वित्यर्थः । 'सज्जः' प्रगुणोऽनार्यकार्यसज्जः सन् 'कुर्याद्' विदध्यात्, कश्चिल्लौल्योपहतः साध्वाभास इति गम्यते । 'पिण्डार्थमपि' क्षणिकतृप्तिमात्रफलजघन्यभक्तादिग्रासनिमित्तमपि । 'ते य' ते दोषाः पुनरमी भवन्तीति गम्यत इति गाथार्थः ॥ ५७ ॥

अथ प्रस्तावितोत्पादनादोषानेव नामतः सङ्ख्यातश्च दर्शयन्नाह—

दी०—भणिता उद्गमदोषा गृहस्थाश्रिताः, सम्प्रत्युपादनाया—गृहस्थात्साधुना भक्तोपार्जनरूपायास्तान् दोषान् वक्ष्ये, यान् दोषाननार्यकार्यसज्जः—सावद्यव्यापारप्रगुणः साध्वाभासः पिण्डार्थमपि कुर्यात्, ते चामी—वक्ष्यमाणा इति गाथार्थः ॥५७॥

अथ तान्नामतः सङ्ख्यातश्च गाथाद्वयेनाह—

धाई[1]-दूई[2]-निमित्ते[3], आजीव[4]-वणीमगे[5] तिगिच्छा[6] य। कोहे[7] माणे[8] माया[9], लोभे[10] य हवंति दस एए ॥५८॥

पुव्विं पच्छासंथव[11], विज्जा[12]-मंते[13] य चुण्ण[14]-जोगे[15] य। उप्पायणाए दोसा, सोलसमे मूलकम्मे[16] य ॥५९॥

* " पिण्डोद्गमदू० " य. ।

व्याख्या—'धयन्ति' पिबन्ति तामिति धात्री, सा च रूढ्या क्षीरमज्जनादिभेदात्पञ्चधा परिगृह्यते, इह च दोषशब्दसामानाधिकरण्याद्धात्रीति निर्देशेऽपि धात्रीत्वकरणमिति द्रष्टव्यं, पदे पदसमुदायोपचारात्, एवमन्यत्रापि १ । तथा 'दूती' परस्परस्य सन्दिष्टार्थाभिधायिका स्त्री, दूतीत्वकरणमित्यर्थः २ । 'निमित्ते'ति निमित्तकरणं–अतीताद्यर्थसंसूचनम्+ ३ । तथा आजीवनमाजीवो जात्यादीनां गृहस्थात्मसमानानामभिधानत उप×जीवनमाजीवः ४ । तथा 'वणिमग'त्ति वनीपकत्वकरणं, तत्र 'वनीं' दायकाभिमतजनप्रशंसोपायतो लब्धार्थरूपां 'पाति' पालयतीति वनीपः, स एव वनीपकः, तस्य भावो वनीपकत्वं, तस्य 'करणं' विधानं, तत्तथा ५ । तथा चिकित्सनं चिकित्सा–रोगप्रतीकारः, 'च' शब्दः समुच्चये ६ । तथा 'क्रोधः' कोपः ७ । 'मानो' गर्वः ८ । 'माया' वञ्चना ९ । 'लोभो' लुब्धता १० । 'चः' समुच्चये 'भवन्ति' स्युर्दशैते–अनन्तरोक्ताः, उत्पादनादोषा इति योगः । तथा 'पूर्वं' दानात्प्राक् 'पश्चाच्च' तदुपरि 'संस्तवो' दातुः श्लाघादिः पूर्व-पश्चात्संस्तवः ११ । तथा 'विद्ये'ति सूचकत्वाद्विद्याप्रयोगः, तत्र विद्या–देवताऽधिष्ठितः ससाधनो वा अक्षरानुपूर्वीविशेषः, तस्याः प्रयोगो विद्याप्रयोगः १२ । एवं 'मन्त्र' इति मन्त्रप्रयोगो, नवरं–मन्त्रो–देवाधिष्ठितोऽसाधनो वा अक्षररचनाविशेषः १३ । 'चः' पूर्ववत् । तथा चूर्ण–स्तिरोधानादिफलो नयनाञ्जनादियोग्यो द्रव्यक्षोदः १४ । तथा 'योगः' सौभाग्यादिहेतुर्द्रव्यसंयोगः १५ । 'चः' प्राग्वत् । उत्पादनायाः' पिण्डोपार्जनस्य 'दोषाः' दूषणानि, एते पञ्चदश । 'षोडशश्च' षोडशः पुनर्मूल–मष्टमप्रायश्चित्तं, तत्प्राप्तिनिबन्धनं 'कर्म' व्यापारो गर्भघातादि, मूलानां वा–वनस्पत्यवयवविशेषाणां

+ "०सूचकम्" प. ह. क. । × "०जीवनम् ४ ।" प. ह. क. ।

उद्गमदोषे निगमनमुत्पादनादोषप्रस्तावना च ।

कर्म, भववनस्य वा मूलं कर्म–मूलकर्म । 'च:' शब्दः पुनः शब्दार्थस्तत्प्रयोगो दर्शित एवेति द्वारगाथाद्वयार्थः ॥५८–५९॥

साम्प्रतं प्रथमदोषं धात्रीत्वकरणलक्षणं प्रतिपादयन्नाह—

दी०–'धात्री' बालानां, तस्याः कर्म धात्रीकर्म १, दूती परस्परसन्दिष्टार्थकथनात् २, निमित्तं-अतीताद्यर्थसूचनम् ३, आजीवो जात्यादि कथनादुपजीवनम् ४, वनीपकं–अभीष्टजनप्रशंसनम् ५, चिकित्सा–रोगप्रतीकारः ६ । क्रोधो ७, मानो ८, माया ९, लोभश्च १०, स्पष्टाः, भवन्ति दशैते ॥ ५८ ॥ तथा पूर्व-पश्चात्संस्तवो–दायकश्लाघनम् ११, विद्या–देव्यधिष्ठिता ससाधना च १२, मन्त्रो–देवाधिष्ठितोऽसाधनश्च १३, चूर्णो–नयनाञ्जनादिरूपः १४, योगश्च–सौभाग्यादिकृद्द्रव्यनिचयः १५, एतेषां प्रयोगादुत्पादनादोषाः, षोडशः पुनर्मूलकर्म–गर्भोत्पादनादि चेति गाथाद्वयार्थः ॥ ५९ ॥ तत्र धात्रीदोषमाह—

बालस्स खीरमज्जण-मंडणकीलावणंकधाइत्तं। करिय काराविय वा, जं लहइ जई धाइपिंडो सो ॥६०॥

व्याख्या–'बालस्य' शिशोः 'खीर-मज्जण-मंडण-कीलावणं-ऽकधाइत्तं'ति 'क्षीरं च' दुग्धं 'मज्जनं च' स्नानं 'मण्डनं च' विभूषा 'क्रीडापनं च' रमणं 'अङ्कश्चो'त्सङ्गः, ते तथा, तद्विषयं धात्रीत्वं क्षीर-मज्जन-मण्डन-क्रीडापना-ङ्कधात्रीत्वं कर्मतापन्नं 'करिय' त्ति 'कृत्वा' स्वयं विधाय, अथवा 'काराविय' त्ति 'कारयित्वा' अन्यसकाशान्निष्पाद्य 'वा' विकल्पे, यथा कश्चित्साध्वाभासः परिचितागारीगृहे भिक्षार्थं गतो रुदन्तं बालकं विलोक्य तन्मातरं प्रतीदमाह–रोदित्ययं क्षीराहारो बालकः, अहो तेऽतिप्रमादिता !!, किं सुलभानि पुत्रजन्मानि ?, ततो झगित्येव देहि मे भिक्षां ततः पाययामुं स्तनं, यद्वाऽलं मे भिक्षया, एनमेव तावत्पायय स्तन्यं, भूयोऽप्यहमागमिष्यामि । अथवा ब्रवीति–तिष्ठ त्वं निराकुला, अहमेवास्य

क्षीरं दास्यामीति । एवं मज्जन-मण्डनादिष्वपि धात्रीत्वकरणकारणद्वारेण यत्पिण्डं 'लभते' प्राप्नोति 'यति'स्तथाविधसाधुः 'धाईपिंडो'त्ति धात्रीत्वकरणाल्लब्धः पिण्डो मध्यमपदलोपात् धात्रीपिण्ड इत्युच्यत इति शेषः । 'सो'त्ति सः अनन्तरोक्तः । अत्र च भूयांसो दोषाः, यथा-भद्रकत्वाद्बालकजननी अशुचिभिक्षां दद्यात्प्रान्तत्वात्प्रद्वेषं वा कुर्यात्, कर्मोदयाद्बालकस्य ग्लानत्वे मत्युड्डाहश्च भवेत्, चाटुकारिण इति जनेऽवर्णवादश्च स्यात्, स्वजना अन्ये वा सम्बन्धं वा शङ्केरन्नित्यादि । उदाहरणं चात्र—

इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे कोल्लयरं नाम नयरं होत्था, तत्थ य जंघाबलपरिहीणा संगमथेराभिहाणा गुणरयणनिहिणो सूरिणो परिवसंति । अन्नया य संपत्ते कक्खडे दुब्भिक्खकाले संगमथेरायरिएहिं अणुन्नायनियगच्छपरिव्वुडो सीहाभिहाणसीसो पट्ठाविओ सुभिक्खदेसंतरं, आयरिया वि महाणुभागा मासकप्पेण विहरिउमसमत्था "जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स । सा होइ निज्जरफला, +अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स ॥ १ ॥"त्ति सुत्तमणुसरिऊणं तं खित्तं नवविभागे काऊण चउव्विहाए दव्वखेत्तकालभावरूवाए जयणाए जयमाणा तत्थेव विहरिंसु, तत्थ दव्वओ पीढफलगाइसु, खेत्तओ वसहिपाडएसु, कालओ एगत्थ पाडए मासं वसिऊणं बीयमासे अन्नत्थ वसहिं गवेसिउं× वसंति, भावओ सव्वत्थ निम्ममत्ता विहरंति । इओ य अन्नया कयाइ आयरियपउत्तिगवेसणानिमित्तं पट्ठविओ सीहेण दत्ताभिहाणसीसो । पत्तो य तं नयरं । तओ आयरिया *नीयवासिणो त्ति काऊण ठिओ तप्पडिस्सयाओ बाहिं, वंदिया य किंपि सूरिणो, भिक्खासमए

+ "अध्यात्मविशुद्धियुक्तस्य" (पर्यायः अ०) × "गवेसिय" य. । * नित्यवासिन इति कृत्वा (पर्यायः अ०) ।

पविट्ठो भिक्खट्ठाए तेहिं समं । ×अन्नाउंछचिरहिंडणेण य समुप्पन्नो से संकिलेसो, अहो णु कुंढ*त्तणेण इमो पंतकुलाणि मं हिंडावेइ, भद्दकुलेसु पुण अप्पणा गिण्हिस्सइ। एवंविहं च से संकिलिट्ठपरिणामं नाऊण पविट्ठो एगम्मि+ ईसरकुले तेण समं सूरि। तत्थ य पूयणागहगहियं चेडरूवं रुयंतं दट्ठूण चप्पुडियादाणपुव्वयं भणियं सूरिणा-मा रुय चेडरूव ! त्ति । तओ से अचिंतत-वसामत्थयाए पणट्ठा झत्ति कडपूयणा§, ठिओ तुण्हिक्को चेडो। तओ पहट्ठवयणपंकयाए उवणीयं से जणणीए भरियं मोयगाणं-थालं, गुरुणा वि भणिओ दत्तो-भद्द ! गिण्हसु इमं ति। तओ घेत्तूण पज्जत्तं ति भणिऊण गओ दत्तो उवस्सयं। गुरू वि अंत-पंतेसु कुलेसु भमिऊण पत्तो उवस्सयं, भुत्तं च तेहिं। तओ आवस्सगवेलाए आलोएमाणो भणिओ गुरुणा-भद्द ! सम्ममा-लोएहि। तेण भणियं तुब्भेहिं चेव समं विहरिओम्हि, किमित्थासम्मं ? ति। गुरुणा भणियं-सुहुमधाईपिंडो तुमए परिभुत्तो, छोडियाकरणेण पूयणाचिगिच्छापिंडो य। अहो सुहुमे वि एस मे दोसे पलोएइ, अप्पणो पुण महंते वि न पिच्छइ ! अथवा "सर्वः परस्य पश्यति, बालाग्रादपि तनूनि छिद्राणि। नात्मगतानि तु पश्यति, हिमगिरिशिखरप्रमा-णानि ॥८॥" इइ चिंतिऊण निग्गओ उवस्सयाओ बाहिं ति। तओ जहासन्निहियदेवयाए गुरुपडिणीओ त्ति काऊण वेउव्वियं अब्भवद्दलयं, कयं महंतंऽधयारं जणिओ खरफरुसमारुओ, वरिसाविओ घणो। तओ तिम्मंतेण* भयविहुरमाणसेण य वाहरिया सूरिणो, तेहि वि कओ सद्दो-आगच्छसु त्ति। तेण भणियं-अंधयारे न पेच्छामि वसहिदुवारं। तओ सूरिणा खेला-

×अज्ञातोञ्छः, कोऽर्थः ? अज्ञातकृपणगृहादौ। ❀ मायावित्वेन (प. अ.)। + "एगंसि" अ.। § कटपूतनानाम राक्षसी (प. अ.)। * " भिज्जंतेणं " अ.। आर्द्रीभूतेन (पर्यायस्तत्रैव)

लिद्दकरंगुलीपईवेण उज्जोविया वसही, चिंतियं चण्डेण–अहो !! दीवयपरिग्गहो वि अत्थि आयरियाणं, समागओ गुरुसमीवं, विरइओ अणेण अप्पणा संथारओ, गुरुणा वि उवसंहरिओ अंगुलिपईवो। जाए य तमंधयारे भणिओ गुरुणा, जहा–किमज्जो ! तुब्भे पईवसहियाए वसहिए ठायह ? विहरंत य त्ति, तओ लज्जिओ सीसो। एत्थंतरे समागया देवया, सासिओ तीए। तओ दिन्नं तेण चलणनिवडिएण गुरुणो मिच्छामि दुक्कडं, पडिवन्नं पायच्छित्तं ति गाथार्थः ॥ ६० ॥

अथ दृतीत्वकरणदोषं व्याख्यातुमाह—

टी०—'बालस्य' शिशोः 'क्षीरं' दुग्धं 'मज्जनं' स्नानं 'मण्डनं' विभूषा 'क्रीडापनं' रमणं 'अङ्क' उत्सङ्ग, एतद्विषयं धात्रीत्वं कृत्वा स्वयमन्यस्मात्कारयित्वा वा यद्भक्तादि लभते यतिः स धात्रीपिण्ड इति गाथार्थः ॥ ६० ॥

अथ दूत्याख्यमाह—

कहिय मिहो संदेसं, पयडं छन्नं व सपरग्गामेसु। जं लहइ लिंगजीवी, स दूइपिंडो अणत्थफलो ॥६१॥

व्याख्या–'कथयित्वा' निवेद्य, कं ? इत्याह–'मिथस्सन्देशं' परस्परसन्दिष्टार्थं, किंविशिष्टमित्याह–'प्रकटं' प्रकाशं अथवा 'छन्नं' गुप्तं, 'वा' विकल्पे, क्व ? इत्याह–'सपरग्गामेसु' त्ति 'स्वश्च' निवासमात्रापेक्षया साधोरात्मीयः 'परश्च' अन्यः स्वपरौ, तौ च तौ 'ग्रामौ च' सन्निवेशविशेषौ स्वपरग्रामौ, तयोः। तत्र च स्वग्रामे परग्रामे वा भिक्षार्थं व्रजन् साधुर्मात्रादेः सम्बन्धिनं सन्देशकं गृहीत्वा आहारादिलिप्सया अन्येन वा केनापि दुरध्यवसायेन दुहित्रादेस्तथैव निवेदयति, यथा–सा तव माता अमुकं भणतीत्यादि प्रकटसन्देशकः। तथा गृहीतसन्देशकः कश्चिन्मायावी साधुर्द्वितीयसाधुप्रत्यायनार्थं कामप्यगारीणीं

प्रति वक्ति, यथा–अतिमुग्धा ते सुता, या अस्मान् प्रति वदति, यदुत–इदमिदं च मम मात्रे निवेदनीयमिति। साऽपि दक्षतया तदभिप्रायं विज्ञाय प्रतिभणति, यथा–वारयिष्यामि तां पुनरेवं ब्रुवाणामित्यादिकस्तु प्रच्छन्नसन्देशक इति यं पिण्डं 'लभते' प्राप्नोति, कः? इत्याह–'लिङ्गेन' रजोहरणादिना धर्मचिह्नेन 'जीवितुं' निर्वोढुं शीलं यस्येति लिङ्गजीवी–साधुवेषमात्रधारीत्यर्थः। सोऽनन्तरोक्तः पिण्डः किं? 'दूइपिंडो' त्ति दूतीत्वकरणोपायेन लब्धः पिण्डो दूतीपिण्ड इत्युच्यत इति शेषः। स च किंविशिष्टः? इत्याह–'अणत्थफलो'त्ति, अनर्थान्–प्रचुरैहिकामुष्मिकापायान् 'फलति' जनयतीत्यनर्थफलो–ऽनेकदोषजालहेतुरित्यर्थः। सम्प्रदायश्चात्र—

किल कयोरपि ग्रामयोः परस्परं वैरमासीत्, तयोश्चैकस्मिन् साधुशय्यातरी परिवसति द्वितीये च तद्दुहिता, ततो द्वितीयग्रामे भिक्षार्थं प्रस्थितो निजजनकसाधुर्भणितः शय्यातर्या, यथा–मदीयदुहित्रे इदं कथनीयं, यदुतास्मद्ग्रामो भवद्ग्रामस्योपरि वधपरिणत आस्ते, ततो यत्नेनासितव्यमिति। साधुनापि तत्र गतेन तथैव तस्यै निवेदितं, तयाऽपि स्वभर्त्रे, तेनापि स्वग्रामाय, सोऽपि तदाकर्ण्य सञ्जातभयमत्सरः सन्नह्य स्थितः। आगतश्चात्रान्तरे सङ्ग्रामसज्जः प्रतिपक्षग्रामः, संवृत्तश्च परस्परं समरविड्वरः, जातं च शय्यातर्या जामातृभर्तृपुत्रमरणं। प्रादुर्भूते च केनायं व्यतिकरः कथितः? इति जनवादे शय्यातरिकयैव शोकभरविधुरया लोकाय निवेदितं, यथा–जामात्रादिवैरिणा मम पितृसाधुनेति। ततो लोके महानुड्डाहः साधोः समजनीति गाथार्थः॥ ६१॥ अथ निमित्तकरणदोषमाह—

दी०—कथयित्वा 'मिथःसन्देशं' परस्परसन्दिष्टार्थं 'प्रकटं' प्रकाशं 'छन्नं' गुप्तं वा स्वपरग्रामयो–र्निवासमात्रापेक्षया

आत्मीयान्यस्थानयोर्यल्लभते 'लिङ्गजीवी' साधुवेषधारी, स दूतिपिण्डोऽनर्थफलः, ऐहिकामुष्मिकदोषहेतुरिति गाथार्थः ॥६१॥

अथ निमित्ताख्यमाह—

जो पिंडाइनिमित्तं, कहइ निमित्तं तिकालविसयं पि। लाभालाभसुहासुह—जीवियमरणाइ सो पावो॥६२॥

व्याख्या—यः कश्चिद्व्ययतिः 'पिण्डादीनां' आहारपात्रादीनां, 'निमित्तं' अर्थाय—पिण्डादिनिमित्तं, भक्तादिलिप्सयेत्यर्थः। किमित्याह—'कथयति' आचष्टे। किं तदित्याह—निमित्तं ज्ञानविशेषं। किंविशिष्टमित्याह—'त्रिकालविषयमपि' भूतभाविवर्त्तमानाद्धागोचरमपि। पुनः किंविशिष्टमित्याह—लाभालाभ—सुखासुख-जीवितमरणादि, लाभादिसूचकमित्यर्थः। तत्र 'लाभो'-ऽभिलषितवस्तुप्राप्तिः 'अलाभो' हानिः 'सुखं' सातं 'असुखं' दुःखं 'जीवितं' प्राणधारणं 'मरणं' प्राणवियोगः, एतेषां द्वन्द्वः, आदिशब्दात्सुभिक्षदुर्भिक्षादिपरिग्रहः। एवंविधनिमित्तकथनं चोत्पादनादोष इति 'सो'ऽनन्तरोक्तः साधुः, किमित्याह—'पापः' पापोपदेशकत्वात्पापीयान्। अत्रेदमुदाहरणं—

एगम्मि सन्निवेसे गामभोइओ होत्था, सो य तओ नरिंदाएसेण देसंतरं गओ, चिरकाले य गए उवाहुलीभूया+ से भोइणी भिक्खानिमित्तमागयं एगं समणं पुच्छइ—भयवं! किं निमित्तं वियाणसि न व त्ति ?, तेण भणियं—सुट्ठु जाणामि। तीए जंपियं—जइ एवं ता कहेहि कया मे भोइओ एही ?, तेण संलत्तं—कल्लं ति। तीए भणियं—को एत्थ पच्चओ ? त्ति, तओ तेण गुज्झदेसतिलय—सुमिणदंसणाइओ पच्चओ साहिओ। तओ आउट्टाए भोइणीए दवाविया तस्स मोयगाइया

+ य. पुस्तकेऽयं पाठः, " °लीहूया " इ. क. प., " °लीया " श्र.।

पउरभिक्खा । बीयदियहम्मि य तीए कारिया संमज्जणो-वलेवण-सोत्थिय-वंदणमालाइया सघरसोहा, पट्ठविओ य परियणो भोइयाभिमुहो । तओ नियमंदिरसमायारदंसणत्थमेगागी समागच्छंतो दिट्ठो परियणेणं। तओ तेण भणियं-कहं ममागमणं वियाणियं ? तुब्भेहिं ति । परियणेण वि जंपियं-भोइणीवयणाउ त्ति । तओ विम्हियचित्तो समागओ गेहं, तओ सकोउगेणं पुच्छिआ घरिणी, तीए वि रंजियहिययाए सलाहमाणीए साहिओ गुज्झतिलय-सुमिणाइओ निमित्ताइसओ । तओ मिच्छावियप्पवसरुट्ठेण वाहरिऊण पुच्छिओ समणो, जहा-इमीए वलवाए केरिसो गब्भो ? त्ति, तेण भणियं- +पंचपुंडो किसोरो त्ति । तओ भोइएण फालावियं वलवाए पुट्टं, दिट्ठो य जहाऽऽदिट्ठो किसोरो, भणियं ×च तेण-जइ एयं सव्वं न हुंतं तो ते पुट्टं फालियं हुंतं ति गाथार्थः ॥ ६२ ॥ अथाजीवनादोषं व्याख्यातुमाह—

दी०—यः साधुः पिण्डादीनां निमित्तं-आहारवस्त्रपात्रादीनां लिप्सया कथयति निमित्तं-ज्ञानविशेषं त्रिकालविषयमपि, तथा लाभालाभ-सुखासुख-जीवितमरणादी[ति]नि (?) निमित्तविशेषणं स्पष्टं, स पापः, पापोपदेशकत्वादिति गाथार्थः ॥६२॥

तथा आजीवाख्यमाह—

जच्चाइधणाण पुरो, तग्गुणमप्पं पि कहिय जं लहइ। सो जाई-कुल-गण-कम्म-सिप्प-आजीवणापिंडो॥६३

व्याख्या—जातिर्वक्ष्यमाणलक्षणा, सा आदिर्येषां कुलादिवस्तूनां तानि तथा, तान्येव 'धनं' स्वोत्कर्षहेतुतया वित्तं येषां ते जात्यादिधनास्तेषां, दातॄणामिति गम्यते, पुरतो-ऽग्रतस्तद्गुणं-दातृसमानजात्यादिधर्मकं 'आत्मानमपि' स्वमपि

+ पञ्चचन्द्रकः (पर्यायः अ.)। × "चऽणेण" ह. ।

'कथयित्वा' वचनेन प्रकाश्य यं पिण्डं लभते—स्वजात्यादिपक्षपातरञ्जितेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यः सकाशात्प्राप्नोति, साधुरिति गम्यते। सो-ऽनन्तरोक्तः पिण्डः किमित्याह—'जाई'त्यादि, जातिश्च वक्ष्यमाणार्था, एवं कुलं च गणश्च कर्म च शिल्पं च, तानि तथा, तेषामाजीवना—उपजीवना सा तथा, तया लब्धः पिण्डो जाति-कुल-गण-कर्म-शिल्पाजीवनापिण्ड इत्युच्यत इति शेषः। इति गाथार्थः ॥ ६३ ॥ अथ जात्यादीन्येव व्याख्यानयन्नाह—

दी०—'जात्यादिधनानां' वक्ष्यमाणजात्यादिवर्णनोत्कर्षचित्तानां 'पुरो'ऽग्रतः 'तद्गुणं' जात्यादिभिस्तुल्यमात्मानमपि-स्वं कथयित्वा यल्लभते साधुः स जाति-कुल-गण-कर्म-शिल्पानामाजीवनापिण्डः स्यादिति गाथार्थः ॥ ६३ ॥

जात्यादिस्वरूपमाह—

माइभवा विप्पाइ व,जाई उग्गाइ पिउभवं च कुलं। मल्लाइगणो किसिमाइ,कम्मं चित्ताइ सिप्पं तु ॥६४॥

व्याख्या—'मातृभवा' जननीसमुत्था अथवा 'विप्पादि व'त्ति 'विप्रादिका' ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यप्रमुखा, वाविकल्पे, जाति—र्जातिशब्दाभिधेया, भण्यत इति सर्वत्र शेषः। तथा 'उग्रादि' उग्रभोगप्रभृतिकं, तत्रोग्रभोगौ—आदिदेवव्यवस्थापितौ वंशविशेषौ, यद्वा 'पितृभवं' जनकसमुत्थं, वा विकल्पार्थः 'कुलं' कुलसञ्ज्ञं। तथा मल्लादि-मल्ल-सारस्वतप्रभृति'र्गणो' गण-सञ्ज्ञः। मल्लगण-सारस्वतगणस्वरूपं तु लोकरूढितो ज्ञेयं। तथा 'किसिमाइ'त्ति मकारस्यागमिकत्वात् 'कृष्यादि' कर्षण-वाणिज्यप्रभृति 'कर्म' कर्माख्यं। तथा 'चित्रादि' चित्रकर्म-सीवनप्रभृति पुनः 'शिल्पं' शिल्पनामकं, तुः—पुनरर्थे, तत्प्रयोगश्च दर्शित एवेति गाथार्थः ॥ ६४ ॥ अथ वनीपकदोषं व्याख्यातुमाह—

दी०—'मातृभवा' जननीसमुत्था विप्रक्षत्रियवैश्यादिर्वा जातिः, उग्रभोगादि पितृभवं वा कुलं, मल्लसारस्वतादिर्गणो लोकप्रतीतः, कृषिवाणिज्यादि कर्म, चित्रसीवनादि शिल्पं, 'तु' पुनरिति गाथार्थः ॥ ६४ ॥ अथ वनीपकमाह—

पिंडट्ठा समणातिहि-माहणाकिविणसुणगाइभत्ताणं। अप्पाणं तब्भत्तं, दंसइ जो सो वणीमो त्ति ॥६५

व्याख्या—'पिण्डार्थं' भोजनादिनिमित्तं—भक्तादिलिप्सयेत्यर्थः। आत्मानं तद्भक्तं, दर्शयतीति योगः। केषां? इत्याह—श्रमणातिथिब्राह्मणकृपणशुनकादिभक्तानां, श्रमणाश्च—निर्ग्रंथ-शाक्य-तापस-गैरिका-जीविकलक्षणाः, तत्र 'निर्ग्रन्था' जैनमुनयः 'शाक्याः' सौगतयतयः 'तापसा' वनवासिपाषण्डिविशेषाः 'गैरिकाः' परिव्राजकाः 'आजीविका' गोशालमतवर्तिभिक्षुका इति। अतिथयश्च-प्राघूर्णकाः 'ब्राह्मणाश्च' धिग्जातीयाः 'कृपणाश्च' दरिद्रादयः 'शुनकाश्च' सारमेयास्ते तथा, ते आदिर्येषां काकशुकगवादीनां ते तथा। तेषां 'भक्ता' भक्तिमन्तो ये दातृलोकास्तेषां पुरत 'आत्मानं' स्वं, किं? इत्याह—तद्भक्तं, तेषां-श्रमणातिथिप्रभृतीनां 'भक्तं' प्रशंसादिविधानतो भक्तिमन्तं। तथाहि—आहारादिलिप्सुश्चाटुकारबुद्ध्या निर्ग्रन्थानाश्रित्य ब्रूते, यथा—भोः श्रावक! तवैते गुरवः +श्रुतार्णवपारदर्शिनो निर्मलचरणगुणधारिणः सुविहितयतिव्राततिलकाश्चेत्यादि, शाक्यादीनाश्रित्य वक्ति, यथा—भो भिक्षूपासकादय! एते युष्मदीयश्रमणा ×निभृतभोजिनोऽतिसर्वसत्त्वकारुणिकाः अत्यन्तं दानरुचयोऽतिकष्टतपोविधानवृत्तयश्चेत्यादि, अतिथीनङ्गीकृत्य शेषदानापेक्षया तद्दानस्योत्तमतां वर्णयति, यथा—पाएण देइ लोगो, उवगारिसु परिचिएसु झुसिए वा। जो पुण अद्धाखिन्नं, अतिहिं पूएइ तं दाणं ॥ १ ॥"

+ "श्रुतमुद्रार्णव" अ०। × निश्चिन्त्य भोजिनः।

'अुसिए'त्ति अध्युषिते—आश्रित इत्यर्थः । ब्राह्मणानुद्दिश्य प्राह, यथा—सम्प्रदानभूततया लोकानुग्रहकारिभ्यो जातमात्रब्राह्मणेभ्योऽपि दत्तं महाफलं भवति, किम्पुनः षट्कर्मनिरतेभ्य इति, कृपणानुररीकृत्यैवमाह, यथा—दरिद्रेभ्य इष्टवियोग*विधुरितेभ्योऽबान्धवेभ्यो दारुणातङ्कनि§पीडितेभ्यश्छिन्नकरचरणाद्यवयवेभ्यश्च सत्त्वेभ्यो ददद्दानं पातकमपहरतीति, शुनोऽधिकृत्य पुनरेवमाह, यथा—एते कौलेयका गवादिभ्योऽप्यतिदुर्लभतराहाराश्छिच्छिकारतिरस्कृतस्वेष्टविहाराः लता-[? लत्ता]लगुडलेष्ट्वाद्यभिघातसदाबाधितदेहा गौरीहराश्रयाः कैलासशैल†कलिपतालया यक्षाभिधानदेवजातयो मह्यागताः श्वाकृतिचारिणः पूजापूजयोश्च सत्योर्लोकस्य हिताहितकारिणश्चेत्यतोऽतिदुष्करकारकत्वाद्देवतात्मकत्वाच्च पूजनीया एत इति । दोषाश्चात्र मृषावाद-मिथ्यात्वस्थिरीकरणा-धिकरणप्रवर्त्तनादयो यथासम्भवं वाच्याः । इत्येवं 'दर्शयति+' प्रकटयति यः कश्चित्साध्वाभासः, सोऽनन्तरोक्तो 'वणीमो त्ति'त्ति प्राकृतत्वाद्वनीपक इत्युच्यत इति शेषो वनीपकत्वकरणं चोत्पादनादोष इति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ अथ चिकित्सादोषमभिधातुमाह—

दी०—पिण्डार्थं 'श्रमणा' निर्ग्रन्थ-बौध-तापस-परिव्राजकादयः 'अतिथयः' प्राघूर्णकाः 'माहणा' ब्राह्मणाः 'कृपणा' दरिद्रान्धच्छिन्नाङ्गादय 'शुनकादयः' कुक्कुर¶काकबकगवादयस्तेषां भक्ता ये दातृजनास्तेषां पुरत आत्मानं 'तद्भक्तं' श्रमणादीनां प्रशंसादिना भक्तिपरं दर्शयति । एतत्प्रशंसादिना मृषावादमिथ्यात्वाधिकरणादयो दोषा यथार्हं ज्ञेयाः । एवं यः साधुः,

---

* "०विधुरेभ्यः" अ० । "विधुरतिभ्यः" प. क. ह. । § "निष्पीडितेभ्यः" अ० । † "०शैलशिरः कलिपता०" अ० । + "दर्शयति यः कश्चित्" ह. क. । ¶ "कुकुरादयः काक०" क. । अस्मद्धिया "कुक्कुरादयः [आदिशब्दात्] काक०" इति भवितुमर्हतीति ।

द्वितीयोत्पादनादोषेषु पंचमो वनीपकदोषः ।

स 'वणिमु'त्ति वनीपक इति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ अथ चिकित्साख्यमाह—

भेसज्ज-वेज्जसूयण-मुवसामण-वमणमाइकिरियं वा। आहारकारणेण वि, दुविहतिगिच्छं कुणइ मूढो ॥६६

व्याख्या—इह किल द्विविधा चिकित्सा स्यात्–सूक्ष्मा बादरा च । तत्राद्यां प्रतिपादयन्नाह–'भेसज्ज–वेज्जसूयणं'ति 'भैषज्यं×' चौषधविशेषो 'वैद्यश्च' भिषक्, तयोः 'सूचनं' अर्थापत्त्या निवेदनं–भैषज्यवैद्यसूचनं, यथा–किल कश्चिद्गृही रोगाघ्राततनुर्भिक्षादिगतं साधुमवलोक्य पृच्छति, यथा–भगवन् ! एतस्य मदीयव्याधेः कमपि प्रतीकारं जानीषे ?, स चाह–ममाप्येवंविधव्याधिरमुकेन त्रिफलाद्यौषधेन प्रगुणो जातो, यद्वा सासूयं* वक्ति, यथा–किमहं वैद्यो ? यद्रोगप्रतिक्रियां वेद्मीत्येवं पर्यवसितवृत्त्या§ साधुनाऽबुधरोगिगृहिणश्चिकित्सा वैद्यं पृच्छामीति वा ज्ञापितं भवति । अथ बादरचिकित्सामाह–'उवसामणवमणमाइकिरियं व'त्ति, मकारस्यागमिकत्वादुपशमनं–चोदीर्णपित्तादेः प्रशमनं, वमनं च प्रतीतं, ते तथा, ते आदी यस्याः स्वेदन-विरेचन-क्षार +सिरावेधाग्निकर्मादिक्रियायाः सा तथा, सा चासौ 'क्रिया च' कर्म, सा तथा, तां, वाशब्दो विकल्पार्थः । इत्येवं द्विविधचिकित्सां करोतीति योगः । 'आहारकारणेनापि' अशनादिहेतोरपि । अपिशब्दस्तुच्छाहारग्रासमात्रनिमित्तमपि ×जैनमुनेश्चिकित्साकरणे विरसं द्योतयति । 'द्विविधचिकित्सां' दर्शितप्रकारेण द्विभेदरोगप्रतिक्रियां 'करोति' सूचाद्वारेण साक्षाद्वा विधत्ते, साधुरिति प्रक्रमः । किंविशिष्ट ? इत्याह–'मूढ'श्चारित्रमोहवाँश्चिकित्साकरणं चोत्पादना-

---

× भेषजमेव भैषज्यम् । * सरोषम् । § निश्चयनयवृत्त्या (प० अ.) । + "०शिरावेधा०" प० ह० । "धमन्यां तु, धमनिर्नाडिनाडकौ । नाडी शिरा सिरा" इति शब्दरत्नाकरः ३ । १९४ । × तत्त्वज्ञसाधोरपि (पर्यायः अ०) ।

दोष इति। दोषाश्चात्र–क्वाथकथनादौ षड्जीवनिकायोपघातादयः स्युः, तथा तप्तायोगोलककल्पो गृहस्थोऽपि नीरोगः कृतः सन् सर्वत्र सावद्ये प्रवर्त्तितो भवति। दुर्बलान्धव्याघ्रोदाहरणं चात्र, यथा-किल केनापि भिषजा दुर्बलान्धव्याघ्रः सज्जलोचनो विहितः सन्ननेकसत्त्वव्यापत्तिं कृतवान्, एवं दुर्बलरोगिचिकित्सितगृहस्थोऽपि सावद्यक्रियां करोति, दैवयोगाच्च साधुविहित-क्रियाऽनन्तरं रोगिणो व्याधेरत्युदये सति कुपिततत्पित्रादेः सकाशात् साधोरनर्थः स्यात् प्रवचनोपघातश्चेत्यादि, इति गाथार्थः ॥ ६६ ॥ अथ क्रोधपिण्डमाह––

दी०––इह चिकित्सा द्विविधा–सूक्ष्मा बादरा च*, तत्र सूक्ष्मा यथा–भैषज्यमौषधं, वैद्यो–भिषक्, तयोः सूचनं–कथनं, बादरा च यथा–उपशामनं पित्तादीनां, वमनं प्रतीतं, आदिशब्दात्स्वेदनविरेचनादिग्रहस्तेषां क्रिया वा-कर्म वा, आहारकारणेनापि द्विविधां चिकित्सां करोति मूढ इति स्पष्टो गाथार्थः ॥ ६६ ॥ अथ क्रोधमाह––

विज्जातवप्पभावं, निवाइपूयं बलं व से नाउं। दट्ठूण व कोहफलं, देइ भया कोहपिंडो सो ॥ ६७ ॥

व्याख्या––विद्या च प्रतीता, उपलक्षणत्वान्मन्त्रयोगादिपरिग्रहः। तपश्च मासक्षपणादि, ते तथा, तयोः 'प्रभाव' उच्चाटनादिसामर्थ्यं, तं। तथा 'नृपादिपूजां' राजाऽमात्यप्रभृतिसन्मानादिसपर्यां। तथा 'बलं' शरीरसामर्थ्यं, वा शब्दो विकल्पार्थः। 'से' तस्याधिकृतसाधोः सम्बन्धिनं। किमित्याह–'ज्ञात्वा'ऽवगम्य, तथा 'दृष्ट्वा'ऽवलोक्य, वाशब्दः पूर्वापेक्षया

* "०रा च, तद्यथा–भै०"

विकल्पार्थः । किं तदित्याह–'क्रोधस्य' कोपस्य 'फलं' शापदानतः कस्यापि मरणादिकं कार्यं क्रोधफलं । किं करोतीत्याह–'ददाति' प्रयच्छति गृहस्थः साधवे यं पिण्डमिति गम्यते । कस्मात्कारणादित्याह–'भयात्' किलायं साधुर्भिक्षाऽदाने कुपितो +विद्यामन्त्रयोगादिभ्य उच्चाटनकरणादिना, तपसस्तु शापदानादिना, राजाऽमात्यादिबलेन निस्सारणदण्डादिना, शारीरबलेन परुषभाषण-यष्टिमुष्टिप्रहारदानादिना मा मेऽनर्थं करिष्यतीत्यादिलक्षणात्त्रासात्, अत्र च सर्वत्र कोप एव पिण्डोत्पादने मुख्यं कारणं द्रष्टव्यं, कोपपिण्डाधिकारत्वात्, विद्यादीनि तु तत्सहकारिकारणान्येवेति न विद्यापिण्डादिभिः सहास्य लक्षणसाङ्कर्यमिति। स किमित्याह–क्रोधादुत्पादितः पिण्डः क्रोधपिण्डः सो-ऽनन्तरोक्तः स्यादिति शेषः। इह च पिण्डशब्दस्य प्रधानत्वेऽपि क्रोधः प्रधानोऽवसेयः, उत्पादनादोषाणां प्रस्तुतत्वात्तस्यैव च दोषत्वात्, एवमन्यत्रापि यथासम्भवं वाच्यम्। अत्र चोदाहरणं सूत्रकारो लाघवार्थं "कोहे घेवरखवगो" इत्यग्रेतनगाथांशेन भणिष्यति, +वयं तु स्वस्थानत्वादत्रापि ब्रूमः, यथा—

×हत्थकप्पे नयरे एगो साहू मासक्खवणपारणगदिणे भिक्खं हिंडंतो धिज्जातीयगेहे मयगभत्तसंखडीए पविट्ठो, तत्थ य धिज्जाइयाणं घयउरा* दिज्जंति। साहू य तत्थ अणाढाइज्जमाणो चिरं अच्छित्ता सकोवो§ अन्नहिं दाहित्थ त्ति भणिऊणं निग्गओ। तत्थ दिव्वजोगेण बीयं मयं। तत्थ वि तहेव मासियमयगभत्तसंखडीए पविट्ठो, अलभमाणो य अन्नहिं दाहित्थ त्ति भणंतो निग्गओ, पुणो वि दिव्वजोएण तइयं माणुसं मयं, तत्थ वि तहेव मयगसंखडीए तइयं वारं पविट्ठो, अलभमाणो य अन्नहिं दाहित्थ त्ति भणंतो जाव निग्गओ घराओ ताव एगो थेरबारवालो तइयं पि वारं एरिसं साहुवयणं सोऊण सयलं

+ "मन्त्रविद्यायोगादिभ्यः" अ.। + यशोदेवसूरयः । × "हत्थिकप्पे" अ०। * "घेउरा" अ०। § "सकोहो" यः।

नइयरं कहेइ घरवइणो, भणइ य-पसाएह एयं समणं, मा सव्वे वि मरिस्सह त्ति। तओ तेण वाहरिऊण खामित्ता पडिलाभिओ घयपुन्नेहिं ति । एवं च यो लभ्यते स क्रोधपिण्ड इत्युच्यत इति गाथार्थः ॥ ६७ ॥ अथ मानपिण्डमाह—

दी०—विद्योपलक्षणान्मन्त्रयोगाद्यपि, तपो मासक्षपणादि, तयोः प्रभावं-उच्चाटनादिसामर्थ्यं, नृपामात्यादिपूजां, बलं वा शारीरिकं, 'से' तस्य ज्ञात्वा, दृष्ट्वा [वा] क्रोधफलं शपनादिकं, ददाति गृही भयादुक्तहेतूनां, स क्रोधपिण्डः स्यात् । विद्यादीन्यत्र क्रोधोत्पादकानीति गाथार्थः ॥ ६७ ॥ अथ मानमाह—

लद्धिपसंसुत्तुइओ, परेण उच्छाहिओ अवमओ वा। गिहिणोऽभिमाणकारी, जं मग्गइ माणपिंडो सो ।६८

व्याख्या—'लब्धिश्च' लाभः 'प्रशंसा च' श्लाघा, ते तथा, ताभ्यां 'उत्तुइओ'त्ति गर्वितो-ऽहङ्कारवान्, यद्वा 'परेण' अन्येन साध्वादिना 'उत्साहितः' त्वमेवास्य कार्यस्य करणे समर्थो, नान्य, इत्यादिवचनेन प्रेरितः, यद्वा 'अवमतो'ऽपमानित-स्त्वया न किञ्चित्सिद्ध्यतीत्यादिवचनेन तिरस्कृतो, वा विकल्पे, परेणेत्यत्रापि योज्यते । 'गृहिणो' गृहस्थस्याभिमान-महमने न साधुना याचितस्ततोऽस्मै स्वकीयमदित्सुं कलत्रादिकं तिरस्कृत्यापि मया दातव्यमस्येत्येवंरूपमहङ्कारं 'करोति' विधत्ते, इत्येवंशीलोऽभिमानकारी सन्, साधुरिति गम्यते, यं सेवतिकाद्याहारजातं 'मृगयति' गवेषयति, स किमित्याह-मानादुत्पादितः पिण्डो मानपिण्डः सो-ऽनन्तरोक्तः स्यादिति शेषः । अत्राप्युदाहरणं **"माणे सेवइयखुड्डगो नायं"**ति वक्ष्यमाणगाथाऽवयवेन वक्ष्यति, तदपि स्वस्थानत्वादत्रैवोच्यते—

अत्थि कोसलाविसए गिरिफुल्लियं नाम नयरं, तत्थ य सेवइयाछणे तरुणसमणाणं समुल्लावे एगेण भणियं-अज्ज

द्वितीयोत्पादनादोषेषु सप्तमे क्रोधपिण्डदोषे घृतपूरक्षपकोदाहरणम् ।

भिक्खावेलाए को किर न लब्भइ ? इड्डुगाओ, जो पच्चूसे आणेइ सो नाम लद्धिमंतो । तओ भणियमेगेण चेल्लगेण–अहमाणेमि । तेहिं भणियं–किं नाम ताहिं घयगुलरहियाहिं अपज्जत्ताहि य । तओ जारिसियाओ इच्छह तारिसियाओ आणेमि त्ति भणंतो निग्गओ चेल्लओ, पत्तो इब्भगेहं, दिट्ठाओ तत्थ घयगुलसंजुत्ताओ पभूयाओ सेवइयाओ, ओहासिया तग्घरिणी बहुप्पयारं, पडिसिद्धो य बाढमणाए, तओ संजायाहंकारेण भणियमणेण–अवस्स मए एयाओ घेत्तव्वाओ, तीए भणियं–जइ एयाणं एगंपि गिण्हसि ता मे नासाए मुत्तिज्जसु त्ति । तओ घराओ निग्गंतूण पुच्छिओ तेण कस्सइ सगासे घरसामी, साहिओ य तेण सो परिसागओ । पत्तो य तत्थ खुड्डगो। तओ पुच्छिया परिसापुरिसा, जहा–कयरो ? तुम्हाणं देवदत्तो त्ति, तेहिं भणियं–किं तेण ?, खुड्डएण भणियं–किंचि जाइस्सं । तेहिं भणियं–अलं तेण किवणेण जाइएण, अम्हे मग्गसु त्ति । देवदत्तेण भणियं–जं मग्गसि तमहं देमि त्ति । तओ साहुणा जंपियं–जइ एएसिं छण्हं पुरिसाणं अन्नयरो न भवसि तओ मग्गामि । तेहिं भणियं–के ते छप्पुरिसा ?, चेल्लएण पयंपियं—

" सेडंगुलि[2] बगुड्डावे[3], किंकरे[4] तित्थण्हायँए[5] । गिद्धावर[रिं]खिं हद–न्नएँ[6] य पुरिसाहमा छव ? "

तत्थ सेडंगुलि त्ति, जहा–एगेण नियजायानिदेसवत्तिणा कुलउत्तेणं छुहालुणा पच्चूसे चेव भणिया नियमहिला, जहा–रंधेसु जइ मे रोयइ, जेणाहं भुंजामि त्ति । तीए सयणट्ठियाए चेव समुल्लविओ य–जइ छुहिओ तओ अवणेसु चुल्लिओ छारं, आणेहि इंधणं, पज्जालेसु जलणं, जलाउन्नं काऊणमारोवेसु चुल्लीमत्थए थालिं, कोट्ठगाओ आणेऊण पक्खिवसु तंदुले, तओ रंधिऊण साहिज्जसु, जेणाहमुट्ठिऊण परिवेसेमि । तेण वि पिया जं आणवेइ त्ति भणिऊण तहेव कयं, जाव तीए परिविट्ठं ।

एवं तस्स पइदिणं चुल्लीओ छारमवणितस्स सेडाओ अंगुलीओ पमाए लोया पिच्छंति त्ति सेडंगुली भण्णइ त्ति १ ।

तहा बगुड्डावे त्ति, जहा–एगो कुलपुत्तओ अच्चुक्कडपेमपरवसो पभणिओ नियपिययमाए, जहा–तलागाओ तुमं पइदिण-मुदयमाणेसु त्ति । तओ सो दिवसे ओलज्जमाणो रयणीए चरमजामे दिणेदिणे कुडवं घेतूण सलिलमाहरंतो बगे उड्डावेइ त्ति विन्नायवुत्तंतेण जणेण बगुड्डावो त्ति भण्णइ २ ।

तहा किंकरे त्ति, जहा–किर एगो कुलपुत्तओ निययजायाए अच्चंताणुरत्तो पच्चूसे चेव सयणाओ उट्ठिऊण आएसं मग्गइ, जहा–पिययमे ! आइससु किं करेमि ? त्ति, तीए भणियं–उदगमाणेसु । तं संपाडिऊण पुणो वि भणइ–किं करेमि ? सा भणइ–खंडेसु तंदुले । तस्समत्तीए पुणो वि भणइ–किं करेमि ?, सा भणइ–देहि मे भोयणं । तं दाऊण भणइ–किं करेमि ? सा भणइ–उज्झसु उच्छिट्ठमल्लए । तं काऊण भणइ–किं करेमि ? तीए भण्णइ–धोएसु चलणए त्ति । एवं च जणेणं सो किंकरो त्ति वुच्चइ त्ति ३ ।

तहा तित्थण्हायए त्ति, जहा–एगो तरुणनरो नियजायं भणइ–जहाऽहं पिए ! ण्हाउमिच्छामि, तीए भणिओ- + जइ एवं ता घेत्तूण तेल्लामलए परिहिऊण पोत्तिं गहेऊण कुडयं वच्चसु सरोवरं । तत्थ जहिच्छं मज्जिऊण देवऽच्चणं च काऊण जलापुण्णकुडयं घेत्तूण लहुमागच्छसु त्ति । तेण पिययमा जं आणवेइ त्ति भणिऊण तहेव कयं, तओ तित्थण्हायओ त्ति लोगे पसिद्धिमागओ ४ ।

+ " भणियं " अ. ।

तहा गिद्धावरंखि त्ति जहा–एगो जुवाणपुरिसो नियमहिलावयणाणुवत्तणपरो एगया भोयणट्ठमुवविट्ठो भणइ–पिए! लुक्खमिणं×, देसु घयं ति, तीए वि रंधंतीए तहट्ठियाए चेव भणियं–इओ सणियं थेवं सरसु त्ति, तओ सो गिद्धपक्खी विव सरिओ थेवं, तओ साहिक्खेवं भणियमणाए–पुणो वि सरसु त्ति, एवं पुणो पुणो तीए भण्णमाणो ताव सरिओ जाव महिला-समीवं ति। तओ तव्वुत्तंतं नाऊण कुसलेण जणेण गिद्धावरंखि त्ति पवुच्चइ त्ति ५।

तहा हदन्नओ त्ति, जहा–एगो कुलपुत्तओ नियजायाणुरत्तचित्तो नियडिंभरूवाणि उच्छंगाइगयाणि सययं कीलावेइ, तम्मुत्तपुरीसोवलित्ताणि चीवराणि य पक्खालेइ, तओ हदन्नओ त्ति पसिद्धिं गओ ६।

एवं च खुड्डगेण सिट्ठे परिसापुरिसेहिं भणियं सोवहासं–भयवं! सव्वेवि+ दोसा एत्थ निवसंति, ता मा एयं मग्गसु। गिहवइणा भणियं–मा एयाणं वयणाणि निसुणसु, ×नोहमेरिसो, जायसु जं ते रुच्चइ त्ति। चेल्लएण भणियं–जइ एवं ता देसु घयगुलसणाहाओ सेवईयाओ। तओ देमि त्ति भणंतो गओ चेल्लयसहिओ घरसमीवं। एत्थंतरम्मि साहिओ तस्स जायाभंड*-णवुत्तंतो खुड्डएण, जइ एवं ता चिट्ठसु ताव इहं ति भणंतो पविट्ठो गेहम्मि गिहवई, भणिया य जाया, जहा–सिद्धं? भोयणं ति, तीए वि तह त्ति पडिवन्ने भणिया–उत्तारेसु मालाओ घयगुलं, जेण दियाइणो भुंजावेमि। तओ निस्सेणीए आरूढा मालं, अवणीया तेण निस्सेणी। तओ वाहरिऊण घयगुलपज्जत्तीहिं पडिलाभिओ चिल्लओ इट्टगाहिं। तओ तं पेच्छिऊण कओ अणाए

× "°मिणं भोयणं, देसु" य. । + "०वि एए दोसा" अ. । × "नाहमेरिसो" प. क. अ. । * "भिडण" ह. अ. ।

कलयलो। खुड्डएणावि सनासानिसियंगुलिणा दावियं से नासियाए काइयावोसिरणं ति। तओ पत्तयं भरिऊण गओ खुड्डओ, ते सव्वे साहुणो भुंजाविय त्ति। एवं यो लभ्यते स मानपिण्डः, दोषाश्चात्र-वनितादेः प्रद्वेषात्मवधादयः प्रवचनोपघातादयश्च मन्तव्या इति गाथार्थः ॥ ६८ ॥ अथ गाथापूर्वार्द्धेन मायापिण्डमाह—

दी० 'लब्धिप्रशंसाभ्यां' लाभश्लाघाभ्यां 'उत्तुइओ' गर्वितः, यद्वा परेण साध्वादिना उत्साहितस्त्वमेवास्य क्षम इत्यादि वचनैस्तथा 'अवमतो' अपमानितस्त्वया न किञ्चित्सिद्ध्यतीत्यादिना साधुगृहिणोऽभिमानकारी सन् यं पिण्डं 'मृगयते' गवेषयति स मानपिण्ड इति गाथार्थः ॥ ६८ ॥ अथ मायालोभाख्ये आह—

मायाए विविहरूवं, रूवं आहारकारणे कुणइ।

व्याख्या—'मायया' शाठ्येन-परप्रतारणबुद्ध्येति यावत्। 'विविधरूपं' काणकुब्जाद्यनेकस्वभावं। किं तदित्याह-'रूपं' निजाकारं 'आहारकारणे' मोदकादिपिण्डनिमित्तं 'करोति' विधत्ते यः साधुस्तस्यैवं लब्धो मायापिण्डो भवति, आषाढभूतियतेरिव, यद्वक्ष्यति-'मायाए असाढभूइ'त्ति। तत्कथानकं च स्वस्थानत्वादत्रापि ब्रूमः, तथाहि—

दीवजलहीण मज्झे, सव्वाणं सारदवरमणिज्जो। जंबुद्दीवो दीवो, कुलसेलविभूसिओ अत्थि ॥ १ ॥ तत्थ भरहम्मि वासे, दाहिणखंडम्मि अत्थि जयपयडो। देसाण मगहदेसो, जह चक्की सव्वमणुयाणं ॥ २ ॥ तत्थ य अइरमणिज्जं, पमुइयजणसंकुलं पुरं अत्थि। रायगिहं नामेणं, नहं व कविसूरमुणिकलियं ॥ ३ ॥ तत्थासि सत्तुमायंग-कुंभनिद्दलणकेसरिकिसोरो। पणयजणपूरियासो, सीहरहो नामनरनाहो ॥४॥ अह अन्नयाकयाई, विहरंता समणसंपयसमेया। धम्मरुईआयरिया, समागया तत्थ

गुणसिलए ॥ ५ ॥ उज्जाणे तेसि पुणो, बहुविन्नाणो आसाढभूइत्ति । नामेण आसि सीसो, स अन्नया भिक्खकज्जेणं ॥ ६ ॥ नीहरिओ वसहीओ, पत्तो निवनडगिहं तओ तत्थ । लद्धो रसगंधड्ढो, अइपवरो मोयगो एगो ॥ ७ ॥ तत्तो विणिग्गएणं, विचिंतियं तेण एस ता गुरुणो । होही मग्गामि पुणो, तत्थऽन्नं अप्पणो हेउं ॥८॥ अच्छि काणं काउं, पुणो गओ तत्थ सो पुणो लद्धो । एसोवज्झायाणं, भविस्सइ इय मणे काउं ॥ ९ ॥ पुणरवि खुज्जयरूवं, करित्तु तत्थेव अइगओ खुड्डो । लद्धे तहेव चिंतइ, एसो संघाडियजइस्स ॥ १० ॥ होहि त्ति कुट्ठिरूवं, काउं पत्तेण तो पुणो लद्धो । एत्तो चिल्लयचरियं, पासाओवरित-लगएणं ॥ ११ ॥ दट्ठूण चिंतियमिमं, नडेण अवो !! सुसुंदरो एस । होइ नडो ता एसो, केण पगारेण घेत्तवो ? ॥ १२ ॥ एवं चिंततेणं, लद्धोवाएण तेण तं झत्ति । वाहरिय सबहुमाणं, भाणं भरियं मोयगाणं ॥ १३ ॥ भणिओ य तेण एसो, भद्द ! तए भिक्खकज्जसज्जेणं । पइदियहं मह गे(हं)हे, आगंतवं असंदिद्धं ॥ १४ ॥ एवं निसामिऊणं, विणिग्गओ खुड्डगो गओ वसहिं । तयणंतरं च सयलं, तव्वुत्तंतं निवेइत्ता ॥ १५ ॥ भणिया नडेण भज्जा, मोयगदाणाइणा तए भद्दे ! । उवयरियवो एसो, नियधूयाओ य तह भणसु ॥ १६ ॥ अणुकूलुवयारेहिं, ताओ जह तं वसम्मि आणंति । तत्तो नडीए भणिया-हिं ताहिं पइदिवसमिंतस्स ॥ १७ ॥ सगिहम्मि तस्स सिंगार-हाससवियारवयणपमुहेहिं । अणुकूलुवसग्गेहिं, आमयकुंभोव सलिलेणं ॥ १८ ॥ भिन्नं चित्तं बाढं, वीसरिओ सुगुरुवयणवरमंतो । नट्ठो कुलाभिमाणो, लज्जा वि हु दूरमोसरिया ॥ १९ ॥ उइयं चरणावरणं, कम्मं अइदारुणं तओ लग्गो । परिहासखिड्डमाई, काउं भणिओ य तो ताहिं ॥ २० ॥ जइ अत्थि तुज्झ कज्जं, अम्हेहिं चएसु तो णु पवज्जं । वीवाहेसु य अम्हे, जेणं पुण्णा रई होइ ॥ २१ ॥ तत्तो तहत्ति पडिव-ज्जिऊण स गओ

गुरूण पासम्मि । कहिओ नियपरिणामो, तत्तो गुरुणा इमं भणिओ ॥ २२ ॥ उत्तमकुलुब्भवाणं, विवेयरयणायराण होऊणं ! इह-परलोयविरुद्धं, किं जुत्तं ? एरिसं काउं ॥ २३ ॥ अविय-दीहरसीलं परिवा-लिऊण विसएसु वच्छ ! मा रमसु । को गोपयम्मि बुड्डइ ?, जलहिं तरिऊण बाहाहिं ॥ २४ ॥ " वरि विसु भुत्तु म विसयसुहु, एक्कसि विसिण मरंति नर ! । विसयामिसमोहिया, बहुसो नरइ पडंति ॥ २५ ॥ " तो खुड्डगेण भणियं, एवं एयं न एत्थ संदेहो । भयवं ! किंतु न तरिमो, पवज्जं संपयं काउं ॥ २६ ॥ यतः-अक्खित्तं मे चित्तं, ताहिं उत्तट्ठहरिणनयणाहिं+ । इय वोत्तुं मोत्तूणं, लिंगं गुरुपाय-मूलम्मि ॥ २७ ॥ नीहरिओ वसहीओ, पत्तो गेहं नडस्स ताओ वि । दोन्नि वि परिणीयाओ, पिउणा एवं च भणियाओ ॥ २८ ॥ धम्माणुरत्तचित्तो, उत्तमपगई य एस सप्पुरिसो । ता तह सुइभूयाहिं, अप्पमत्ताहिं च निच्चंपि ॥ २९ ॥ उवयरियव्वो जह नो, वेरग्गं तुम्ह गच्छइ कहिंचि । इय भणियाओ ताओ, तं आराहिंति तहचेव ॥ ३० ॥ [युग्मम्] एवं वच्चइ कालो, विसयसुहं तस्स अणुहवंतस्स । अह अन्नया कयाई, निम्महिलं नाडयं रन्नो ॥ ३१ ॥ दिवसे दंसेयव्वं, तओ गया राउलं नडा सव्वे । आसाढभूइपमुहा, तत्तो य इमम्मि पत्थावे ॥ ३२ ॥ पइरिक्कं नाऊणं, आसाढभूइनडस्स भज्जाओ । निब्भरमयपाणेणं, पणट्ठचेयन्नभावाओ ॥ ३३ ॥ विगलियनियंसणाओ, वमियमयगंधगरहणिज्जाओ । गंधायड्ढिय×भिणिहणि-भिणितमच्छियदुपेच्छाओ ॥ ३४ ॥ चिट्ठंति जाव ता झत्ति, राइणो दूइकज्जवक्खेवे । नाडयऽवसराभावे, समागया नियय-ठाणेसु ॥ ३५ ॥ सव्वे वि नडा तत्तो, आसाढभूई वि वासभवणम्मि । निययम्मि संपविट्ठो, तत्तो ताओ पलोएत्ता ॥ ३६ ॥

+ उत्रस्तहरिणनयनाभिः । × " °भिणिभिणिभिणित° " प. °भिणिभिणित° ह. ।

द्वितीयो-
त्पादना
दोषेषु
मायापिण्डे
आषाढ-
भूत्युदा-
हरणम् ।

अच्चंतकुच्छियाओ, विरत्तचित्तो विचिंतिउं लग्गो । अव्वो !! मे मूढत्तं, अव्वो !! दुव्विलसियं मज्झ ॥ ३७ ॥ जं एयाणं कज्जे, असुईभूयाण कुगइहेऊणं । तारिसयं सुइभूयं, निव्वाणसुहाण जणगं च ॥३८॥ चत्तं चरित्तरयणं, सुयधम्मो नासिओ अमयभूओ । मुक्को गुरुकुलवासो, आवासो सयलसोक्खाणं ॥३९॥ मग्गा जिणाणमाणा, वंतसरिच्छा निसेविया विसया । जाओ भट्ठपइन्नो, धिद्धी !! मणुयत्तणं मज्झ ॥ ४० ॥ अविय-वेदुज्ज[वैडूर्य]वज्जपउरे, पत्ते रयणायरे जहा घेत्तुं । काय[काच]मणी नो जुत्ता, अइतुच्छा पंडियजणस्स ॥ ४१ ॥ सग्गापवग्गसुहसंग-साहगे नरभवे तहा लद्धे । कामसुहं नो जुत्तं, असुंदरं सेवि[उं]यं (?) दूरं ॥ ४२ ॥ ता रोगसोगजरमरण-नासणं चरणधम्ममणवज्जं । संपइ अकालहीणं, करेमि इय चिंतिउं झत्ति ॥ ४३ ॥ तत्तो वासगिहाओ, निग्गच्छंतो नडेण सो दिट्ठो । नाओ य इंगिएहिं, जहा विरत्तो इमो नूणं ॥ ४४ ॥ गंतूण य तेण तहिं, बाढं अंबाडिऊण धूयाओ । भणियाओ हा !! पावा !, किं ? एयं विलसियं तुम्ह ॥ ४५ ॥ पिच्छह गच्छइ एसो, विरत्तचित्तो महा-नीही जइ ता । सकह आणेऊं जे×, आणह +नो ताव मग्गेह ॥४६॥ आजीवणं तओ ता, ससंभमाओ गहाय नेवत्थं । पाएसु तस्स लग्गा, एवं वुत्तुं पवत्ताओ ॥ ४७ ॥ सामिय ! अम्हऽवराहं, एगं खमिऊण एहि गेहम्मि । अणुरत्ता भत्ताओ, अम्हे मा उज्झऽणाहाओ ॥ ४८ ॥ तेणुत्तं मा किंचिवि, जंपह तुब्भं विरत्तचित्तोऽहं । जइ एवं ता दाउं, पजीवणं वच्च ता बेंति ॥ ४९ ॥ पडिवज्जिऊण *एयं, तओ नियत्तेण सत्तरत्तेणं । निम्मवियं भरहेसर-चक्केसरचरियसंबद्धं ॥५०॥ नामेण रट्ठवालं, सव्वालंकारसारसोहिल्लं । दिव्वं नाडयमेगं, तत्तो य नडेहिं सव्वेहिं ॥ ५१ ॥ विन्नत्तो सीहरहो, जह देव ! असाढभूइणाऽपुव्वं ।

× पादपूरणार्थमव्ययम् । + "नो वा पमग्गेह" प. ह. क । * "एवं" प. ह. क ।

रइयं नाडयरयणं, तं पुण दढसत्तपुरिसाणं ॥ ५२ ॥ आभरण§भूसियाणं, पत्ताण सएहि पंचहि समग्गं। नच्चेयव्वं तत्तो, ताणि पसाई करेहि त्ति ॥ ५३ ॥ दिन्नाणि तओ रन्ना, नरिंदपुत्ताण पंच वि सयाणि। नट्टविहीकुसलाइं, सव्वाणि कयाणि तेणावि ॥ ५४ ॥ तत्तो नरिंदपुरओ, परिकलिओ तेहिं पंचहिं सएहिं। लग्गो नच्चेउं जे, आसाढभूई नडो बाढं ॥ ५५ ॥ छखंडभरहविजओ, इक्खागकुलनहंगण–विमलमियंकेण भरहराएण। अमरवइविलसिएणं, सट्ठीए वाससहस्सेहिं ॥ ५६ ॥ जह बारस वारिसिओ, कओ जहा कओ जह य नव महानिहिणो। चोद्दस वररयणाणि य, जेण विहाणेण लद्धाणि ॥ ५७ ॥ एवं नच्चंतेणं, तह राया तोसिओ सपरिवारो। ※महारज्जरायअहिसेओ। जह पंचविहा भोगा, भुत्ता दिवा अणुव्विग्गा ॥ ५८ ॥ जह सव्वमलंकारं, दाउं तह साहुकारं च ॥ ५९ ॥ एगवसणं वसाणो×, आढत्तो पिच्छिउं दढक्खित्तो। तत्तो भरहोव्व इमो, पत्तो आयंसगेहम्मि ॥ ६० ॥ तत्थ य सरीरसोहं, पलोयमाणस्स निवडियं कहवि। एगंगुलीयरयणं, असिरीयं अंगुलिं तत्तो ॥ ६१ ॥ दट्ठूण कयवियक्को, सेसाभरणंपि मेल्लइ कमेणं। तत्तो य नियसरीरं, +उवियकमलं व कमलसरं ॥ ६२ ॥ अइविच्छायं पेच्छिय, परमं संवेगमागओ ताहे। जायं केवलनाणं, पणमुट्ठीओ कओ लोओ ॥ ६३ ॥ गहियं च दव्वलिंगं, रन्नो दाऊण धम्मलाभं च। आढत्तो निग्गंतुं, नडभरहो रंगमज्झाओ ॥ ६४ ॥ तत्तो सीहरहेणं, हा !! किं ? एयं ति जंपमाणेणं। अचंतविम्हियाहिं, देवीहि य धरिउमाढत्तो ॥ ६५ ॥ नरनाह ! किं नियत्तो ?, भरहनरिंदो नियत्तिमो जेणं। अम्हे वि त्ति

§ "॰णविभूसि॰" प.। ※ "महारायरज्जअ॰" इति भवितुमुचितमाभात्यस्माकम्। × एकं 'वसनं' वस्त्रं परिदधानः।
+ "उविय" प. ह। "उज्झिय" क। उज्झितकमलसरोवरवत्।

भणंतो, परिकलिओ निवइपुत्तेहिं ॥ ६६ ॥ पंचसयग्गमिएहिं, सव्वेहि वि गहियसाहुलिंगेहिं । सो निग्गओ महप्पा, गओ य गुरुपायमूलम्मि ॥६७॥ कुसुमपुरम्मि वि नयरे, नच्चिज्जंतं पुणो वि तं लोगो । दट्ठूणं पव्वइओ, तं दट्ठुं नागरेहिं तओ ॥ ६८ ॥ एसो मायापिंडो, गिलाण-पाहुणग-वुड्ढमाईणं । कारणजायं मोत्तुं, न हु घेत्तव्वो सया कालं ॥ ६९ ॥ ति ।

अथ लोभपिण्डं गाथापश्चार्द्धेनाह—

गिण्हिस्सामिमं निद्धाइ, तो बहुं अडइ लोभेणं ॥ ६९ ॥

व्याख्या—'गिण्हिस्सं'ति 'ग्रहीष्ये' स्वीकरिष्यामि 'इमं' ति इदं हृदयकल्पनाप्रत्यक्षं 'स्निग्धादि' स्नेहवन्मोदकप्रभृति, तत स्तेन कारणेन 'बहु' प्रभूतं 'अटति' भिक्षाकुलेषु भ्रमति । केन ? इत्याह—'लोभेन' लम्पटतया यः साधुस्तस्य लोभपिण्डो भवति । सिंहकेसरकयतेरिव, "लोभे केसरयसाहु"त्ति । तदुदाहरणमपि स्वस्थानत्वादत्रैव ब्रूमो, यथा—

चंपाए नयरीए, ऊसवदिवसम्मि खवगपारणगे । एगो खवगो गिण्हइ, अभिग्गहं जह मए अज्ज ॥ १ ॥ घेत्तव्वा सुसुयंधा, केसरगा मोयग त्ति तो भिक्खं । हिंडंतो नयरीए, नेच्छइ सेसं तु दिज्जंतं ॥ २ ॥ अलभंतस्स य तत्तो, संजाओ संकिलिट्ठपरिणामो । तग्गयचित्तत्तणओ, पणट्ठचित्तस्स अह तस्स ॥ ३ ॥ किर धम्मलाभभणणे, विभासओ केसर त्ति पुणरुत्तं । पत्ताए रयणीए, जामदुगे केसर त्ति पयं ॥ ४ ॥ भणमाणो संपत्तो, सावयगेहम्मि सावएणावि । अवगयतब्भावेणं, भरिऊणं भायणं झत्ति ॥ ५ ॥ केसरयमोयगाणं, भणियमुवाएण बोहणनिमित्तं । भयवं ! मे पुरिमड्ढो, पच्चक्खाओ तओ कहसु ॥६॥ पुण्णो न व त्ति मुणिणा, कओवओगेण जोइयं गयणं । तारागणपरियरिओ, दिट्ठो तो गयणमज्झम्मि ॥ ७ ॥ मयलंछणो

समग्गो, पच्चागयमाणसो तओ सम्मं । पडिचोइओ भणित्ता, विणिग्गओ नयरिमज्झाओ ॥ ८ ॥ सुत्तभणिएण विहिणा, परिट्ठवंतस्स+ सुद्धज्झाणस्स । तत्तो केवलनाणं, उप्पन्नं तस्स खवगस्स ॥ ९ ॥ इत्ययं लोभपिण्ड इति गाथार्थः ॥ ६९ ॥

अथ पूर्वोक्तस्वरूपान् क्रोधादिपिण्डचतुष्कदृष्टान्तानाह—

दी०—'मायया' वञ्चनेन 'विविधरूपं' नानाप्रकारं 'रूपं' अङ्गादिसंस्थानं 'आहारकारणे' भक्तादिलाभाय करोतीति मायापिण्डः। अथ गृहीष्येऽहमिदं स्निग्धादि उत्कृष्टं सिंहकेसरप्रभृति, ततः कारणाद्बहु-प्रचुरं 'अटति' तल्लाभाय भ्रमति 'लोभेन' रसगृद्ध्येति लोभपिण्ड इति गाथार्थः ॥ ६९ ॥ अथ क्रोधादिचतुष्टये दृष्टान्तानाह—

कोहे घेवरखवगो, माणे सेवईयखुड्डगो नायं । मायाएऽसाढभूई, लोभे केसरयसाहु त्ति ॥ ७० ॥

व्याख्या—'क्रोधे' क्रोधविषयपिण्डे 'घृतपूरक्षपको' घृतपूरसंविधानोपलक्षितः श्रमणविशेषः, ज्ञातमिति सर्वत्र योगः । तथा 'माने' मानपिण्डे 'सेवतिकाक्षुल्लकः' सेवतिकालाभसंविधानकवान् चेल्लकः । किं ? इत्याह—'ज्ञातं' दृष्टान्तो, ज्ञेयमिति सर्वत्र शेषः । तथा 'मायायां' मायापिण्डे 'आषाढभूतिः' आषाढभूत्यभिधानो मुनिः । तथा 'लोभे' लोभपिण्डे 'केसरकसाधुः'× सिंहकेसरकाभिधानमोदकव्यतिकरवान् श्रमणः । इति शब्दः प्रस्तुतज्ञातसमाप्तिं द्योतयति, ज्ञातानि तु पूर्वं स्वस्थान एव कथितानीति न पुनः कथ्यन्त इति गाथार्थः ॥ ७० ॥ अथ संस्तवकरणदोषमाह—

+"०ट्ठवितस्स" य० क० इ०, "०ट्ठवेंतस्स" अ० । × °धु' सिंहकेसरकसाधुः सिंहकेसरका° भ० य० अ० ।

द्वितीयोत्पादनादोषेषु क्रोधादिचतुष्कदृष्टान्ताभिधानानि।

दी०—अत्र ज्ञातमिति प्रत्येकं योज्यं, तत्र क्रोधे घृतपूरोपलक्षितः 'क्षपकः' तपस्वी 'ज्ञातं' दृष्टान्तः, स चायं-हस्तिकल्पे नगरे साधुरेको मासक्षपणान्ते मृतकभक्तोत्सवे धिग्जातीयगृहं गतो विप्रेभ्यो दीयमानेषु घृतपूरेषु चिरेणाप्यलब्धभिक्षः कोपादन्यस्मिन् दास्यन्तीत्युक्त्वा निर्गतः, दैववशात्तत्र द्वितीयो मानुषो मृतः, साधुरपि तथैव तन्मासिके गतः, तथैव दृष्ट्वा तदेवोक्त्वा वलितो यावत्तृतीयो मृतः, साधुरपि तथैवान्यस्मिन् दास्यन्तीति जल्पँस्तृतीयवारं द्वारपालेन दृष्टः, तेन च गृहाधिपस्यावेदितं, सोऽपि मरणभयात्साधुं क्षमयित्वा यथेच्छं घृतपूरैः प्रतिलाभितवानित्येवं क्रोधपिण्डः १ ।

माने सेवतिकाभिरुपलक्षितः क्षुल्लको दृष्टान्तो यथा-कोशलादेशे गिरिपुष्पिते नगरे सेवतिकोत्सवे तरुणश्रमणानां संलापे एकेनोक्तं-अद्य बह्व्योऽपि सेवतिका लभ्यन्ते, परं यः कल्येऽप्यानयति स लब्धिमान्, अन्येनोक्तं-किं घृतगुडरहिताभिस्ताभिः स्तोकाभिश्च ?। तत एकः क्षुल्लकोऽहमीदृशाः श्व आनेष्यामीति कृतप्रतिज्ञो द्वितीयदिने तदर्थं इभ्यगृहे तादृशास्ताः निरीक्ष्य तद्गृहिणीं विविधोक्तिप्रार्थितामप्यददतीं साहङ्कारमाह—यथातथाप्यहमिमां गृहीष्ये । तयोक्तं-यद्येवं भवति तदा मम नासा घर्षणीया । क्षुल्लकोऽपि तस्याः पतिं पर्षदासीनं कुतोऽपि ज्ञात्वा 'को भवतां मध्ये देवदत्ताख्य ?' इति पृच्छँस्तैरुक्तः—किं तेन ?, स आह—किञ्चित्तं याचिष्ये, तेऽप्यूचुः—अहो !! शून्यगृहेषु सुकुमारिका विलोकयसि, तदुपहासामर्षाद्देवदत्तः स्वयमाह—वद सोऽहमस्मि । क्षुल्लकेनोक्तं—यदि तेषां षण्णां न सप्तमस्तदा वच्मि । ते सर्वेऽपि सविस्मयमूचुः—के ते षट् ?, स आह—

"श्वेताङ्गुलिर्बकोड्डायी, तीर्थस्नातश्च किङ्करः । हदनो गृध्ररिङ्खी च, षडेते गृहिणीवशाः ॥ १ ॥"

तत्राद्यः—एकः कुलपुत्रकः प्रियानिर्देशकारी प्रगेऽपि क्षुधालुर्याचितभोजनः शयनस्थया पत्न्या भणितो—यदि मोक्ष्यसि

तदा चुल्लीभस्मापनीय ज्वलनेन्धनाद्यानय, येन शीघ्रं भोजयामीति, नित्यं तथा कुर्वंश्चुल्लीभस्मापनयाज्ञातश्वेताङ्गुलिर्लोकेन सेडा(श्वेता)ङ्गुलिरित्युच्यते १ । बकोड्डायी यथा—कश्चित्प्रियाभक्तः पत्न्या भणितस्तडागात्प्रत्यहं त्वयैव जलमानेतव्यं । ततः स तत्कुर्वाणो दिने लज्जमानः सान्धकारे तडागं याति, बकाश्चोड्डीयन्त इति लोकेन बकोड्डायीत्युच्यते २ । अथ तीर्थस्नातो यथा—कश्चित्कान्तायत्तदेहो याचितस्नानः पत्न्योचे—गच्छ स्नानसामग्रीं गृहीत्वा तत्रैव सरस्तीरे स्नात्वा शीघ्रमागच्छेरिति । स तत्र स्नानकरणाल्लोकेन तीर्थस्नात इत्युच्यते ३ । अथ किङ्करो यथा—एकः प्रियानुरागी प्रातरुत्थाय प्रिये ! किं करोमीत्याह, तया च खण्डन-पेषण-जलानयनादिदत्तादेशानां करणान्तेषु किं करोमीति भणाल्लोकेन किङ्कर इत्युच्यते ४ । हदनो यथा—एकः कुलपुत्रको भार्यादेशादपत्यानां क्रीडापन-मूत्रोत्सर्गादिविधापन-तत्पोतकक्षालनादिकमकरणेन दुर्गन्धवस्त्रादिर्लोकेन हदन इत्युच्यते ५ । गृध्रावरिंखी यथा—कश्चिद्भोजनोपविष्टो व्यञ्जनतक्रादि याचते, निजमहिलया गृहकर्मव्यापृतया साधिक्षेपं गृहाणेत्युक्ते दूराद् गृध्र इव रिङ्खन् २ तदासन्नं यातीति लोके गृध्रावरिङ्खीत्युच्यते ६ । तद्हो !! एते षड् गृहिणीवशा इति क्षुल्लकवचनान्ते परिषत्पुरुषैरुक्तं—तैः षड्भिरप्येक एवासौ । देवदत्तोऽप्याह—किममीषां वचनैर्याचय मनोऽभीष्टं । क्षुल्लक ऊचे—यद्येवं तर्हि घृतगुडान्विताः प्रभूताः सेवतिका देहि मे निजाद् गृहात् । अथोत्थाय स कथितपत्नीवृत्तान्तं क्षुल्लकं द्वारेऽवस्थाप्य गृहिणीं चाकार्य व्यपदेशेन मालमारोप्य उत्सारितनिःश्रेणिकः क्षुल्लकं स्वनासाङ्गुलिघर्षदर्शनेन तस्या ज्ञापितनासाघर्षमाकार्य सेवतिका ददावित्येवं मानपिण्डः २ ।

अथ मायायामाषाढभूतिर्यथा—राजगृहे सिंहरथो राजा, अन्यदा तत्रागतधर्मरुच्याचार्यशिष्यो विविधविज्ञानी

आपाढभूतिर्विहरन्नटगृहं गतः । तत्रैकमोदकलाभादेष सूरीणामिति विचिन्त्य पुनः काणीभूय द्वितीयं जग्राह, असावुपाध्याय-स्येति कुब्जरूपेण तृतीयमादाय सङ्घाटिकसाधोरसाविति कुष्ठिकरूपेण चतुर्थमग्रहीत् । तच्च गवाक्षस्थेन नटेन दृष्ट्वा चिन्तितं—अहो !! भव्योऽसौ नटो भवतीति सङ्ग्रहार्थं तमाकार्य यथेष्टं मोदकाँश्च दत्वा नित्यमत्रागन्तव्यमिति भणितवान् । अथ रूप-परावर्त्तादिलब्धिवानसौ तथोपचरणीयो यथा त्वत्पुत्रीरक्तोऽस्मद्गृहमायातीति नटेन शिक्षितया पत्न्या स नित्यं गृह-मागच्छन् तथा स्वपुत्रीभिर्लोभितो यथा आमघट इवाम्भोभिर्भिन्नो गुरूनवगणय्य मुक्तव्रतस्ताः परिणीतवान् । तथाऽस्य पश्यतो मद्यादिकं ता नासेविषु । अन्यदा विविधनटावृतो नृपगृहं गत्वा तत्र द्यूतव्याक्षेपाद्वलितो निर्व्यञ्जनत्वात्पीतमद्यवि-संस्थुलाः स्वपत्नीर्विलोक्य विषयविरक्तो निर्गच्छन्नसौ नटीभिस्ताभिर्याचिताजीवनोपायः सप्ताहेन श्रीभरतचक्रिनाटकं नव्य-मकरोत् । (+ततश्च राज्ञे निवेद्य लब्धाभरणपात्रादिसमुदायः स्वयं श्रीभरतीभूय चक्रोत्पत्ति-दिग्विजय-राज्याभिषेकादिचरितं नाटितवान्) यावदादर्शगृहं गतस्तत्र चाङ्गुलीयकरत्नपातात्तथैव भरतभावनया लब्धकेवलालोको गृहीतद्रव्यलिङ्गो राजादीन् सम्बोध्य पात्रीकृतराजसुतपञ्चशत्याः प्रदत्तव्रतो भव्यलोकमबोधयत् । एवं मोदकादिग्रहणान्मायापिण्डः ३ ।

अथ लोभे केसरकसाधुर्यथा—चम्पायां साधुरेको मासक्षपणपारणे उत्सवदिने सिंहकेसरमोदकाभिग्रही विहरंस्तद-लाभात्सञ्जातक्लिष्टाध्यवसायः केसरानेव ध्यायन् रजनीयामद्वयं बभ्राम । यावदेकेन श्राद्धेन विज्ञाततद्भावेन प्रदत्तमोदक-पूर्णस्थालेन भगवन् ! पुरिमार्द्धो ममास्तीति पूर्णो न वेति पृष्टः । स च दत्तोपयोगो यावदूर्द्ध्वमीक्षते तावच्चन्द्रदर्शनादर्द्धरात्रं

+ अयमर्द्धचन्द्राकार चिह्नान्तर्गतः पाठः केवलं अ. पुस्तक एवावलोक्यते ।

विज्ञाय लज्जितः सम्यक् प्रतिबोधितोऽस्मीति श्रावकं जल्पन्नगरान्निष्क्रम्य मोदकान् विधिना परिष्ठापयन् शुद्धाध्यवसाय-वशात्केवलालोकमापेति गाथार्थः ॥ ७० ॥ अथ संस्तवदोषमाह—

थुणणे संबंधे सं-थवो दुहा सो य पुव्व पच्छा वा । दायारं दाणाओ, पुव्वं पच्छा व जं थुणई ॥७१॥

व्याख्या—'स्तवने' गुणस्तुतिरूपे 'सम्बन्धे' स्वाजन्यलक्षणे संस्तवनं 'द्विधा' द्विभेदः, स्यादिति शेषः—गुणसंस्तवः सम्बन्धिसंस्तवश्चेत्यर्थः । 'स च' स पुनरेकैकस्संस्तवो द्विधा स्यात् । कथं ? इत्याह—"पुव्व पच्छा व'त्ति विभक्तिलोपात् 'पूर्वं' पूर्वकाले संस्तव इत्यर्थः, तथा पश्चात्संस्तव इत्यर्थः । वा शब्दो विकल्पार्थः । तत्राद्यभेदद्वयं व्याचिख्यासुराह—'दायार'मित्यादि 'दातारं' दायकं 'दानाद्' वितरणात् 'पूर्वं' पूर्वकाले तथा पश्चा-दुत्तरकाले, वा विकल्पार्थो, यत् 'स्तौति' श्लाघते स पूर्वसंस्तवः पश्चात्संस्तवश्च । तत्राऽदत्ते दाने दातारं यत्संस्तौति साधुर्यथा—"**सो एसो जस्स गुणा, वियरंति अवारिया दसदिसासु । पुव्वं कहासु सुणिमो, पच्चक्खं अज्ज दिट्ठोऽसि ॥ १ ॥**" इत्यादि, स पूर्वगुणसंस्तवः । दत्ते पुनर्दाने यत्संस्तौति, यथा—"**विमलीकयऽम्ह चक्खू, जहट्ठिया वियरिया गुणा तुज्झ । आसि पुरा मे संका, संपइ निस्संकियं जायं ॥ १ ॥**" इत्यादि, स पश्चाद्गुणसंस्तवः । अनयोश्च दोषाः—मायामृषावादासंयतानुमोद-नादयो द्रष्टव्या इति गाथार्थः ॥ ७१ ॥ अथ सम्बधिसंस्तवभेदौ व्याचिख्यासुराह—

टी०—'संस्तवे' गुणस्तुतिरूपे 'सम्बन्धे' स्वाजन्यादौ संस्तवो द्विधा, स च पुनरेकैकः पूर्वं पश्चाद्वेति द्विधा स्यात् । तत्राद्यद्वयमाह—'दातारं' दायकं दानात्पूर्वं-प्रथमं तथा 'पश्चाद्वा' दानानन्तरं यत्स्तौति, तौ यथाक्रमं पूर्व-पश्चात्संस्तवाविति

द्वितीयो-त्पादना-दोषेषु संस्तवदोष-निरूपणं सोदा-हरणम् ।

संस्तवनं संस्तव इति गाथार्थः ॥ ७१ ॥ सम्बन्धसंस्तवभेदावाह—

जणणिजणगाइ पुव्वं, पच्छा सासुससुराइ जं च जई । आयपरवयं नाउं, संबंधं कुणइ तदणुगुणं ॥७२॥

व्याख्या—'जननीजनकौ' मातापितरौ 'आदी' प्रथमौ यस्य भ्रातृभगिन्यादिसम्बन्धस्य स सम्बन्धसम्बन्धिनोऽभेदोपचाराज्जननीजनकादिः । किमित्याह—'पूर्वं' पूर्वसंस्तवो, जनन्यादीनां पूर्वकालभावित्वात्, स्यादित्यत्रोत्तरत्र च शेषः । तथा 'पश्चात्' पश्चात्संस्तवः, क ? इत्याह—'श्वश्रूश्वशुरौ' दम्पत्योः पितरौ 'आदी' प्रथमौ यस्य कलत्रपुत्रादिसम्बन्धस्य स सम्बन्धतद्वतोरभेदाध्यवसायाच्छ्वश्रूश्वशुरादिः । एवं सम्बन्धिसंस्तवं सामान्येन भेदतोऽभिधाय प्रकृतोपयोगमाह—'जं चे'त्यादि यं कञ्चन सम्बन्धं करोतीति योगः । च शब्दो भिन्नवाक्यताप्रतिपादनार्थः । क ? इत्याह—'यतिः' साधुः । किं कृत्वा ? इत्याह—'आयपरवयं नाउं'ति आत्मपरौ प्रतीतौ, तयोर्वय—स्तारुण्यवृद्धत्वादिलक्षणा देहावस्था, तं 'ज्ञात्वा' अवगम्य । किं ? इत्याह—'संम्बन्धं' परिचयं-स्वाजन्यमिति यावत् 'करोति' भोजनलिप्सया विधत्ते । किंविशिष्टमित्याह—'तदनुगुणं' तयोरात्मपरवयसोरनुगुणं—अनुरूपं, स पूर्वसम्बन्धिसंस्तवः पश्चात्सम्बन्धिसंस्तवश्च, विज्ञेय इति स्वयमायोज्यं । तथाहि—यदि साधुः स्वयं तरुणो दात्री तु वृद्धा, तदा सम्बन्धविधानार्थं वक्ति—मम माता श्वश्रूर्वा तव सदृशी आसीत्, अथ साऽपि तरुणी, तदा वक्ति—मम भगिनी भार्या वा त्वत्तुल्या बभूव, अथात्मना वृद्धः सा तु तरुणी बाला वा ततो वक्ति—मम सुता त्वत्समाना विद्यते स्मेत्यादिगमेन च भावनीयं । अत्र दृष्टान्तो यथा—

कश्चिद्भिक्षागतः साधुः काञ्चिन्निजमातृसमानां गृहस्थामवलोक्याहारादिलम्पटतया मातृस्थानतोऽधृतिपूर्वकमिव साश्रूणी

द्वितीयोत्पादना-
दोषेषु
विद्यादि-
दोष-
चतुष्क-
स्वरूपम् ।

लोचने चकार । पृष्टश्च तया साधुर्यथा—किमेवं भगवानधृतिमानवलोक्यते ?, तेनाप्युक्तं, यथा—भवत्या सदृशी मे माता अभवदतस्तस्याः सरामीदानीं, ततस्तया मातृत्वप्रकटनार्थं तन्मुखे स्वकीयस्तनमुखप्रवेशो विहितः । ततस्तयोः स्नेहवृद्धिः समजनि । तदनन्तरं चायं मे मृतपुत्रस्थाने भविष्यतीति विचिन्त्य विधववधूर्दासीव+ दारतया तथा तस्मै प्रदत्तेति । एवं शेषसंस्तवेष्वपि दोषभावना कर्त्तव्या, इति गाथार्थः ॥ ७२ ॥

अथ विद्यादिदोषचतुष्टयं व्याचिख्यासुराह—

दी०—जननीजनकभ्रातृभगिन्यादिपूर्वसम्बन्धात्पूर्वसंस्तवः, तथा पश्चात्संस्तवः श्वश्रूश्वशुरकलत्रपुत्रादि, एवं यतिर्यं कश्चन आत्मपरयोर्वय-स्तारुण्याद्यवस्थां ज्ञात्वा 'सम्बन्धः' स्वाजन्यं परिचयं भक्ताद्यर्थं करोति, कथम्भूतं ? तयोरात्मपर-वयसोरनुगुणं—अनुरूपमिति गाथार्थः ॥ ७२ ॥ अथ विद्यादिदोषचतुष्टयं गाथाद्वयेनाह—

साहणजुत्ता थीदे-वया व विज्जा[1] विवज्जए मंतो[2] । अंतद्धाणाइफला, चुन्नो[3] नयणंजणाईया ॥ ७३ ॥

सोहगदोहग्गकरा, पायपलेवाइणो व इह जोगा[4] । पिंडट्ठमिमे दुट्ठा, जईण सुयवासियमईणं ॥७४॥

व्याख्या—'साधनेन' जपहोमाद्युपचारेण 'युक्ता' समन्विता अक्षरपद्धतिः साधनयुक्ता विद्या, स्यादिति योगः । लक्षणान्तरमाह—'थीदेवया व'त्ति स्त्री प्रज्ञप्त्यादिका 'देवता'अधिष्ठात्री यस्या अक्षरपङ्क्तेः सा स्त्रीदेवता, वा विकल्पार्थः ।

+ ०र्दासीत्वदार०" अ० । "०र्दाराऽऽसीत्तत्तया तस्मै" प० ह० क० ।

किमित्याह–'विद्या' विद्येति पदव्यपदेश्या, स्यादिति शेषः। तत्प्रयोगश्च दोषः, यद्वक्ष्यति–" पिंडट्ठमिमे दुट्ठ "त्ति।

अत्र च दृष्टान्तः—गंधसमिद्धे नयरे, विहरंता केइ आगया सूरी। बहुजइजणपरियरिया, अहऽन्नया तेसि साहूणं ॥ १ ॥ एगत्थ पिंडियाणं, परोप्परं एरिसो समुल्लावो। संजाओ जइ इहइं, ×अइपंतो इड्ढिमंतो य ॥ २ ॥ तच्चन्नियाण+ सड्ढो, समत्थि न य सो कयावि समणाणं। किंचि पयच्छइ ता अत्थि ?, कोइ जो तं दवाविज्जा ॥ ३ ॥ तत्थेगेणं जइणा, भणियं जइ मे पयच्छह अणुन्नं। जेणाहं घयगुलवत्थ-माइयं तं दवावेमि ॥ ४ ॥ अणुनाओ तेहिँ गओ, भिक्खूवासयगिहम्मि विज्जाए। तं अहिमंतइ तो सो, अहिट्ठिओ तीए विज्जाए ॥ ५ ॥ घयगुलवत्थाईयं, पउरं साहूण देइ साहू वि। विज्जं संह-रिऊणं, सट्ठाणं आगओ पच्छा ॥ ६ ॥ पच्चागयचेयन्नो, आरद्धो विलविउं जहा मज्झ। केण हियं ? घयमाई, मुसिओऽहं ? केण पावेणं ति ॥ ७ ॥

तथा 'विवज्जए मंतो'त्ति 'विपर्यये' विद्यालक्षणवैपरीत्ये, किमित्याह–'मन्त्रो' मन्त्राढ्यः स्यात्, यदाह–"इत्थी विज्जाऽभिहिया, पुरिसो मंतोत्ति तव्विसेसोऽयं। विज्जा ससाहणा वा, साहणरहिओ य मंतो त्ति ॥ १ ॥" एतद्व्यापारणं च दोषः, अत्राप्युदाहरणं—

नयरम्मि पइट्ठाणे, मुरंडरायस्स एगया जाया। तिव्वा सिरम्मि वियणा, सा विज्जामंतमाईहिं ॥ १ ॥ बहुएहि वि नोवरया, पालित्तयसूरिणो तओ तत्थ। वाहरिया तेहि लहुं, अणज्जमाणेहिं लोगेणं ॥२॥ मंतं झायंतेहिं, पएसिणी भामिया

× [अतिप्रान्तो-ऽतिकृपण ऋद्धिमांश्च] + बौद्धानां श्राद्धोऽस्ति।

तहा सम्मं । जाणुसिरे जह नट्ठा, सिरवियणा तस्स नरवइणो ॥ ३ ॥ तेणावि तओ सूरी, विउलेणऽसणाइणा पहिट्ठेणं । पडिलाभियत्ति एसो, पिंडो मंतऽज्जिओ नेओ ॥ ४ ॥

तथा 'अन्तर्द्धानादिफला'स्तिरोधानवशीकरणप्रभृतिकार्यसाधका'श्चूर्णा'श्चूर्णनामानः स्युः। किंविधास्ते ? इत्याह–'नयनाञ्जनादयो' लोचनाञ्जन-भालतिलकप्रभृतय, एतत्प्रयोजनं च दोषः। तत्र चोदाहरणं—

पाडलिपुत्ते नयरे, आसि निवो सयललक्खणसमेओ । नामेण चंदगुत्तो, चाणक्को तस्स वरमंती ॥१॥ अह अन्नया कयाई, दुब्भिक्खे तत्थ दारुणे जाए । संभूयविजयगुरुणो, जंघाबलवज्जिया गच्छं ॥ २ ॥ देसंतरं विसज्जिउ–कामा सीसस्स गुरुपयगयस्स । साहिंता एगंते, मंतपए तंतजंते य ॥ ३ ॥ खुड्डगदुगेण निसुया, पच्छन्नट्ठिएण जाणिओ एगो । अंजणचुन्नो एत्तो, चलिओ देसंतरं गच्छो ॥ ४ ॥ गंतूण पंथभागं, विरहुक्कंठं गुरूण तं वलियं । सेसो साहुसमूहो, पत्तो निद्दिट्ठठाणम्मि ॥ ५ ॥ गुरुणा वि हु ते भणिया, दुट्ठु कयं जं समागया तुब्भे । चिट्ठह संपइ एत्थं, संतोसपरायणा नवरं ॥ ६ ॥ सयमेव गुरूहि हिंडइ, भिक्खट्ठा सावगाइगेहेसु । फासुयमहेसणिज्जं, जं भिक्खं परिमियं लहइ ॥ ७ ॥ दाउं पढमं तेसिं, अप्पणा जमवसेसयं तस्स । तं भुंजई भोयणहीण–भावओ वुड्ढभावाओ ॥ ८ ॥ जाओ अइतणुयतणू, तं दट्ठुं खुड्डगा विचिंतंति । न कयं सुंदरमम्हे–हिमागया जमिह अस्स कओ ॥ ९ ॥ +अवराहो बाढ×मओ, अन्नं भोयणपहं गवेसेमो । अंतद्धाणकरं जं, तमंजणं जोइयं तेहिं ॥ १० ॥ गुरुणो अपरिकहित्ता, भोयणसमयम्मि चंदगुत्तस्स । विहियंजणा पविट्ठा, न य दिट्ठा केणइ

+ "अवरोहो" अ. । "उवरोहो" पा. ह. क. । × " °कओ" प. ह. क. ।

जणेण ॥ ११ ॥ लग्गा सहेव भोत्तुं, रन्ना पज्जत्तिमागया जाव। एवं पइदिवसं चिय, तेसुं भुंजंतएसु निवो ॥ १२ ॥ अच्छिन्नच्छुहो तुच्छी-भूओ देहेण पुच्छिओ भणइ। अज्ज! न नज्जइ कज्जं, केणइ निज्जइ ममाहारो ॥ १३ ॥ थेवोच्चिय मे भोगं, समेइ जाया मणम्मि वीमंसा। चाणक्कस्स न एसो, अईव जं सुंदरो कालो ॥ १४ ॥ ता कोइ अंतरहिओ, थाले एयस्स भुंजए नूणं। तो इट्टगाण चुन्नो, भोयणसालंगणे खित्तो ॥ १५ ॥ वीयदिवसम्मि तेणं, पविसंताणं निभालिया य पया। दिट्ठा पयपंतीओ, दोन्नि अपुव्वाओ तो झत्ति ॥ १६ ॥ दारनिरोहं काउं, धूमो संमोहकारओ विहिओ। जायाइं अंसुसलिला-उलाइं लोयस्स नयणाइं ॥ १७ ॥ तक्खणमुत्तिऽण्णंजण-जोगा ते दोवि खुड्डगा दिट्ठा। चाणकेण सलज्जो, जाओ वसहीए पेसविया ॥ १८ ॥ अहमेएहिं विट्टा-लिओ त्ति राया दुगंछिउं लग्गो। भणिओऽणेणुब्भडभिउ-डिभीमभालेण सुकयत्थो ॥१९॥ अज्जं चिय तं जाओ, विसुद्धवंसुब्भवो य तुममज्ज!। जं बालकालपालिय-वएहिं एएहिं सह भुत्तं ॥ २० ॥ गंतूणं गुरुपासे, सीसोपालंभमाह चाणक्को। जा ता गुरुणा भणिओ, तइ सासणपालगे संते ॥ २१ ॥ एए छुहाऽपरद्धा, निद्धम्मा होउमेरिसायारा। जं जाया सो सव्वो, तवावराहो न अन्नस्स ॥ २२ ॥ लग्गो पाएसु इमो, खमेह अवराहमेगमेयम्मे। एत्तो पभिई सव्वा, चिंता मे साहुविसयत्ति ॥ २३ ॥

तथा 'सौभाग्यदौर्भाग्यकरा' जनप्रियत्वाप्रियत्वजनकाः श्रीचन्दनधूपप्रभृतयो द्रव्यविशेषा योगाः, स्युरिति योगः। लक्षणान्तरमाह-'पादप्रलेपादय'श्चरणलेपप्रभृतयः, आदिशब्दादन्येऽपि जलस्तम्भ-नभोगमनादिविधायिनो लोकप्रसिद्धा औषधविशेषा द्रष्टव्याः। वा शब्दो विकल्पार्थः। 'योगा' योगसञ्ज्ञाः स्युः, तद्व्यापारणं दोषोऽतस्तत्राप्युदाहरणमुच्यते—

अत्थि आभीरविसए, अयलपुरं नाम पुरवरं रम्मं । तस्स य अदूरभागे, कण्हाबिण्णाऽभिहाणाओ ॥ १ ॥ दोन्नि नईओ तासिं तु, अंतरे बंभनामगो दीवो । तत्थ य पंचसएहिं, तावससीसाण परियरिओ ॥२॥ कुलवइ निवसइ एगो, सो य सया मव्वपव्वदिवसेसु । जोगोवलित्तपाओ, आरूढो पाउयाजुयलं ॥ ३ ॥ उत्तरिऊणं विण्णं, अयलपुरं एइ भोयणनिमित्तं । तो आउट्टो लोगो, सक्कारं कुणइ तस्स बहुं ॥ ४ ॥ वण्णेइ य तस्स गुणे, पच्चक्खो एस एत्थ देवो त्ति । निंदइ सावगलोगं, सो वि तओ वइरसामिस्स ॥ ५ ॥ माउलगअज्जसमियस्स, सूरिणो कहइ सयलवुत्तंतं । तेण वि भणियं थेवं, एयं जं माइठाणेणं ॥ ६ ॥ पायप्पलेवजोगा, नइउत्तरणं ति सावएहिं पि । विन्नायपओगेहिं, निमंतिउं कुलवई नीओ ॥ ७ ॥ नियगेहं भत्तीए, निच्छंतस्सावि सोइया चलणा । धोयाउ पाउयाओ, दिन्नं से भोयणं पच्छा ॥८॥ सयलजणपरिवुडेणं, तेण समं आगया नईतीरे। सव्वेवि सावगा तो, चलिओ सो नीरमज्झम्मि ॥ ९ ॥ लग्गो बुड्डेउं +जे, जाया ओहावणा घणा तस्स । एत्थंतरम्मि सूरी, समागया अज्जसमियत्ति ॥ १० ॥ बहुलोयबोहणत्थं, चप्पुडियँ× दाउँ तेहि तो भणियं । बिण्णे ! परं तु पारं, गंतुं इच्छामि तो झत्ति ॥ ११ ॥ मिलिया दोण्ह*वि कूला, जाओ लोगस्स विम्हओ विउलो । नायरजणपरियरिया, तावसनिलयं गया सूरी ॥ १२ ॥ पारद्धा धम्मकहा, लोगो संबोहिओ बहू तत्थ । पव्वाविया य समगं, पंचसया तावसाणं पि ॥ १३ ॥ एवं पवयणमुब्भा-सिऊण सूरी समागया नयरं । जाया य बंभदीवग-साहा मुणियपत्तसुसणाहत्ति§ ॥ १४ ॥

+ पादपूरणे । × "चप्पुडिउं" अ. ह. क., "चप्पुडिओ" प. । * "दोण्भिवि" अ. । § [ज्ञाततत्त्वा मुनयस्त एव पत्राणि, तैः सुष्ठु सनाथा युक्ता] ।

एते च विद्यामन्त्रादयः किमविशेषेण प्रयुज्यमाना दोषाः स्युरुत विशेषेणेत्याशङ्क्याह–'पिंडट्ठमिमे दुट्ठ'त्ति 'पिण्डार्थं' भक्तादिनिमित्तं, प्रयुज्यमाना अपि इति गम्यते, न पुनः पुष्टालम्बनेऽपि। यदुक्तं कल्पभाष्ये–"एयाणि गारवट्ठा, कुणमाणो आभियोगियं बंधे। बीयं गारवरहिओ, कुव्वं आराहगुच्चं च ॥ १ ॥" अस्या भावार्थः–एतानि कौतुकभूतिकर्म-प्रश्नादीनि 'गौरवार्थं' ऋद्धिरससातगौरवनिमित्तं कुर्वाणश्चारित्र्यपि 'आभियोग्यं' कुदेवत्ववेद्यं-पारवश्यनिमित्तमित्यर्थः, कर्म बध्नाति, उपलक्षणत्वाच्चरणधर्मविराधकश्च भवतीत्येष तावदुत्सर्गः। द्वितीयं पुनरपवादपदमिदं, यदुत–गौरवरहितः कौतुकादीनि कुर्वन्नपि चारित्राराधकः स्यात् 'उच्चं च' उच्चैर्गोत्रं च कर्म निबध्नाति. न पुनर्विराधक आभियोग्यकर्मबन्धकश्च स्यादिति भाव इति। 'इमे'त्ति 'इमे' एते अनन्तरोक्ता विद्यामन्त्रादयः। किमित्याह—'दुष्टा' गर्हिताः, प्रतिविद्यास्तम्भनवधबन्धनादीनां, पापाजीवी-मायावी-कार्मणकारी चायं साधुरित्यादिलोकापवादादीनां, चरणविराधन-कुगतिगमनादीनां च दोषाणां कारणत्वात्। केषामेते दुष्टा ? इत्याह–'यतीनां' साधूनां, किंविशिष्टानां ? इत्याह–'श्रुतवासितमतीनां' सिद्धान्तभावितबुद्धीनां, एतच्च स्वरूपविशेषणं, साधूनां श्रुतवासितमतित्वव्यभिचाराभावादिति गाथार्थः ॥ ७४ ॥

अथ मूलकर्मलक्षणं षोडशं दोषमाह–

दी०–'साधनयुक्ता' जापहोमादिसाध्या 'स्त्रीदेवता च' देव्यधिष्ठिता अक्षरपङ्क्तिर्विद्या, सा पिण्डार्थं दोषाय। तथा 'विपर्यये' विद्यालक्षणवैपरीत्येन मन्त्रोऽसाधनो देवाधिष्ठितश्चेति भावः। तथाऽन्तर्द्धानादिफला-स्तिरोधानवशीकरणादिकार्यसाधकाश्चूर्णा 'नयनाञ्जनादयो' लोचनाञ्जनभालतिलकादयः ॥ ७३ ॥ तथा सौभाग्यदौर्भाग्यकराः श्रीचन्दनधूपादिद्रव्यविशेषा

योगाः स्युः । 'पादप्रलेपादय'श्चरणलेपमुख्या, आदिशब्दादन्येऽपि जलस्तम्भ-नभोगमनादिकरा औषधविशेषा योगा ज्ञेयाः। पिण्डार्थमिमे विद्यादयः प्रयुज्यमाना दुष्टाः, पुष्टालम्बने कदाचित्प्रयुक्ता अपि न दोषायेति भावः, केषां ? यतीनां 'श्रुतवासितमतीनां' सिद्धान्तभावितबुद्धीनामिति गाथाद्वयार्थः ॥ ७४ ॥ अथ मूलकर्माख्यमाह—

मंगलमूलीण्हवणाइ, गब्भवीवाहकरणघायाई । भववणमूलं कम्मं, ति मूलकम्मं महापावं ॥७५॥

व्याख्या—मङ्गलमूलिकाभिर्लोकप्रसिद्धाभिः 'स्नपनादि' सौभाग्यनिमित्तं मज्जनादि, आदिशब्दाद्रक्षाबन्धनधूपनादिपरिग्रहः । तथा गर्भविवाहौ प्रतीतौ, तयोः प्रत्येकं 'करण-घातादि' निर्वर्त्तन-विनाशप्रभृति, आदिशब्दाद्गर्भस्तम्भ-कन्यकाभिन्नत्वाभिन्नत्वदोषकरणादिपरिग्रहः।एतच्च, च शब्दार्थस्य गम्यमानत्वाद्धक्ताद्यर्थं साधुना क्रियमाणं कार्यमाणं, चेति गम्यते, मूलकर्मोच्यत इति योगः। अन्वर्थमाह—'भववणमूलं कम्मंति'त्ति 'भववनस्य' संसारकाननस्य 'मूलं' कारणं 'कर्म' क्रियेति हेतोः, किं ? 'मूलकम्मं'ति मूलकर्मोच्यत इति शेषः । किंविधं तदित्याह—'महापावं'ति महापापहेतुत्वान्महापापं—अत्यन्ताशुभं, अत एव भववनमूलमिदमित्युक्तं । तथाहि—एतेषु मूलकर्मरूपेषु स्नपन-गर्भाधान-विनाश-परिणयन-विधान-विघातादिषु पिण्डनिमित्तं साधुना क्रियमाणेषु कार्यमाणेषु वा षण्णां जीवनिकायानां वधादयो मैथुनप्रवृत्ति-सदाभोगान्तरायादयः प्रद्वेष-प्रवचनोपघातादयश्च दोषाः कृता भवन्ति। तत्र गर्भाधानविनाशावधिकृत्येदमुदाहरणम्—

किल केनचिद्गोचरप्रविष्टेन पिण्डलिप्सुना साधुना दानशीला काचिद्राजभार्या पृष्टा, यथा—भद्रे ! किं त्वमेवमधृतिमती दृश्यसे ? सा चावोचन्मे सपत्नी आपन्नसत्त्वा, तस्याश्च पुत्रः समादिष्टो दैवज्ञेनेति । एतदाकर्ण्य साधुराह—यद्येवं, मा विषादं

कुरु, तथापि गर्भं करिष्यामि। ततो दत्तं तथाविधमौषधं साधुना, आहूतश्च गर्भः। ततः पुनरपि सैवमवादीत्—यद्यपि भगवन्! त्वदीयौषधप्रभावान्मे सुतो भविष्यति, तथापि सपत्नीसुतात्कनिष्ठ एवेति "तद्दीर्घतैव पलाशानां"। ततः साधुना केनाप्युपायेन तत्सपत्न्या गर्भपरिशातनकार्यौषधं प्रदापितं, गलितस्तद्गर्भः, जातश्चेतरस्याः सुतः युवराजश्च संवृत्त इति।

विवाहं त्वङ्गीकृत्यायं दृष्टान्तः—किल कश्चित्साधुर्भिक्षार्थं क्वचित्कुले प्रविष्टः कामपि बृहत्कुमारीं दृष्ट्वा पिण्डलोभेन तज्जननीं प्रत्येवमाह, यथा—इयं तव दुहिता वयःप्राप्ता वर्त्तते, ततो वरायाप्रदीयमाना भवत्कुलं दूषयिष्यति, किञ्च—लौकिका अपि वदन्ति—"तावन्तो नरका घोरा, यावन्तो रुधिरबिन्दवः।" ततः शीघ्रं प्रदीयतामियं वरायेति।

कन्यकाभिन्नत्वदोषापहरणे एष दृष्टान्तः—किलैकः कश्चित्साधुर्भिक्षां परिभ्रमन् प्राप्तो दान[शील]श्राविकासत्कगृहं, दृष्टा च साऽधृतिं कुर्वाणा पृष्टा च किमधृतिं करोषि?, तया चोक्तं—"जो य न दुक्खं पत्तो, जो य न दुक्खस्स निग्गहसमत्थो। जो य न दुहिए दुहिओ, कह तस्स कहिज्जए? दुक्खं॥ १॥" साधुनोक्तं—एवमेतत्, केवलं "अहयं दुक्खं पत्तो, अहयं दुक्खस्स निग्गहसमत्थो। अहयं दुहिए दुहिओ, ता मज्झ कहिज्जए दुक्खं॥ १॥" ततस्तया भणितं—प्रत्यासन्नो मम दुहितुः पाणिग्रहणदिवसः, सा च भिन्नयोनिकेति। ततस्तेनौषधाचमनपानादिप्रदानेनाभिन्नयोनिः सा विहितेत्यलं विस्तरेणेति गाथार्थः॥ ७५॥

अथोक्तदोषनिगमनं उत्तरग्रन्थसम्बन्धं च चिकीर्षुराह—

दी०—मङ्गलमूलिकाभिः प्रतीताभिः 'स्नपनादि' सौभाग्यार्थं मज्जनरक्षाबन्धधूपनादि, तथा गर्भविवाहयोः करणस्तम्भन-

घातनादि च, भवनस्य मूलमिदं कर्म स्यात्, तच्च महापापं, षड्जीववध-मैथुनप्रवृत्त्यन्तरायादिदोषजनकत्वादिति गाथार्थः ॥७५॥

अथोक्तदोषनिगमनमुत्तरग्रन्थसम्बन्धं चाह—

इय वुत्ता सुत्ताउ, बत्तीस गेवसणेसणादोसा। गहणेसणदोसे दस, लेसेण भणामि ते य इमे ॥७६॥

व्याख्या–'इति' एवं-पूर्वोक्तप्रकारेण 'वुत्त'त्ति 'उक्ताः प्रतिपादिता, मयेति गम्यते। कुतः स्थानादुद्धृत्येत्याह–'सूत्रात्' पिण्डैपणाध्ययन-तन्निर्युक्त्यागमाद् 'द्वात्रिंशद्' आधाकर्मादीनां षोडशानां धात्र्यादीनां च षोडशानां दोषाणामेवं मीलनाद्-द्वात्रिंशत्सङ्ख्याः। के? इत्याह–'गवेषणा' ग्रहणनिमित्तं भक्तादेरवलोकना, तत्काले तद्विषया वा 'एषणा' उद्गमादिदोषनिरीक्षणा–विचारणेत्यर्थः, गवेषणैषणा, तदुपयोगिनो 'दोषा' दूषणानि-गवेषणैषणादोषाः। एषणा हि गवेषणा ग्रह-[णैषणा]-ग्रासैषणा भेदात्रिप्रकारा सूत्रेऽभिधीयते, तदियता ग्रन्थेनाद्या प्रतिपादितेति। अथ द्वितीयां प्रतिपादयन्नाह–'ग्रहणं' पिण्डोपादानं, तद्विषया वा 'एषणा' शङ्कितादिदोषनिरीक्षणा, तदुपयोगिनो 'दोषा' दूषणानि–ग्रहणैषणादोषास्तान् 'दशे'ति दशसङ्ख्यान् तत्काले 'लेशेन' सङ्क्षेपेण 'भणामि' वच्मि 'ते च' ते पुनरिमे-एते वक्ष्यमाणा इति गाथार्थः ॥ ७६ ॥

अथ तानेव प्रस्तावितदोषान्नामतः सङ्ख्यातश्च दर्शयन्नाह—

दी०–इत्येवं 'वुत्ता' उक्ताः 'सूत्रात्' पिण्डैपणाध्ययनादेः, कियन्तस्ते?, द्वात्रिंशत्, गवेषणा–भक्तादेर्ग्रहणार्थविलोकना, तत्कालं तद्विषयं वा 'एषणा' उद्गमादिदोषविचारणा, तस्य दोषाः। अत्र गवेषणा-ग्रहण-ग्रासभेदात्रिविधा एषणा, तत्राद्या उक्ता, द्वितीयामाह–ग्रहणं भक्तादेस्तत्काले या एषणा, तद्दोषान् दशसङ्ख्यान् 'लेशेन' सङ्क्षेपेण भणामि, ते च इमे वक्ष्यमाणा

इति गाथार्थः ॥ ७६ ॥ आदौ नामान्याह—

संकियं[१]-मक्खियं[२]-निक्खित्तं[३]-पिहियं[४]-साहरियं[५]-दायगु[६]-म्मीसे[७] ।
अपरिणयं[८]-लित्तं[९]-छड्डियं[१०], एसणदोसा दस हवंति ॥ ७७ ॥

व्याख्या—'शङ्कितं' सम्भाविताधाकर्मादिदोषं भक्तादि, इह च प्रथमैकवचनान्तता सर्वत्र दृश्या, तथा दोषवतो निर्देशेऽपि दोषदोषवतोरभेदाच्छङ्का-शङ्कारूप एषणादोष उक्तोऽवसेयः, तस्यैव विवक्षितत्वात्, एवं सर्वत्र । 'म्रक्षितं' आरूषितं 'निक्षिप्तं' न्यस्तं 'पिहितं' स्थगितं 'संहृतं' अन्यत्र क्षिप्तं 'दायको' दाता 'उन्मिश्रं' मिश्रीकरणं 'अपरिणतं' अप्रासुकादि 'लिप्तं' खरण्टितं 'छर्दितं' परिशाटितं, इत्येवमेते 'एषणादोषाः' पिण्डग्रहणदूषणानि दश 'भवन्ति' स्युरिति गाथासमासार्थः ॥ ७७ ॥

अथाद्यं शङ्किताभिधानदोषं व्याख्यातुमाह—

दी०—इह दोषदोषवतोरभेदादेषणादोषः प्रथमैकवचनान्तो ज्ञेयः । तत्र शङ्कितं—सम्भाविताधाकर्मादिदोषं भक्तादि १, म्रक्षितं सचित्तादिभिः २, निक्षिप्तं तत्र न्यस्तम् ३, पिहितं तैः स्थगितम् ४, संहृतं तस्मादन्यत्र क्षिप्तम् ५, दायका बालादयः ६, उन्मिश्रं सचित्तादियुक्तम् ७, अपरिणतं द्रव्यं भावो वा ८, लिप्तं खरण्टितम् ९, छर्दितं परिशाटनावत् १०, एवं एषणा दोषा दश भवन्तीति गाथार्थः ॥ ७७ ॥ अथाद्यं शङ्कितमाह—

संकियगहणे भोगे, चउभंगो तत्थ दुचरिमा सुद्धा । जं संकइ तं पावइ, दोसं सेसेसु कम्माई ॥ ७८ ॥

ग्रहणैषणा-
यां शङ्कि-
तग्रहणाश-
नयोश्चतु-
र्भङ्गी ।

व्याख्या–'शङ्कितस्य' आधाकर्मादिदोषवत्तया आरेकितस्य भक्तादेर्ग्रहणं-स्वीकारः-शङ्कितग्रहणं, तत्र, तथा 'भोगे' भोजने, शङ्कितस्येत्यत्रापि योज्यते । अत्र पदद्वये 'चउभंगो'त्ति चतूरूपो भङ्गश्चतुर्भङ्गो, जातौ चैकवचनं, चत्वारो भङ्गका भवन्तीत्यर्थः । तद्यथा–शङ्कितग्रहणं शङ्कितभोगः १, शङ्कितग्रहणं निश्शङ्कितभोगः २, निश्शङ्कितग्रहणं शङ्कितभोगः ३, निश्शङ्कितग्रहणं निश्शङ्कितभोगः ४ । तेषां चैवं सम्भवः–किल कापि कुले भिक्षार्थं प्रविष्टः साधुर्गृहिणा प्रचुरभिक्षायां दीयमानायां शङ्कते, यदुत–किमित्ययं भिक्षाचरेभ्यः साधुभ्यो वा प्रचुरभिक्षां प्रयच्छति ?, न च लज्जालुतया प्रष्टुं शक्नोतीत्येवं शङ्कितग्रहणं कृत्वा स्वस्थानमागत्य शङ्कितस्यैव भोगं करोतीति प्रथमः, यदाह–"किं + बहु खद्धा भिक्खा, दिज्जइ ?, न य तरइ पुच्छिउं हिरिमं । इय संकाए घेत्तुं, तं भुंजइ संकिओ चेव ॥ १ ॥" 'खद्ध'त्ति प्रचुरा 'हिरिमं'ति ह्रीमान्-लज्जावानिति १ । तथा भिक्षार्थं गृहे गतस्य कस्यापि साधोः पूर्वोक्तन्यायेन शङ्कितस्य ग्रहणे जाते स्ववसतिमागतस्य विज्ञतदपरसाधुवचनान्निश्शङ्कितभुञ्जानस्य द्वितीयः, यदवाचि–"हियएण संकिएणं, गहिया अन्नेण सोहिया सा य। भिक्षेति प्रक्रमः । पगयं पहेणगं* वा, सोउं निस्संकियं× भुंजे ॥१॥" प्रकृतं–प्रकरणं २ । तथा कश्चित्साधुरीश्वरादिगृहान्निश्शङ्कितः प्रचुरां भिक्षां गृहीत्वा वसतावागतोऽन्यान्साधून् गुरोः पुरतः स्वभिक्षातुल्यां भिक्षामालोचयतः श्रुत्वोपजातसन्देहः शङ्कितं भुङ्क्त इति तृतीयः, †यदाह–"जारिसयचिय लद्धा, खद्धा भिक्खा मए अमुयगेहे ।

+ किं बहु इति वितर्के (प० अ.) "किं णु हुं" प. ह. क. । * प्रहेणकं-भोजनोपायनम् । × "निसंकिओ" क. । † "तदाह" प. ह. क. ।

अन्नेहिं वि तारिसिया, वियडत्त§निसामणे तइओ ॥ १ ॥" त्ति ३ । चतुर्थभङ्गकसम्भवस्त्वतिप्रतीत एवेति ४ । 'तत्थ'त्ति 'तत्र' तेषु चतुर्षु भङ्गकेषु मध्ये 'दुचरिम'त्ति 'द्विचरमौ' द्वितीयचतुर्थौ, किमित्याह-'शुद्धौ' निर्दोषौ, द्वयोरपि भोजनस्य निश्शङ्कितत्वेन शुद्धत्वात्। द्वितीयभङ्गभाविनश्च शङ्कितग्रहणदोषमात्रस्योत्तरशुभपरिणामेन शुद्धिसम्भवात्। तथा यं कञ्चन, दोषमिति योगः, 'शङ्कते' आरेकते-सम्भावयतीत्यर्थः, पिण्डग्राहकसाधुरिति गम्यते, तं 'प्राप्नोति' आपद्यते 'दोषं' दूषणं 'सेसेसु'त्ति 'शेषयोः' प्रथमतृतीयभङ्गयोः, उभयत्रापि भोजनस्य शङ्कितत्वेनाशुद्धत्वात् । किंविधं दोषं ? इत्याह-'कम्माइ' त्ति 'कर्मादि' आधाकर्मौद्देशिकप्रभृत्युद्गमदोषषोडशकं म्रक्षितनिक्षिप्ताद्येषणादोषनवकं चेत्यर्थः । इति गाथार्थः ॥ ७८ ॥

अथ म्रक्षितदोषं व्याख्यानयन्नाह—

दी०-'शङ्कितस्य आधाकर्मवत्तया सन्दिग्धस्य 'ग्रहणे' स्वीकारे तथा 'भोगे' भोजने सति, जात्येकवचनाच्चतुर्भङ्गः+ स्यात्, यथा-शङ्कितग्रहणे लज्जादिवशादपृच्छायां तथैव सन्देहाच्छङ्कितपरिभोगः १, शङ्कितग्रहणे पश्चात्सन्देहापगमे सति भुञ्जानस्य निःशङ्कितभोगः २, निश्शङ्कितग्रहणं कुतोऽपि हेतोर्दोषाशङ्कायां शङ्कितभोगः ३, निश्शङ्कितग्रहणे निश्शङ्कितभोगः स्पष्टः ४, 'तत्र' तेषु द्वितीयचरमौ भङ्गौ शुद्धौ, निश्शङ्कितभोगादित्याह-यं कञ्चन दोषं शङ्कते साधुस्तं प्राप्नोति 'शेषयोः' प्रथम-तृतीयभङ्गयोः, शङ्कितभोगात् । किम्भूतं ? 'कर्मादि' उद्गमदोषषोडशकं म्रक्षणाद्येषणादोषनवकं चेति भाव इति गाथार्थः ॥ ७८ ॥ अथ म्रक्षितमाह-

§ "वियडंत" प. ह. क. । + "°भङ्गी" ह. ।

सच्चित्ताचित्तमक्खियं, दुहा तत्थ भूदगवणेहिं । तिविहं पढमं बीयं, गरहिय-इयरेहिं दुविहं तु ॥७९॥

व्याख्या–'सचित्ताचित्त'ति सचित्तेन म्रक्षितं यत्करादि, तदेव तद्योगात् 'सचित्तं' सचेतनं, तच्च, एवमचित्तं चाचेतनं सचित्ताचित्तं, द्वन्द्वैकवद्भावात्सचित्तम्रक्षित-मचित्तम्रक्षितं चेत्यर्थः, इत्येवं म्रक्षित-मारूषितं 'द्विधा' द्विप्रकारं, भवतीति शेषः, 'तत्थ'त्ति 'तत्र' तयोर्म्रक्षितभेदयोर्मध्ये प्रथमं त्रिधा, भवतीति योगः, कथमित्याह–'भू-दक-वनैः' सचित्तपृथिव्यम्बुवनस्पतिभिर्म्रक्षणभेदादिति गम्यते । 'त्रिविधं' त्रिप्रकारमेव, तेजोवायुत्रसैर्म्रक्षितत्वायोगात्, प्रथमं सचित्तम्रक्षितं भवति । 'बीयं'ति, वक्ष्यमाणपुनरर्थतुशब्दस्येह सम्बन्धाद्द्वितीयं पुनरचित्तम्रक्षितं, द्विविधमिति योगः, कथमित्याह–'गर्हितेतराभ्यां' लोकनिन्द्यानिन्द्यवस्तुभ्यां, म्रक्षणभेदादिति गम्यते, 'द्विविधं' द्विप्रकारं भवति, तुर्व्याख्यात एवेति गाथार्थः ॥ ७९ ॥

एवं म्रक्षितस्वरूपमभिधायाऽथास्यैव विभागेनाऽकल्पनीयतां बिभणिषुराह—

दी०–सचित्ताचित्तयोर्देयवस्तुनोर्योगान् म्रक्षितं द्विधा स्यात्, तत्र 'भू-दक-वनैः' सचित्तपृथ्वीजलवनस्पतिभिस्त्रिभिर्म्रक्षणभेदात्रिविधं प्रथमं, द्वितीयं त्वचित्तम्रक्षितं 'गर्हितेतराभ्यां' लोके निन्द्यानिन्द्यवस्तुभ्यां म्रक्षणभेदाद्द्विविधमिति गाथार्थः ॥ ७९ ॥ एतदेव विशेषयन्नाह—

संसत्तअचित्तेहिं, लोगागमगरहिएहि य जईणं । सुक्कोऽल्लसचित्तेहि य, करमत्तं मक्खियमकप्पं ॥८०॥

व्याख्या–संसक्तानि च–तान्येकेन्द्रियादिसत्त्वसम्भूतियुक्तानि, अचित्तानि च–दधिद्राक्षापानकादीनि संसक्ताचित्तानि,

ग्रहणैषणायां म्रक्षितदोषनिरूपणं सप्रभेदम् ।

तैस्तथा 'लोकश्च' पृथग्जन आगमश्चा–ऽर्हत्प्रवचनं लोकागमौ, तयोर्मध्ये 'गर्हितानि' निन्दितानि यानि मद्य-मांस-वशा शोणित-मूत्र-पुरीषादीनि, तानि लोकागम(ग्रन्थाग्रं. २०००)गर्हितानि, तैः, चः समुच्चये, अनेन चाऽसंसक्तागर्हिताचित्तद्रव्यम्रक्षितस्य कल्पनीयता प्रतिपादिता भवति। 'यतीनां' साधूनां, तथा 'सुक्कोल्लसचित्तेहि य'त्ति 'शुष्कार्द्रसचित्तै'र्नीरस-सरस-सचेतनैः, प्रक्रमात्पृथिव्य-म्बु-वनस्पतिलक्षणैर्वस्तुभिः, चः समुच्चये, म्रक्षितं अकल्प्यमिति सम्बन्धः। किं तदित्याह–'करमत्ते'त्ति 'करश्च'दातृहस्तो 'मात्रं च' करोटिकादिलक्षणं भिक्षाभाजनं, द्वन्द्वैकवद्भावात् करमात्रं 'म्रक्षितं' खरण्टितं सदुभयमन्यतरद्वा, उपलक्षणत्वाद्देयद्रव्यं वा, किमित्याह–'अकल्प्यं' अकल्पनीयं, यतीनामिति पूर्वेण योगः, अयमर्थो–न पूर्वोक्तद्रव्यैर्म्रक्षिताभ्यां हस्तमात्राभ्यां दीयमाना शुद्धाऽपि भिक्षा यतीनां ग्रहीतुं कल्पते नाऽपि तैर्म्रक्षितं द्रव्यमादातुं युज्यते, सत्त्वोपघात-जनापवादादिदोषसम्भवादिति गाथार्थः ॥ ८० ॥ अथ निक्षिप्तदोषं विवरीतुमाह—

दी०–'संसक्तै'रेकेन्द्रियादिसत्त्वसम्भूतियुक्तैरचित्तैस्तथा 'लोकः' पृथग्जनः 'आगमो'ऽर्हत्प्रवचनं, तयोर्गर्हितैश्च–मद्य-मांस-वशा-शोणित मूत्र-पुरीषाद्यैस्तथा 'शुष्कार्द्रै'र्नीरस सरसैः सचित्तैः, प्रस्तावाद्भू दक-वनलक्षणैर्म्रक्षितं करमात्रं, करो–हस्तो 'मात्रं' करोटिकादिस्तदुपलक्षणादन्यदपि यतीनामकल्प्यं, सत्त्वोपघात-जनापवादादिदोषसम्भवादिति गाथार्थः ॥८०॥

अथ निक्षिप्ताख्यमाह—

पुढविदगअगणिपवणे, परित्तऽणंते वणे तसेसुं च। निक्खित्तमचित्तं पि हु, अणंतरपरंपरमगेज्झं ॥८१॥

व्याख्या—'पृथिवी' च मृत्तिका 'उदकं च' जलं 'अग्निश्च' तेजस्कायः 'पवनश्च' वायुः, द्वन्द्वैकवद्भावात् पृथिव्युदकाग्नि-

पवनं, तस्मिन् सचित्ते मिश्रे चेति गम्यं, एवमुत्तरत्राऽपि, तथा 'परीत्तं च'-प्रत्येकं 'अनन्तं च' साधारणं परीत्तानन्तं, तस्मिन्, एकवचनान्तता च प्राग्वत्, क्व ? इत्याह-'वने' वनस्पतिकाये तथा 'त्रसेषु च' द्वीन्द्रियादिषु, चः समुच्चये, 'निक्षिप्तं' न्यस्तं-स्थापितमित्यर्थः। 'अचित्तमपि' प्रासुकमपि, देयद्रव्यमिति गम्यते, सचित्तं तावदग्राह्यमेवेत्यपिशब्दार्थः, हुरवधारणे, तस्य चाग्राह्यमेवेत्यनेन योगः, कथं न्यस्तमित्याह-'अनन्तरं च' अव्यवहितं 'परम्परं च' वस्त्वन्तरव्यवहितं अनन्तर-परम्पर-न्यस्तं, क्रियाविशेषणं चैतत्, तत्र पृथिव्यामनन्तरनिक्षेपसम्भवो मण्डकादेरुदके नवनीतस्त्यानघृतादेरङ्गाराव-स्थाग्नौ मण्डकादेः पवने तेनैव ह्रियमाणस्य शालि+पर्पटादेर्वनस्पतौ त्रसेषु च पूपकादेः, परम्परनिक्षेपसम्भवस्तु पृथिव्या-दिषु मण्डकादेरेव वस्त्वन्तरव्यवहितन्यस्तस्य भावनीयः, पवने तु वातपूरित×वस्त्यादिस्थितस्य वस्तुन इति, एतत्किमि-त्याह—'अगेज्झं' ति 'अग्राह्यमेव' साधूनां ग्रहीतुमयोग्यमेवेति, अत्रोत्तरत्र च चतुर्भङ्गादिचर्चो ग्रन्थान्तरादवसेयो वैषम्य-भयाच्च नेहाऽवतारित इति गाथार्थः ॥ ८१ ॥ अथ पिहितदोषमभिधातुमाह—

दी०-द्वन्द्वैकवद्भावात्पृथिव्यु-दका-ग्नि-पवने, सचित्ते मिश्रे वेति गम्यं, तथा 'परीत्तानन्ते' प्रत्येकसाधारणे 'वने' वनस्पतिकाये, तथा 'त्रसेषु' द्वीन्द्रियादिषु निक्षिप्तमचित्तमपि देयद्रव्यं 'हु'रिति निश्चये, अनन्तरं-अव्यवहितं 'परम्परं' वस्त्वन्तरव्यवहितं सद् अग्राह्यमिति गाथार्थः ॥ ८१ ॥ अथ पिहिताख्यमाह—

सचित्ताचित्तपिहिए, चउभंगो तत्थ दुट्ठमाइतिगं। गुरुलहुचउभंगिल्ले, चरिमे वि दुचरिमगा सुद्धा ॥८२॥

+ सालेवड। × वस्त्यादि " अ.। [दीवडी—मशक]।

व्याख्या—'सचित्तं च' चैतन्ययुक्तमचित्तं च-चेतनाविकलं सचित्ताचित्ते वस्तुनी, ताभ्यां 'पिहितं' स्थगितं, तत्र वस्तुनीति गम्यते, किमित्याह-'चउभंगो'त्ति चतूरूपो भङ्गश्चतुर्भङ्गो, जातिनिर्देशाच्चत्वारो भङ्गका भवन्तीत्यर्थः, तद्यथा-सचित्तेन सचित्तं पिहितं १ एवमचित्तेन सचित्तं २ सचित्तेनाऽचित्तं ३ अचित्तेनाचित्तमिति ४। तत्र तेषु चतुर्षु भङ्गकेषु मध्ये, किमित्याह-'दुष्टं' दोषव-जीवपीडावहत्वात्। किं तदित्याह-'आदित्रिकं' प्रथमभङ्गत्रयं, चतुर्थ×स्य का वार्तेत्याह-'गुरुलहु' इत्यादि, 'गुरु च' प्रचुरभारान्वितं वस्तु 'लघु च' स्तोकभारं गुरुलघुनी, ताभ्यां चतुर्भङ्गो विद्यते यत्र स गुरुलघुचतुर्भङ्गवान्, तस्मिन्, इह च 'आल-इल्ल-मण' प्रभृतिप्राकृतप्रत्ययानां मत्वर्थीयार्थत्वात् 'चउभंगिल्ले' त्ति निर्देशेऽपि चतुर्भङ्गवतीति व्याख्यातं, चतुर्भङ्गश्चैवं 'गुरु' महद्देयद्रव्यभाजनं 'गुरुणा' प्रभूतभारेण स्थाल्यादिना पिहितं १ एवं गुरु 'लघुना' स्तोकभारेण पिधानस्थाल्यादिना २ एवं लघुगुरुणा ३ लघुलघुना ४। पूर्वोक्तचतुर्भङ्गकेभ्यश्च क्रमान्तरचतुर्भङ्गकोऽयं, मध्यमभङ्गयोः क्रमविपर्ययात्+, केत्याह-'चरमेऽपि' चतुर्थभङ्गकेऽपीत्यर्थः। 'द्विचरमकौ' द्वितीयचतुर्थावेव, किमित्याह 'शुद्धौ' निर्दोषौ, पिधायकद्रव्यस्य लघुत्वेन निरपायत्वात्तयोः, न तु प्रथमतृतीयौ, पिधायकद्रव्यस्य गुरुत्वेन तत्र पतनाद्यनेकदोषसम्भवादिति गाथार्थः ॥ ८२ ॥ साम्प्रतं संहृतदोषमभिधातुमाह—

दी०-सचित्ताचित्ताभ्यां पिहिते देयद्रव्ये 'चतुर्भङ्गो×, [जातिनिर्देशाच्चत्वारो भङ्गाः], यथा—सचित्तेन सचित्तं १,

---

× " चतुर्थकस्य " य. । + द्वितीयस्थाने तृतीयः प्राप्नोति, तृतीयस्थाने द्वितीयः प्राप्नोतीत्येवं क्रमविपर्ययः (टि० अ.)
×" भंङ्गी " ह. ।

×सचित्तेनाचित्तं २, अचित्तेन सचित्तं ३, अचित्तेनाचित्तमिति ४। 'तत्र' तेषु 'दुष्टं' सदोषं 'आदित्रिकं' प्रथमभङ्गत्रयं, चतुर्थः कथं ? इत्याह-'गुरुलघुभ्यां' बहुभारस्तोकभाराभ्यां पिधानाभ्यां सचित्ताचित्त'चतुर्भंगिल्ले' चतुर्भेदवति चरमे भङ्गे द्वितीयचरमौ शुद्धौ, निरपायत्वादिति गाथार्थः ॥ ८२ ॥ अथ संहृताख्यमाह-

खिविय ऽन्नत्थमजोग्गं, मत्ताओ तेण देइ साहरियं। तत्थ सचित्ताचित्ते, चउभंगो कप्पइ उ चरिमे ॥८३॥

व्याख्या—यत् 'क्षिप्त्वा' प्रक्षिप्याऽन्यत्र पृथिवीकायादौ, किं तदित्याह 'अयोग्यं' दानानुचितं मृत्तिका-जल-तुषारादि दातुमनभिप्रेतं वा, कस्मादित्याह-'मात्रात्' करोटिकादेः स्वभाजनात् 'तेण' त्ति सावधारणत्वात् 'तेनैव' रिक्तीकृतमात्रकेणैव 'ददाति' देयं वस्तु साधुभ्यः प्रयच्छति, गृहस्थ इति गम्यते, तत्संहृतमित्युच्यत इति शेषः। 'तत्र' तस्मिन् संहृते 'सचित्ताचित्ते' सचेतनाचेतने वस्तुनि, मिश्रस्य सचेतन एवाऽन्तर्भावात्, किमित्याह-'चतुर्भङ्ग'श्चत्वारो भङ्गा भवन्तीत्यर्थस्तद्यथा-सचित्ते-पृथिव्यादौ सचित्त-पृथिव्याद्येव संहरति १, एवमचित्ते-भस्मादौ सचित्तं २, सचित्तेऽचित्तं ३, अचित्तेऽचित्तं ४। एवं भङ्गकानभिधाय तन्मध्ये यत्र कल्पते तमाह 'कप्पइ उ चरिमे' त्ति 'कल्पते तु' भक्तादि ग्रहीतुं युज्यते पुनः साधूनां 'चरमे' चतुर्थभङ्गके, नाऽऽद्यत्रिक इति गाथार्थः ॥ ८३ ॥ अथ चतुर्थभङ्गकस्यैव विशेषं प्रतिपादयन्नाह—

दी०—क्षिप्त्वा अन्यत्र पृथ्वीकायादौ 'अयोग्यं' दानानुचितं मृत्तिका-जल-तुषादि दातुमनिष्टं वा 'मात्रात्' करोटिकादेर्भाजनात् 'तेन' रिक्तीकृतमात्रकेणैव ददाति तत्संहृतं स्यात्। तत्र सचित्ताचित्ते वस्तुनि चतुर्भङ्गो यथा-सचित्ते सचित्तं १,

× "अचित्तेन सचित्तं २ सचित्तेनाचित्तं ३" प. म.।

सचित्तेऽचित्तं २, अचित्ते सचित्तं ३, अचित्तेऽचित्तं ४, संहरतीति, एषु कल्पते 'तु' पुनश्चरमे भङ्गे इति गाथार्थः ॥ ८३ ॥

अत्रापि विशेषमाह—

तत्थ वि य थोवबहुपय-चउभंगो पढमतइयगाइण्णा। जइ तं थोवाहारं, मत्तगमुक्खिविय वियरेज्जा ।८४।

व्याख्या—'तत्रापि च' चतुर्भङ्गकेऽपि, किं स्यादित्याह 'थोव-बहुपय-चउभंगो'त्ति स्तोकबहुलक्षणे ये 'पदे' अभिधाने, ताभ्यां चतुर्भङ्गः स्तोकबहुपदचतुर्भङ्गः, स्यादिति शेषः, तद्यथा—'स्तोके' अल्पे तक्रादिके 'स्तोकं' स्वल्पं तक्रादिकमेव संहरति १, एवं +स्तोके बहुकं २, बहुके स्तोकं ३, बहुके बहुकं ४। एतेषु च 'प्रथमतृतीयकौ' आद्योपान्त्यभङ्गकौ, किमित्याह—'आचीर्णौ' भिक्षाग्रहणे साधुभिर्व्यवहृतौ। अत्रापि किमपि विशेषमाह—'जइ तं'मित्यादि, यदीत्यभ्युपगमे 'तं'ति तद्देयसंहृतसत्कं 'थोवाहारं' ति स्तोकः करग्रहणमात्ररूप 'आधारः' साहाय्यं यस्य, स्तोकं वा वस्तु आ-समन्ताद्धारयति, स्तोकस्य वा वस्तुन 'आधारः' स्थानं यत्तत्स्तोकाधारं—अल्पभारमित्यर्थः, बह्वाधारे हि भाजने उत्क्षिप्यमाणे दातृपीडादयो दोषाः स्युरिति स्तोकाधारविशेषणं, किं तदित्याह—'मात्रकं' स्थाल्यादिभाजनं 'उत्क्षिप्य' उत्पाट्य, भूमौ स्थितेन हि भाजनेनाऽवनम्य तन्मध्याXवस्थिते वस्तुनि दात्र्या दीयमाने अधो—भूमिभाजनयोरन्तरे कीटिकाद्युपमर्दः सम्भवतीति। किं कुर्यादित्याह—'वितरेत्' दात्री दद्यान्मात्रकमध्यगतं संहृतसंज्ञं वस्त्विति गाथार्थः ॥ ८४ ॥

अथ दोषदोषवतोरभेदाद्दायकानभिधातुमाह—

+ अत्रापि भेदविपर्ययोऽस्ति (टि० अ.)। X " °व्यस्थिते " प. ट. क.।

दी०—'तत्रापि' चतुर्भङ्गे स्तोकबहुलक्षणे ये 'पदे' अभिधाने, ताभ्यां चतुर्भङ्गः स्यात्, यथा—स्तोके तक्रादौ स्तोकं १, स्तोके बहुकं २, बहुके स्तोकं ३, बहुके बहुकं ४। एषु प्रथमतृतीयकौ 'आचीर्णौ' साधुभिर्व्यवहृतौ, परं यदि ['तत्'] संहृतसत्कं मात्रकं 'स्तोकाधारं' अल्पभारं 'उत्क्षिप्य' उत्पाद्य 'वितरेद्' भक्तादि दद्यादिति गाथार्थः ॥ ८४ ॥ अथ दायकाख्यमाह—

थेरपहुपंडवेविर—जरियंधऽव्वत्तमत्तउम्मत्ते । करचरणछिन्नपगलिय—नियलंदुयपाउयारूढो ॥ ८५ ॥

व्याख्या—इह च स्थविरेत्यादौ छिन्नशब्दस्य पूर्वनिपाताच्छिन्नकरचरणेत्यादौ च पदे द्वन्द्वैकवद्भावात्सप्तम्येकवचनान्तता, ततश्च स्थविरादिके छिन्नकरचरणादिके च दायके ददति भिक्षा न ग्राह्येति समासार्थः, व्यासार्थस्त्वयं—'स्थविरो' वृद्धः, स च सप्ततेर्वर्षाणामुपरिवर्त्ती, षष्टेरित्यन्ये, अनेन दीयमानमुत्सर्गतो मुनयो न गृह्णन्ति, यद्वक्ष्यति [चात्रैव]—"दिंतेसु एवमाइसु, ओहेण मुणी न गेण्हंति (॥ ८८ ॥)" +अनेकदोषाश्रयत्वात्तद्दानप्रवृत्तेः, यदाह—

"थेरो गलंतलालो, कंपणहत्थो पडेज्ज वा दिंतो । अपहुत्ति×य अवियत्तं*, एगयरे वा उभयओ वा ॥१॥"

सुगमा, नवरं—स्थविरोऽप्रभुरिति कृत्वाऽप्रीतिकं तत्पुत्रादेः स्यादेकतरस्मिन्—साधौ वृद्धे वा, उभयतः—साधौ वृद्धे §च, अपवादतस्तु स्थविरे प्रभौ कम्पमानेऽन्येन विधृते दृढशरीरे वाऽन्येनाविधृतेऽप्यगलल्लाले ददति भिक्षां गृह्णन्त्यपीति १। तथाऽप्रभुर्दीयमानभक्तादेरस्वामी-भृतकादिस्तेन दीयमानं न कल्पते, अप्रभुत्वादेव, स्वामिना तु तद्धस्तेन दाप्यमानं कल्पत एवेति २। तथा 'पण्डो' नपुंसकः, स च पण्डक-वातिकादिभेदात्षोडशधा, यदाह—

+ "अप्रीत्यादिबहुदोषा" इति प्रत्यन्तरे । × "०त्तिय" भां. । * "अचियत्तं" प. इ. क. य. । § "वा" प. अ. ।

ग्रहणैषणा-दशके षष्ठं दायकदोषं सप्रभेदम् ।

"पंडए १ वाइए २ कीवे ३, कुंभे ४ ईसालुए ५ तहा। सउणी ६ तक्कम्मसेवी य ७, पक्खियापक्खिए वि य ८॥१॥"

"सोगंधिए य ९ आसित्ते १०, वद्धिए ११ चप्पिए १२ तहा।

मंतो१३सहिओवहयए १४, इसिसत्ते १५ देवसत्ते य १६ ॥ २ ॥"

तथा नारीस्वरानुकारिस्वरो महन्मेहनान्वितः सशब्दफेनमूत्रप्रकृतिः पृष्टा[पृष्ठा]वलोकनकलितमन्दगतिः शीतलमृदुगात्रः स्त्रीवत्प्रलम्बपरिधानरुचिरभीक्ष्णं कटिहस्तदानशीलो वामकरतलन्यस्तदक्षिणहस्ततलपर्यस्तमुखवृत्तिश्च, सविलासलोचनः सविभ्रमभ्रूक्षेपकारी स्वात्मनि स्त्रीमण्डनकेशबन्धविधायी प्रच्छन्नस्नानमूत्रोच्चारकारकः प्रमदाकर्मकरणरतिर्लज्जालुः पुरुषवर्गे प्रगल्भश्च स्त्रीसमाज इत्यादिलक्षणलक्ष्य+श्च, एतेन च दीयमाना भिक्षा न ग्राह्या, अनेकदोषसम्भवात्, ×यदाह–"आयपरोभयदोसा, अभिक्खगहणम्मि" भिक्षाया इति शेषः, "खोभण नपुंसे। लोगदुगुंछा संका, एरिसया नूणमेते‡वि ॥१॥"

अपवादस्तु वर्द्धितचिप्पितमन्त्रौषध्युपहत§मुनिदेवशप्तादिषु केषुचिदप्रतिसेविनपुंसकेषु* ददत्सु भिक्षा ग्राह्येति ३। तथा 'वेविर' त्ति 'वेपिता' †कम्पमानशरीरः, प्राकृते च "तृन इर" इति वचनात् 'वेविर' इति स्यात्, स हि वेपमानतनुत्वाद्भिक्षां प्रयच्छन् परिशातन-भाजनभङ्गादीन् दोषान् करोतीति तद्वर्जनं, अपवादतोऽस्मिन्नपि दृढभाजनभिक्षाग्रहे गृह्यत

+ "॰लक्षितश्च" भां, । × "यत आह" प. ह. क. य. । ‡ "॰णमेएवि" य., "॰णएमेवि" प. ह, क. "॰णमेषवि" अ ।

§ मुनिना, कोऽर्थः ? ऋषिणा देवेन वा शप्ताः सन्तः, कोऽर्थः ? आक्रोशिताः सन्तो ये नपुंसका भवन्ति, तेष्वित्यर्थः । (टि० अ.)

* नपुंसककार्यरहितेष्वित्यर्थः (टि० अ.) । † "वेपितः" भां. ।

इति ४ । तथा 'ज्वरितो' ज्वररोगवान्, तद्भिक्षाग्रहणे हि ज्वरसङ्क्रमण-जनापवादादयो दोषाः स्युरतो न ग्राह्या, शिवज्वरे‡ तु यतनया ग्राह्याऽपीति ५। तथा 'अन्धो' विगलितलोचनः, तस्य हि भिक्षां ददतः कायवध-स्खलन-पतन-भाजनबहिर्भक्तक्षेपण-जनवचनीयतादयो दोषाः स्युरिति न ग्राह्या, यदि पुनः सोऽप्यन्येन पुत्रादिना विधृतो भिक्षां वाऽन्येनैव धृतां ददाति, तदा पूर्वोक्तदोषाभावाद्ग्राह्याऽपीति ६ । तथा 'अव्यक्तो' बालो, जन्मतो वर्षाष्टकाभ्यन्तरवर्ती, स चाऽनभिज्ञत्वात्साधुभिक्षाप्रदाने नाऽधिक्रियते तज्जनन्यादेः प्रद्वेषसम्भवाच्च, श्रूयते चाऽत्रोदाहरणं—

इह मद्दिगा अगारी, आसेसा सा नियं सुयं भणिउं । समणाण दिज्ज भिक्खं–ति तो गया निययखित्तम्मि ॥ १ ॥ अह भिक्खट्ठा एगो, समागओ तीए मंदिरं समणो । तो धूयाए दिन्नं, कूरकरंबाइ से सव्वं ॥ २ ॥ अवरह्णकालसमए, समागया खंतिया भणइ धूयं । आणेहि पुत्ति ! कूरं, जेणं भुंजामि सा भणइ ॥ २ ॥ साहुस्स मए दिन्नो, ता माया भणइ सुट्ठु मे विहियं । संपइ जं अवसेसं, चिट्ठइ तं देहि ×मज्झं ति ॥ ३ ॥ तो धूयाए कहियं, दिन्नं सव्वं पि साहुणो अम्मो ! । तो रुट्ठाए तीए, भणियं सव्वं पि किं पावे ! ॥ ४ ॥ तुमए दिन्नं ? सा भण–इ साहुणो +जाइअम्मि पुणरुत्तं । इय सोउं सा रुट्ठा, सामागया सूरिपासंमि ॥ ५ ॥ जंपेइ मज्झ गेहं, मुसियं सव्वं पि साहुणा तुम्ह । तत्तो तीए समक्खं, उवगरणं सूरिणा हरिउं ॥ ६ ॥ निच्छूढो सो साहू, नियगच्छाओ निवारिओ तीए। पच्चागयभावाए, पवेसिओ तो पुणो गुरुणा ॥ ७॥ इति, परं बालोऽपि यदि दक्षः स्यात्तदा तेन दीयमानं भिक्षामात्रं मात्रादिवचनतः प्रभूतं वा अविचारितमेव ग्राह्यं ७। तथा 'मत्तो'

‡ शान्तज्वरे (टि० अ.) । × "मज्झंमि" मा. अ. य. । + "जाइयम्हि" प. ह. क. य. ।

मदिरादिमदविह्वलः, स चाशुचित्वा-लिङ्गना-हनन-भाजनमङ्गकरणादिदोषदुष्टत्वात्साधुभिक्षादानायोग्यः, सोऽपि यदि मनाग् मत्तोऽसागारिकप्रदेशस्थः* शुचिहस्तः श्रावकश्च स्यात्तदा योग्यः ८। तथोन्मत्तो-दृप्तः ग्रहगृहीतादिरस्याऽपि मत्तोक्तदोष दुष्टत्वाद्ददतोऽपि भिक्षा न ग्राह्या, नवरं यदि सोऽपि शुचिर्भद्रकश्च स्यात्तदा ग्राह्याऽपीति ९। तथा 'छिन्नकरः' कर्त्तितहस्त-स्तथा 'छिन्नचरणो' लूनपादः, एताभ्यां च सकाशाद्भिक्षा न ग्राह्या, दानासमर्थत्वाल्लोकापवादादिदोषसम्भवाच्च, केवलं यद्येता-वसागारिकस्थानस्थौ भवतश्छिन्नचरण उपविष्टश्च स्यात्तदा ग्राह्याऽपीति १०-११। तथा 'प्रगलितो' गलत्कुष्ठस्तद्भिक्षाग्रहणे हि साधोरपि कुष्ठरोगसङ्क्रान्तिः स्यात्, तदीयोच्छ्वास-त्वक्संस्पर्श स्वेद-मल मूत्रो-च्चार आहार लालादिभिः शरीरान्तरे तत्सङ्क्र-मणस्याऽभिहितत्वात्, ततो न ग्राह्या, दद्रु प्रसुप्तिकुष्ठिनि× चोक्तदोषाभावाद्ग्राह्याऽपीति १२। तथा 'नियल'त्ति सूचकत्वा-न्निगडितः-अयोमयपादबन्धनान्वित इत्यर्थः, तथा 'अंदुय'त्ति अत्राऽपि सूचकत्वादन्दुकबद्धः-दारुमयकरबन्धननियन्त्रित, एताभ्यां सकाशात्परितापना+ऽयतनादिदोषसम्भवाद्भिक्षा न ग्राह्या, यदि च निगडबद्धः सविक्रमोऽविक्रमश्चोपविष्टोऽसागा-रिकप्रदेशस्थो ददाति तदा ग्राह्या, अन्दुकबद्धे च दानशक्तेरेवाऽभावान्नाऽस्त्यपवादः १३-१४। तथा 'पादुकारूढः' काष्ठादि-मयोपानत्समारूढः, स हि भिक्षां प्रयच्छन् दुर्व्यवस्थितत्वात्कदाचित्*पतति कीटिकादिसत्त्वविराधनां च करोतीत्यतः परि-ह्रियते, यदि चाचल एवासौ किमपि ददाति तदा गृह्यत एवेति गाथार्थः १५॥ ८५॥ तथा—

दी०—'स्थविरो' वृद्धः सप्ततिवर्षोपरिवर्त्ती १, अप्रभु-र्देयस्यास्वामी २, पण्डो-नपुंसकः ३, वेपिरः-कम्पमानाङ्गः ४,

* एकान्तप्रदेशस्थः। × श्वेतकोढ (प० अ.)। + "तापनपतनादि°" प. ह. क. "°तापनादि" अ. य.। * "°चित्प्रपतति" भां.।

ज्वरितो–ज्वरार्त्तः ५, अन्धो–दृष्टिरहितः ६, अव्यक्तो–बालो वर्षाष्टकान्तर्वर्त्ती ७, मत्तो–मदिरामदविह्वलः ८, उन्मत्तो–ग्रहादिगृहीतः ९, एषु द्वन्द्वैकत्वादेकवचनं, इत्थम्भूते दायके सति भिक्षा न ग्राह्येति योगः। तथा 'छिन्न'शब्दस्य पूर्वनिपाताच्छिन्नकरश्छिन्नचरणश्च स्पष्टौ ११, प्रगलितो–गलत्कुष्ठः १२, सूचकत्वान्निगडितो–लोहमयपादबन्धनान्वितः १३, एवं अन्दुकितो–दारुमयकरबन्धनान्वितः १४, पादुकारूढः–काष्ठादिमयोपानचटितः १५, इति गाथार्थः ॥ ८५ ॥ इदमेवाह—

खंडइ[16] पीसइ[17] भुंजइ[18], कत्तइ[19] लोढेइ[20] विक्खिणइ[21] पिंजे[22]। दलइ[23] विरोलइ[24] जेमइ[25], जा गुव्विणि[26] बालवच्छा[27] य ॥

व्याख्या—अत्र वक्ष्यमाणो 'या' शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, ततश्च या काचिन्महिला 'खण्डयति' उदूखलक्षिप्तानि शाल्यादिबीजानि मुशलघातैः श्लक्ष्णीकरोतीत्यर्थस्तया दीयमाना भिक्षा न ग्राह्या, बीजसङ्घट्टनाद्यारम्भसम्भवात्, साऽपि यदि साधुमागतमवलोक्य स्वयोगेनोत्क्षिप्तमलग्नबीजं च मुशलं निरपायप्रदेशे विनिवेश्य ददाति तदा गृह्यते १६। तथा 'पिनष्टि' शिलायां तिलामलककुस्तुम्बुरुलवणजीरकादि मृद्नातीत्यर्थः, अनयाऽपि दीयमाना न कल्पते, तिलादिसङ्घट्टनसद्भावाद्भिक्षाखरण्टितकरप्रक्षालनसम्भवाच्च, यदि तु पेषणसमाप्तौ प्रासुकं वा पिंषती ददाति तदा कल्पते १७। 'भृज्जति' चनकयवगोधूमादीनग्निप्रतप्तकडिल्लकादौ स्फोटयतीत्यर्थः, तया दीयमानं न कल्पते, कडिल्लकादिप्रक्षिप्तस्य चनकादेर्दाहसम्भवात्, यदि चाऽचेतनं चनकादि भृष्टोत्तारितमन्यच्च करे न गृहीतं स्यात्तदा कल्पते १८। तथा 'कर्त्तयति' रूतं सचक्रेण सूत्रं करोतीत्यर्थः १९। तथा 'लोठयति' कर्पासं लोठिन्यां कणकेन निरस्थिकं करोतीत्यर्थः २०। तथा 'विक्खिणइ' त्ति 'विकीर्णयति' रूतं कराभ्यां पौनःपुन्येन श्लक्ष्णयति २१। तथा 'पिञ्जयति' रूतं पिञ्जनेन मृदूकरोति २२। एताभिश्च-

तसृभिरपि दीयमानं न कल्पते, कार्पासास्थिकसङ्घट्टन-देयवस्तुखरण्टितहस्तधावनादिदोषसम्भवात्, यदि च कर्त्तयन्त्यपि सूत्रं तन्तुश्वेतताविधायिना शङ्खचूर्णेन हस्तौ न धवलयति, धवलितौ वा शौचानाग्रहशीलतया भिक्षां दत्त्वा न प्रक्षालयति, लोठयन्ती विकीर्णयन्ती पिञ्जयन्ती च कार्पासं तदस्थिकांश्च न सङ्घट्टयति, देयद्रव्यखरण्टितकरधावने जलं च न विराधयति तदा कल्पत इति २२। तथा '+दलति' सचित्तगोधूमादिधान्यं घरट्टेन पिनष्टि, इयं हि भिक्षादानायोत्तिष्ठन्ती बीजानि सङ्घट्टयति दत्त्वा च करौ प्रक्षालयतीति न गृह्यते, यदि च स्वयोगेन मुक्तदलनव्यापाराऽचेतनं वा किञ्चिद्दलन्ती ददाति दत्त्वा च हस्तप्रक्षालनं न करोति तदा गृह्यत इति २३। तथा '×विलोलयति' करमन्थनादिना दध्यादि मथ्नाति, सा हि संसक्तदध्यादिलिप्तकरा भिक्षां ददती सत्त्ववधं विदध्यादिति न गृह्यते, यदि चासंसक्तदध्यादिकं मथ्नन्ती दद्यात्तदा गृह्यत इति २४। तथा 'जेमइ' त्ति 'जेमति' भुङ्क्ते-ऽभ्यवहरतीत्यर्थः, भुञ्जाना ह्याचमनं विधाय यदि साधुभ्यो दद्यात्तदाऽप्कायविराधना, अथैतद्दोषभयात्तदकृत्वैव वितरेत्तदोच्छिष्टमप्येते न त्यजन्तीत्यादिजनापवादः स्यात्तत्र च महान्दोषो, यदाह—"छक्कायदयावंतो, वि संजओ दुल्लहं कुणइ बोहिं। आहारे निहारे, दुगुंछिए पिंडगहणे वा ॥ १ ॥" इत्यतो न कल्पते, यदि च कवलं मुखेऽक्षिपन्ती तदा चोपनतसाधुभ्य उत्थाय दद्यात्तदा कल्पत इति २५। तथा या काचिन्महिला गुर्विण्यापन्नसत्त्वा स्यात्तत्सकाशाद्गच्छनिर्गता जिनकल्पिकादयः प्रथमदिनादारभ्य भिक्षां न गृह्णन्त्येव, स्थविरकल्पिकास्त्वष्टौ मासान् यावद्गृह्णन्ति, नवममासे तु निषीदनोत्थानाभ्यां दीयमानं न गृह्णन्ति, गर्भपीडासम्भवात्, स्वभावस्थितया

+ " दळयति " य. । × " विरोलयति " ह. क.।

तु दीयमानं गृह्णन्त्यपीति २६ । तथा 'बालवत्सा' स्तन्योपजीविशिशुका, चः समुच्चये, तया दीनमानं न कल्पते, निक्षिप्तबालस्य मार्जारादिभ्यो विनाशसम्भवात्, निक्षिप्यमाणस्योत्क्षिप्यमाणस्य चातिसुकुमारत्वेन परितापनासम्भवाच्च । अत्र चायं वृद्धसम्प्रदायः—गच्छवासिनो यदि क्षीराहारं बालकं पिबन्तं निक्षिप्य जननी ददाति, तदा रोदितु वा मा वा, न गृह्णन्ति, अथाऽन्यदपि *पीहकाद्याहारमाहारयति पिबंश्च निक्षिप्तस्ततो यदि न रोदिति तदा गृह्णन्ति, अथ रोदिति ततो न गृह्णन्ति, अथ स्तन्यजीवी इतरोवाऽपिबन्नेव निक्षिप्तस्ततो यदि न रोदिति तदा न परिहरन्ति, अथ रोदिति ततः परिहरन्त्येवेति । गच्छनिर्गताः पुनर्जिनकल्पिकादयो यावत् स्तन्यजीवी बालकस्तावत् पिबन्नपिबन्नेव वा निक्षिप्यतां रोदितु वा मा वा, न गृह्णन्त्येव, यदा चाऽन्यदप्याहारयितुमारब्धो भवेत्तदा यदि पिबन्निक्षिप्यते, ततो रोदितु वा मा वा न गृह्णन्त्येवाऽथाऽपिबन्नेव निक्षिप्तस्ततो यदि रोदिति तदा परिहरन्त्येवाऽथ न रोदिति ततो न परिहरन्ति २७ । इति गाथार्थः ॥ ८६ ॥

दी०—या स्त्री 'खण्डयति' उदूखलमूशलैः सचित्तं श्लक्ष्णयति १६, पिनष्टि-जीरकादि मृद्नाति १७, भृज्जति-चणकादींस्तप्तकडिहल्लकादौ+ स्फोटयति १८, कर्त्तयति-पूणिकाः सूत्रीकरोति १९, लोढयति-लोढिन्यां कणकेन कर्पासं निर्वीजयति २०, विकीर्णयति-कराभ्यां पुनःपुनस्तूलकं सूक्ष्मयति २१, पिञ्जयति-रूतं पिञ्जनेन मृदूकरोति २२, दलति-घरट्टेन सचित्तं पिनष्टि २३, विरोलयति-दध्यादिमथ्नाति २४, जेमति-भुङ्क्ते २५, या काचिन्महिला गुर्विणी-अष्टमासिकगर्भा, जिनकल्पिकादयः प्रथममासगर्भामपि त्यजन्ति २६, बालवत्सा च-स्तन्योपजीविशिशुकेति २७ गाथार्थः ॥ ८६ ॥ अत्रैवाह—

* " अवलेही " इति पर्याय अ पुस्तके । + " °प्तकडिवल्लकादौ " क० ।

तथा—

तह छक्काए गिण्हई[28], घट्टेई[29] आरभेइ[30] खिवेइ[31] दट्ठु जई। साहारण[32]-चोरियगं[33], देइ परक्कं[34] परट्ठं[35] वा ॥८७॥

व्याख्या—तथेति समुच्चये येति पदं सर्वत्रेहाऽपि सम्बध्यते, ततश्च या काचिदगारिणी 'षट्कायान्' लवणो-दका-ग्नि-पवनपूरितदृति-फल-मत्स्यादिजीवसमूहान्, किमित्याह—'गृह्णाति' हस्ताभ्यामादत्ते, तया दीयमानं, न कल्पत इति सर्वत्रा-योजनीयं २८। तथा 'घट्टयति' षट्कायानेव शेषशरीरावयवैः सङ्घट्टयति, अयमर्थः—कर्णारोपितबदरकरीरजपाकुसुमदाडिम-पुष्पादीनि मस्तकस्थितसिद्धार्थराजिकाशतपत्रिकाकुसुमादीनि गलावलम्बितम्लानमालतीमालादीनि परिधानाद्यन्तरस्थापित-सरसवृन्तताम्बूलपत्रादीनि च शरीरेण चलयतीति २९। तथा 'आरभते' षट्कायानेव विनाशयति, तत्र खननमर्दनादिना पृथिवीकायं मज्जनवस्त्रधावनादिनाऽप्कायं उल्मुकघट्टनादिनाऽग्निमुष्णभक्तादेः फुत्करणादिना मारुतं फलादेः कर्त्तनादिना वनस्पतिं स्फुरन्मत्स्यादिच्छेदनादिना त्रसकायं विराधयतीति भावना ३०। तथा 'क्षिपति' प्रकृतषट्कायानेव भूम्यादौ मुञ्चति, किं कृत्वेत्याह—'दृष्ट्वा' अवलोक्य, कानित्याह—'यतीन्' साधून्, यतिभिक्षादानबुद्ध्येति तात्पर्यम् ३१। तथा 'साधारणं' बह्वायत्तं, तद्ददातीति योगः, तत्र च साधारणानिसृष्टवद्दोषा वाच्याः ३२। 'चौरितकं' चौरिकया गृहीतं 'ददाति' भृत्यादिना साधुभ्यः प्रयच्छति, तत्र च दोषाः प्रतीता एव ३३। तथा 'पराक्यं' परसत्कमथवा 'परार्थं' परनिमित्तं, कार्पटिकादिदानाय कल्पितमित्यर्थः। 'वा' विकल्पे, ददाति। अत्र च परसत्के तत्स्वामिनाऽननुज्ञातेऽपरभिक्षा-चरदानाय कल्पिते च दीयमानेऽदत्तादानान्तरायादयो दोषाः स्युः ३४–३५। इति गाथार्थः ॥ ८७ ॥ तथा—

दी०—तथा या स्त्री षड्जीवनिकायान् गृह्णाति हस्ताभ्यां २८, घट्टयति—तानेव शरीरस्पर्शादिना २९, आरभते—षट्कायं पाकाद्यर्थं विनाशयति ३०, क्षिपति—दृष्ट्वा यतीन् भिक्षादानोद्यता षट्कायं भूमौ मुञ्चति ३१, साधारणं—बह्वायत्तं ३२, चौरितकं—चौरिकया गृहीतं ३३, ददाति, तथा 'पराक्यं' परकीयं ३४, अथवा 'परार्थं' कार्पटिकादीनां कल्पितं ३५, इति गाथार्थः ॥ ८७ ॥ अस्मिन्नेवाह—

ठवइ [३६] बलिं ×उव्वत्तइ, [३७] पिढराइ तिहा सपच्चवाया [३८] जा । देंतेसु एवमाइसु, ओहेण मुणी न गिण्हंति ॥८८॥

व्याख्या—इहाऽपि येति पदं प्रतिपदं सम्बन्धनीयं, ततश्च या काचिन्नारी 'स्थापयति' साधुदानायोद्यता सती मूलस्थालीतः समाकृष्य स्थगनिकादौ न्यस्यति, किमित्याह—'बलिं' उपहार-मग्रकूरमित्यर्थः, तया दीयमाना भिक्षा न कल्पते, प्रवर्त्तनादिदोषसम्भवात् ३६ । तथा 'उद्वर्त्तयति' साधुदानबुद्ध्या परावर्त्तयति—नमयतीत्यर्थः । किं तदित्याह—'पिठरादि' स्थाल्यादि, अत्र च कीटिकादिसत्त्वघातः स्यात् ३७ । तथा 'त्रिधा' ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लक्षणैस्त्रिभिः प्रकारैः 'सप्रत्यपाया' काष्ठकण्टकगत्रादिभ्यः सकाशात्सम्भाव्यमानाभिघाताद्यनर्था या काचिद्वनिता स्यात्तया दीयमानं न कल्पत इति ३८ । इह च कण्डनादिव्यापारस्य तदुचितत्वाद्दानप्रवृत्तौ च प्रायस्तासां मुख्यत्वाच्च +कण्डयतीत्यादिना स्त्रीणां विशेषणानि विहितानि, न तु पुरुषादीनां व्यवच्छेदकानि, ततो लिङ्गव्यत्ययेन पुरुषाणामुचितनपुंसकानां च यथासम्भवमेतान्यायोजनीयानि । अत्राऽऽह—ननु म्रक्षितसंहृतानिसृष्टादिष्वपि द्वारेषु षट्कायान् गृह्णातीत्यादिद्वाराणां केषाञ्चिदर्थो व्याख्यात

× भां. क. म. । " उयत्तइ " अ. य. । " ओयत्तइ " प. ह. । + " कण्डतीत्यादिना " अ. प. ह. क. य. ।

एव, तर्त्कि पुनरिह तद्ग्रहणेन ? इत्युच्यते—तत्र म्रक्षितादिद्वारानुरोधेनेह तु दायकद्वारवशेनेत्यदोषः । 'न चैकस्याऽपि वस्तुनोऽनेकदोपनिपातो नोपपद्यते' अस्य न्यायस्य तत्र तत्र प्रसिद्धत्वादेवमन्यत्राऽपि लक्षणसाङ्कर्ये समाधानं वाच्यमिति । एवं दायकानभिधायाऽथैतेषु ददत्सु साधुभिर्यद्विधेयं तत्साक्षाद् ग्रन्थकार एवाभिधातुमाह 'दिंतेसु' इत्यादि 'ददत्सु' वितरत्स्वेवमादिषु स्थविराप्रभुप्रभृतिष्वादिशब्दात् षट्कायान् पादाभ्यामवगाहमानासंसक्तद्रव्यलिप्तकरमात्रेत्यादीनामागमोक्तदातृविशेषाणां ग्रहः, 'ओघेन' सामान्येनोत्सर्गेणेत्यर्थः, अपवादतस्तु यथासम्भवं गृह्णन्त्यपि । अयं चाऽर्थः प्राग्भावित एवेति न पुनः प्रतन्यते । 'मुनयः' साधवो 'न' नैव 'गृह्णन्ति' स्वीकुर्वन्ति, भक्तादीति गम्यत इति गाथार्थः ॥ ८८ ॥

अथोन्मिश्रद्वारं विवरीतुमाह—

दी०—या स्त्री साधुदानोद्यता स्थालितः स्थापयति, 'बलिं' अग्रकूरं ३६, उद्वर्त्तयति—नमयति 'पिठरादि'स्थाल्यादि ३७, तथा 'त्रिधा' ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लक्षणैस्त्रिभिः प्रकारैः 'सप्रत्यपाया' काष्ठकण्टकगवादिभ्यः सकाशात्सम्भाव्यमानाभिघाताद्यनर्था या स्त्रीति ३८, इह ख(क)ण्डयतीत्यादिषु प्रायः स्त्रीणां मुख्यत्वात्तद्विशेषणानि कृतानि । तथा च म्रक्षितानिसृष्टादिदोषाणां केषाञ्चिदर्थः पुनरुक्तोऽप्यत्र दायकाश्रितत्वान्न दुष्टः, तथा स्खलनासमाधानलोकापवाद+प्रवृत्तिरोगसङ्क्रमषट्कायविराधनादयो दोषा यथार्हमेतेषु भावनीयाः । एवं ददत्सु 'एवमादिषु' स्थविरादिदायकेषु, आदिशब्दादन्येष्वपि तद्विधदोषदुष्टेषु 'ओघेन' उत्सर्गेण मुनयो भक्तादि न गृह्णन्ति, अपवादतस्तु तद्विधदोषासम्भावनायां गृह्णन्तीति गाथार्थः ॥ ८८ ॥

+ " ० पवादाप्रवृत्ति " क० । " ० पवादाप्रभृति " प० । " पवादप्रभृति " अ० ।

अथोन्मिश्राख्यमाह—

जोग्गमजोग्गं च दुवे, वि मीसिउं देइ जं तमुम्मीसं। इह पुण सच्चित्तमीसं, न कप्पमियरम्मि उ विभासा।

व्याख्या—'योग्यं' साधुदानोचितमोदनादि, तथा'अयोग्यं' तद्विपरीतं सचेतनं तुषादि वा, चः समुच्चये 'द्वे अपि' द्विमङ्ख्ये अपि वस्तुनी 'मिश्रयित्वा' एकीकृत्य, इह च मिश्रणं मीलनमात्रमेवाऽवसेयं, न तु करम्बीकरणं, तस्य कृतौ-द्देशिकत्वेनाऽभिहितत्वात्। उन्मिश्रणं चाऽनाभोगेन, केवलं दीयमानं स्तोकं स्यादिति लज्जया, पृथग्दाने वेला लगतीत्यौत्सुक्येन, मीलितं मिष्टं स्यादिति भक्त्या, नियमभङ्गो भवत्वेतेषामिति प्रत्यनीकतया वा कुर्यादिति। किमित्याह—'ददाति' यतिभ्यो वितरति, गृहस्थ इति गम्यते, यत्तदुन्मिश्र-मुन्मिश्राभिधानमुच्यत इति शेषः, इह पुन-रत्रोन्मिश्रे पुनः सचित्त-मिश्रं-बीज-कन्द-हरितादिमिश्रितं देयद्रव्यमपि दात्र्या दीयमानं, किमित्याह 'न'नैव 'कल्प्यं' कल्पनीयमितरस्मिंस्तु-अचित्तमिश्रे पुनर्विभाषा-तत्किञ्चित्कल्पनीयं किञ्चिन्नेत्येवंलक्षणा विकल्पना, स्यादिति शेषः, एतदुक्तं भवति-अत्राऽपि सचित्तेन सचित्तं मिश्रितं १, एवमचित्तेन सचित्तं २, सचित्तेनाऽचित्तं ३, अचित्तेनाऽचित्तं ४, इत्येवं लक्षणाश्चत्वारो भङ्गा भवन्ति, तेषु च मध्ये आद्यभङ्गत्रये न कल्पते, देयद्रव्यस्य सचित्तमिश्रत्वेनाकल्पनीयत्वात्, चरमभङ्गसत्कयोश्च स्तोक-बहुपदसमुत्थयोः प्रथमतृतीयभङ्गकयोः संहृतदोषोक्तविधिना कल्पत इति गाथार्थः ॥ ८९ ॥

साम्प्रतमपरिणतदोषमभिधातुमाह—

दी०—'योग्यं' साधूनामुचितं देयं वस्तु 'अयोग्यं' तद्विपरीतं, द्वे अपि 'विमिश्र्य' एकीकृत्य अनाभोगात्स्तोकत्वा-

दौत्सुक्यात्प्रत्यनीकत्वाद्वा ददाति यद्देयं तदुन्मिश्राख्यं स्यात्, इहोन्मिश्रे पुनः सचित्तमिश्रं न कल्प्यं, अशुद्धत्वात्, इतरस्मिन्स्त्वचित्तमिश्रे 'विभाषा' किञ्चित्कल्पते किञ्चिन्नैवेति, कोऽर्थः ? सचित्ताचित्तयोर्मिश्रत्वे चतुर्भङ्ग्यां संहृतवत् स्तोकबहुपदभेदादचित्तमिश्रस्य चतुर्विधत्वे प्रथमतृतीयभङ्गभवं कल्पत इति गाथार्थः ॥ ८९ ॥ अथापरिणताख्यमाह—

अपरिणयं दव्वं चिय, भावो वा दोण्ह दाणि एगस्स । जइणो वेगस्स मणे, सुद्धं नऽन्नस्स परिणमियं ॥९०॥

व्याख्या—'अपरिणतं' अपरिणताभिधानं, किमुच्यत ? इत्याह 'द्रव्यमेव' दातव्यं वस्त्वेवाऽप्रासुकमिति 'भावो वा' अध्यवसायो वेत्यथवाऽऽपरिणतो—ऽनभिमुखो 'द्वयो'र्द्विसङ्ख्ययोः स्वामिनोर्मध्यादेकस्येति योगः, क्व विषये ? इत्याह—'दाने' दानविषये 'एकस्या'ऽन्यतरस्य दातुः 'यतेर्वा' साधोर्वेत्यथवा 'एकस्य' भिक्षागतसाधुसङ्घाटकमध्यादन्यतरस्य 'मनसि' चेतसि 'शुद्ध'मेतल्लभ्यमानमशनादि निर्दोषं, परिणतमिति योगः । 'न' नैवा'ऽन्यस्य' द्वितीयस्य साधोः 'परिणमियं'ति 'परिणत'मवगतिमागतं । इह च दातृभावापरिणतस्याऽनिसृष्टस्य च दातृसमक्षासमक्षत्वकृतो विशेषोऽवसेय इति गाथार्थः ॥ ९० ॥

अथ लिप्तदोषविवरणाय सपादगाथामाह—

दी०—अपरिणतं स्याद्द्रव्यमेवाप्रासुकं अथवा 'भावो' अध्यवसायो 'द्वयो'र्देयस्वामिनोर्मध्या'द्दाने' दानविषये 'एकस्य' अपरिणतोऽनभिमुखः, यतेर्वा—साधुसङ्घाटकमध्यादेकस्य मनसि शुद्धं परिणतं नैवान्यस्य—तद्द्वितीयस्य, इह दातृभावापरिणतस्यानिसृष्टस्य च दातृसमक्षासमक्षत्वकृतो विशेष इति गाथार्थः ॥ ९० ॥ अथ लिप्ताख्यमाह—

दहिमाइलेवजुत्तं, लित्तं तमगेज्झमोहओ इहइं । संसट्ठमत्तकरसा-वसेसदव्वेहिं अडभंगा ॥ ९१ ॥

एत्थ विसमेसु घिप्पइ,

व्याख्या—मकारस्याऽऽगमिकत्वा'द्दध्यादि' दधिक्षीरतक्रतीमनप्रभृति 'लेपयुक्तं' लेपवत्, किमित्याह—'लिप्तं' लिप्ताख्यमुच्यत इति शेषः। 'तं'ति, पुनरित्यस्याध्याहारात्तत्पुनर्लिप्तं, किमित्याह—'अग्राह्यं' अनादेयं, किं सर्वथा ?, नेत्याह—'ओघतः' सामान्यतः–कारणं विनेति यावत्, यदाह—"घेतव्वमलेवकडं, लेवकडे साहु पच्छकम्माई।" अलेपवतो गुणमाह—"न य रसगेहिपसंगो, न य भुत्ते बंभपीला य ॥ १ ॥" अलेपकारि चेह शुष्कौदनमण्डकसक्तुकुल्मापवल्लचनकादिकं विज्ञेयं। आह–यद्येवमलेपकार्यपि न +ग्रहीतव्यं, तत्राऽपि कियतामपि दोषाणां सम्भवात्, ×को वा किमाह ? न केवलमलेपमपि न ग्राह्यं, भोजनमपि न कर्तव्यमेव, यदि संयमयोगानां हानिर्न स्यान्नवरं–तदन्तरेण शरीरस्थितेरेवासम्भवात्सैव दुर्निवारेत्यत उत्सर्गतोऽपि तदनुज्ञातं, यदाह–"जइ पच्छकम्म दोसा, हवंति मा चेव भुंजउ समणो।" आचार्याः–"तवनियमसंजमाणं, चोयग! हाणी खमंतस्स ॥ १ ॥"त्ति। 'इहइं'ति, चशब्दाध्याहारादिह चा–ऽत्र च लिप्तेऽष्टौ भङ्गाः स्युरिति योगः, कैः कृत्वेत्याह–'मात्रं च' भाजनं 'करश्च' हस्तो मात्रकरौ, संसृष्टौ च तौ दध्यादिलेपवद्द्रव्यलिप्तौ मात्रकरौ च संसृष्टमात्रकरौ, तौ च 'सावशेषद्रव्यं च' दत्तोद्धरितवस्तु, तानि तथा, तैः संसृष्टमात्रकरसावशेषद्रव्यैः, किमित्याह 'अष्टौ' अष्टसङ्ख्या 'भङ्गा' विकल्पाः स्युरिति शेषस्ते चामी—संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यं १। संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यं २। संसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यं ३। संसृष्टो हस्तो-

+ मां. अ.। "गृहीतव्यं" प. ह. क. य.। × आचार्यः प्राह–इति पर्यायः अ. पुस्तके।

ऽसंसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यं ४। असंसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यं ५। असंसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यं ६। असंसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यं ७। असंसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यमिति ८। 'एत्थ'त्ति चशब्दाध्याहारादत्र चैतेषु चाष्टसु भङ्गकेषु मध्ये 'विषमेषु' प्रथमतृतीयादिषु भङ्गकेषु 'कल्पते' ग्रहीतुं युज्यते, स्वयोगेन असंसृष्टयोरपि करमात्रयोः सावशेषद्रव्यतायां लेपवद्द्रव्यभिक्षाया अपि ग्रहणे कथञ्चित्पश्चात्कर्मदोषस्य परिहर्तुं शक्यत्वात्, न तु समेषु, निरवशेषद्रव्यतया स्थाल्यादिधावनतः पश्चात्कर्मदोषस्य तत्र सम्भवादिति सपादगाथार्थः ॥ ९१ ॥

अथ छर्दितदोषाभिधानाय प्रथमपादोनगाथामाह—

दी०—दधिक्षीरतक्रतीमनप्रभृतिलेपयुक्तं लिप्ताख्यं स्यात्, तत्पुनरग्राह्यं 'ओघतः' कारणं विना, इह च लिप्ताख्येऽष्टौ भङ्गाः स्युरिति योगः। कैः कृत्वा? इत्याह—'संसृष्टौ'दध्यादिलिप्तौ 'मात्रकरौ' भाजनहस्तौ 'सावशेषं द्रव्यं' दत्तोद्धरितं, तैः, यथा-संसृष्टौ मात्रकरौ. सावशेषं द्रव्यं १, तौ तथैव. निरवशेषं द्रव्यं २, हस्तः संसृष्टो न मात्रं. सावशेषं द्रव्यं ३, चतुर्थोऽप्येवं. निरवशेषं द्रव्यं ४, असंसृष्टो हस्तो न मात्रं. सावशेषं द्रव्यं ५, षष्ठोऽप्येवं. निरवशेषं द्रव्यं ६, असंसृष्टौ मात्रहस्तौ. सावशेषं द्रव्यं ७, तौ तथैव. निरवशेषं द्रव्यं ८, इति गाथार्थः ॥ ९१ ॥ एषु शुद्धत्वं छर्दिते दोषत्वं चाह—

छड्डियमसणाइ होंत परिसाडिं। तत्थ पडंते काया, पडिए महुबिंदुदाहरणं ॥ ९२ ॥

व्याख्या—'छर्दितं' छर्दिताभिधानं, किमुच्यत? इत्याह—'अशनादि' यद्भक्तपानप्रभृति 'भवत्परिशाटि' भूमौ परिपतदवयवं सदाऽऽत्या दीयते, तदिति। 'तत्थ'त्ति चस्य गम्यमानत्वा'त्तत्र च' तस्मिंश्च प्रकृतवस्तुनि दीयमाने 'पतति' दातृभाजनात्प-

रिभ्रश्यति सति, किमित्याह–'कायाः' पृथिव्यादिजीवसमूहाः, विराध्यन्त इति गम्यते। 'पडिए'त्ति चशब्दाध्याहारात्पतिते च–भूमिगते च, किमित्याह–'मधुबिन्दूदाहरणं' पुष्प[मधु–मिष्टान्न]रसलवदृष्टान्तोऽनेकदोषपरम्परावेदकं वाच्यं, तच्चेदम्—

चंपाए नयरीए, मित्तपहो नाम नरवई होत्था। तस्स य भज्जा सोह–ग्गमंदिरं धारिणी देवी ॥ १ ॥ तत्थेव सत्थवाहो, धणमित्तो धणसिरी य से भज्जा। ओवाइयप्पभावा, तीसे पुत्तो वरो जाओ ॥ २ ॥ तो लोगो भणइ इमं, एयंमि कुलंमि धणसमिद्धंमि। जो जाओ तस्स जए, सुजायमेयस्स पुत्तस्स ॥ ३ ॥ तत्तो अम्मापियरो, वोलीणे बारसंमि दिवसंमि। ठाविंसु तस्स नामं, गुणनिप्फन्नं सुजाओ त्ति ॥ ४ ॥ ललिएण य भणिएण य, देवकुमारोवमो गओ वुड्ढिं। अम्मापिईगुणेणं, संजाओ सावओ परमो ॥ ५ ॥ तत्थेव धम्मघोसो, निवसइ मंती पियंगुनामेण। तस्स य भज्जा गुणरूव–विम्हिया तो सुजायस्स ॥ ६ ॥ पभणइ दासिं जाहे, अणेण मग्गेण सो उ गच्छेज्जा। ताहे मम साहेज्जह, जेण अहं तं पलोएमि ॥ ७ ॥ अह मित्तविंदसहिओ, अन्नदिणे एइ तेण मग्गेण। तो दासीए कहिए, झत्ति पियंगू पलोएइ ॥ ८ ॥ अन्नाहि सवत्तीहि य, पलोइओ सायरं पियंगू वि। पभणइ धन्ना सच्चिय, नारी जीसे वरो एसो ॥ ९ ॥ अह अन्नया कयाई, सुजायवेसं करित्तु सा रमई। अन्नाण सवत्तीणं, मज्झे तव्वयणचेट्ठाहिं ॥ १० ॥ एत्थावसरे मंती, समागओ निज्झुणंति कलिऊणं। सणियं उवसप्पेउं, कवाडछिड्डेण पिच्छेइ ॥ ११ ॥ अंतेउरं समग्गं, दट्ठुं सोउं च तस्स वावारं। चिंतेइ मणे नूणं, विणट्ठमेयं परं भिन्ने ॥ १२ ॥ रहसे होही सहरं, ता छन्नं चेव अच्छउ इमं ति। कुविएण सुजायम्मी, कूडे लेहे नरवइस्स ॥ १३ ॥ दंसित्तु कोवमुप्पा–इऊण लोगाववायभीएण। लेहं समप्पिऊणं, विसज्जिओ सो अमच्चेणं ॥ १४ ॥ नयरीए अक्खुरीए, चंदज्झयराइणो

समीवंमि । पत्तो य तत्थ दिट्ठो, रन्ना तो चिंतियं एवं ॥ १५ ॥ अच्छउ ता वीसत्थो, मारेयव्वो इमो उवाएणं । एगत्थ रमंतेणं, नाऊणं तस्स आयारं ॥ १६ ॥ परिचिंतियमणेणं, किह रूवं एरिसं विणासेमि ? । उस्सारित्ता सव्वं, कहेइ लेहं च दरिसेइ ॥ १७ ॥ भणियं च सुजाएण वि, जं जाणसु तं तुमं करेह त्ति । न तुमं मारेमि अहं, पच्छन्ने नवरमच्छाहि ॥ १८ ॥ इय भणिऊणं रन्ना, चंदजसानामिया निया भगिणी । तयदोसदूसियतणू, दिन्ना अह भोगदोसेणं ॥ १९ ॥ वड्ढेउं आरद्धो, तयदोसो सो सुजायदेहे वि । ईसीसि§ संकंतो, तो सा चिंतइ नियमणे एवं ॥ २० ॥ एसो मम धम्मगुरू, निरुवमसोहग्ग-संपयासहिओ । मज्झ कएण विणट्ठो, धिरत्थु !!! मे कामभोगाणं ॥ २१ ॥ संवेगसमावन्ना, पच्चक्खइ जावजीवमाहारं । मरिउं जाओ देवो, सम्मं निज्ञामिया तेणं ॥ २२ ॥ ओहिं पउंजिऊणं, समागओ वंदिउं भणइ भणसु । किं ते करेमि ? सो वि हु, तिव्वं संवेगमावन्नो ॥ २३ ॥ चिंतइ अम्मापियरो, जइ पेच्छं पव्वयामि तो नूणं । तब्भावं नाऊणं, देवेण तओ सिला विउला ॥ २४ ॥ नयरप्पमाणमित्ता, विउव्विया नायरा तओ भीया । धूयकडुच्छय+हत्था, पायावडिया पजंपंति ॥ २५ ॥ भो भो ! खमेउ सो जस्स, किंचि अम्हेहिं चिट्ठियं ×दुट्ठं । देवो भासेइ तओ, हा दासा !! कत्थ वच्चेह ? ॥ २६ ॥ पावेण अमच्चेणं, सुसावओ दूसिओ अकज्जेणं । चूरेमि अज्ज तुब्भे, नवरं जइ तं समाणेह ॥ २७ ॥ *खामेयह तो छुट्टह, पुट्ठो सो †कत्थवं पलोएणं । उज्ञाणगओ चिट्ठइ, कहिओ देवेण तो झत्ति ॥ २८ ॥ नागरजणसहिएणं, रन्ना गंतूण खामिओ

---

§ " सी " भां. । " से " प्र० । + " °कडुच्छुय " अ । " °कडच्छुय " प. ह. क. य. । × " दुट्ठं " भां. अ. । " दुट्ठु " प्र० । * " खामेहह " प. ह. क. । † " कत्थ तं " अ । " कत्थ चं " प. ह. क. य. ।

तत्थ । सो वि हु अम्मापियरो, रायाणं तह य पुच्छेउं ॥ २९ ॥ पव्वइओ तो पच्छा, अम्मापियरो वि काउमणवज्जं । पवज्जं पत्ताइं, सिद्धिपयं विगयसव्वभयं ॥ ३० ॥ मंती वि धम्मघोसो, निव्विसओ कारिओ नरिंदेण । निव्वेयं आवन्नो, अहो !!! मए पावकम्मेणं ॥ ३१ ॥ अच्चंतदारुणेसुं, आसीविससंनिभेसु भोगेसु । लुद्धेण इमं विहियं, ति निग्गओ हिंडमाणो उ ॥ ३२ ॥ रायगिहे संपत्तो, थेराणं अंतिए य पव्वइओ । गीयत्थो वि य जाओ, विहरंतो तो गओ भगवं ॥ ३३ ॥ वारत्तपुरं नगरं, तत्थाऽभयसेणराइणो तणओ । वारत्तओ अमच्चो, तस्स गिहे भिक्खवेलाए ॥ ३४ ॥ संपत्तो जा चिट्ठइ, ता दाणनिउत्तऽमच्च-मणुएणं । पायसथालं भरियं, उवणीयं महुघयसणाहं ॥ ३५ ॥ पडिओ य तओ बिंदू, छड्डियदोसो त्ति निग्गओ साहू । ओलोयणोवविट्ठो, दट्ठुं वारत्तओ एवं ॥ ३६ ॥ किं कारणं? न गहिया, अणेण मुणिणा इमा पवरभिक्खा । इय जा चिंतइ ता तत्थ, मच्छियाओ निलीणाओ ॥ ३७ ॥ ताओ घरकोइलिया, पिच्छइ तं सरड तं पि मज्जारो । तं पच्चंतियसुणओ, तं पि य वत्थव्वगो सुणओ ॥ ३८ ॥ ते कलहंते दट्ठुं, उवट्ठिया तेसि सामिणो तेसिं । जाया मारामारी, बाहिं च विणिग्गया तत्तो ॥ ३९ ॥ पाहुणगा वि हु सबलं, पिंडित्ता आगया पुणो तत्थ । तेसिं भंडंताणं, जाओ य महाऽऽहवो पच्छा ॥ ४० ॥ वारत्तगो विचिंतइ, एएणं कारणेण नो गहिया । भिक्खा मणोहरा वि हु, तओ य सुहभावजोगेणं ॥ ४१ ॥ जायं जाईसरणं, संबुद्धो देवयाए उवगरणं । उवणीयं सव्वं पि हु, जाओ वारत्तगो समणो ॥ ४२ ॥ विहरंतो य कमेणं, संपत्तो सुंसुमारनयरंमि । तहिं धुंधुमाररन्नो, अंगारवइत्ति नामेणं ॥ ४३ ॥ धूया समत्थि सा वि हु, सुसाविया वायनिज्जिया तीए । परिव्वाइया पओसं, आवन्ना चिंतए एवं ॥ ४४ ॥ पाडेमि सवत्तिजणे, एयं पंडिचगव्वियं तत्तो । चित्तफलए लिहित्ता,

पज्जोयनिवस्स उवणीया ॥ ४५ ॥ दट्ठुं पज्जोएणं, तीसे रूवं मणोहरं दूरं । पुट्ठाए तीए कहियं, दूयं पेसेइ सो ताहे ॥ ४६ ॥ गंतूण तेण कहियं, वयणं पज्जोयराइणो तणयं । देहि नियं मे धूयं, अवाहि वा जुज्झसज्जो त्ति ॥ ४७॥ तो धुंधुमाररन्ना, इय सोउं कोवपूरियमणेणं । सो निच्छूढो गंतुं, सविसेसं कहइ नियरन्नो ॥ ४८ ॥ तो आसुरुत्तचित्तो, सव्वेण बलेण आगओ तुरियं । वेढेइ सुंसुमारं, नयरं अह धुंधुमारो वि ॥ ४९ ॥ अप्पाणं अप्पबलं, इयरं च महाबलं कलेऊणं । भयभीओ मज्झगओ, पुच्छइ नेमित्तियं किं पि ॥ ५० ॥ सो वि निमित्तनिमित्तं, चच्चरमज्झंमि गंतु मेसेइ । डिंभाणि ताणि तत्तो, भीयाणि पलायमाणाणि ॥ ५१ ॥ नागघरमज्झपरिसं–ठियस्स वारत्तगस्स पासंमि । पत्ताणि तओ सहसा, मा बीहह तेण भणियाणि ॥५२॥ नेमित्तिएण रन्नो, कहियं तुज्झं जओ न संदेहो । वीसत्थाणं उवरिं, पडिओ गंतूण मज्झण्हे ॥ ५३ ॥ गहिऊणं पज्जोओ, नीओ नयरीए मज्झभागंमि । उत्तमपुरिसो एसो, अंगारवई तओ दिन्ना ॥५४॥ नयरं हिंडंतेणं, अप्पबलं धुंधुमाररायाणं । दट्ठुं पज्जोएणं, अंगारवई तओ भणिया ॥ ५५ ॥ भद्दे ! तुह जणएणं, अप्पबलेणं कहं अहं गहिओ । सा साहइ मुणिवयणं, गओ य सो साहुमूलंमि ॥ ५६ ॥ भणमाणो नेमित्तिय–खमणं वंदामि सो य उवउत्तो । आपवज्जं पेच्छइ, चेडगसं वइयरं नवरं ॥ ५७ ॥ ×इत्यलं प्रसंगेनेति गाथार्थः ॥ ९२ ॥

इत्युक्ता उद्गमोत्पादनाग्रहणैषणादोषाः, साम्प्रतं तु त एव यत्प्रभवास्तद्दर्शनार्थं ग्रासैषणादोषसङ्ख्याप्रतिपादनार्थं चाऽऽह–

दी०—एपु च 'विषमेषु' प्रथमतृतीयादिभङ्गेषु भक्तादि गृह्यते, पश्चात्कर्मादिदोषरहितत्वात् । अथ छर्दितमुच्यते यद-

× " तओ सम्मं निरइयारं, अणुट्ठाणं काऊण काले सिद्धो त्ति " श्रीचन्द्रीयवृत्तौ ।

शनादि 'भवत्परिशाटिं' भूमौ पतत्तदवयवं 'तदि'ति तस्मिंश्च-दातुः कराद्भूमौ पतति सति 'कायाः' पृथिव्यादिजीवसमूहा, विराध्यन्त इति गम्यते। 'पतिते च' भूमिगते मधुबिन्दूदाहरणं, यथा-कश्चिद्धर्मघोषाख्यो मन्त्री गृहीतव्रतो विहरन् वारित्तकपुरं जगाम, तत्र वारित्तकमन्त्रिगृहे भिक्षार्थं गतो, दीयमानमधुघृतान्वितपायसादधोमुखमधुबिन्दुपातदर्शनादोषमन्वेष्य निर्गतः। तच्च गवाक्षस्थो वारित्तको (मन्त्री) विलोक्य कुतो भिक्षा न गृहीता ? इति यावच्चिन्तयति तावत्तत्र भूपतितमधुबिन्दुके मक्षिकायोगाद्गृहकोकिला तद्योगात्सरटस्ततो मार्जारस्तं प्रति प्राघूर्णकः श्वा धावितस्तदनु वास्तव्यः श्वा, तयोः कलहे तत्स्वामिनोर्विरोधादन्योऽन्यं सङ्ग्रामोऽभूत्, ततो वारित्तकेन चिन्तितं-अहो!! अनेनैव कारणेन मुनिना भिक्षा न जगृहे, धन्यः स इति शुभभावयोगाज्जातजातिस्मरणो देवताऽर्पितसाधूपकरणः स्वयम्बुद्धो जात इति गाथार्थः ॥ ९२ ॥

इत्युक्तदोषनिगमनं ग्रासैषणादोषांश्च प्रस्तावयन्नाह—

इय सोलस सोलस दस, उग्गमउप्पायणेसणादोसा। गिहिसाहूभयपभवा, पंच उ+गासेसणाइ इमे ।९३।

व्याख्या—इत्येवं पूर्वोक्तस्वरूपाः षोडश षोडश दश च प्रतीतरूपाः, यथाक्रममुद्गमस्योक्तरूपस्यैवमुत्पादनाया ग्रहणैषणायाश्च ये 'दोषा' दूषणानि, ते यथासङ्ख्यं गृहिसाधूभयप्रभवा-दायकयतितद्द्वितयसमुत्था भवन्तीति शेषः। तत्र गृहिप्रभवा उद्गमदोषा, गृहिणा प्रायेण तेषां क्रियमाणत्वात्, साधुसमुत्था उत्पादनादोषाः, साधुनैव तेषां विधीयमानत्वात्, गृहिसाधुजन्या ग्रहणैषणादोषाः, शङ्कितदोषस्य साधुभावापरिणतदोषस्य च साधुजन्यत्वाच्छेषाणां च गृहिप्रभवत्वादिति,

+ " घासे० " अ. य.।

एवं विधिना गृहीतस्याऽप्याहारस्य विधिनैव ग्रासः कार्य इति ग्रासैषणादोषानाह–'पंच उ' पञ्च पुनर्दोषाः, स्युरिति गम्यते, क्वेत्याह–ग्रसनं ग्रासो–भोजनं, तद्विषया 'एषणा' शुद्धाशुद्धपर्यालोचना, तस्यामिमे–एतेऽनन्तरमेव वक्ष्यमाणा इति गाथार्थः॥९३॥

तानेवाऽऽह—

दी०—इत्येवं षोडश षोडश दश सङ्ख्या यथाक्रमं उद्गमोत्पादनैषणादोषाः गृहिसाधुतदुभयप्रभवाः स्पष्टा भवन्तीति शेषः । एवं द्विचत्त्वारिंशद्दोषरहितस्याप्याहारस्य विधिनैव ग्रासः कार्य इत्याह–पञ्च 'तु' पुनर्ग्रासैषणायां दोषा 'इमे' वक्ष्यमाणाः स्युरिति गाथार्थः ॥ ९३ ॥ तानेवाह—

संजोयणा[1] पमाणे[2], इंगाले[3] धूमे[4]-ऽकारणे[5] पढमा । वसहिबहिरंतरे वा, रसहेउं दव्वसंजोगा ॥ ९४ ॥

व्याख्या—संयोजनं संयोजना, रसगृद्ध्या गुणान्तरोत्पादनाय द्रव्यान्तरमीलनं, सा क्रियमाणा ग्रासैषणादोषः स्यात्तथा 'प्रमाणं' कवलादिभिर्भोजनपरिमाणं, तच्चाऽतिक्रम्यमाणं भोजनदोषो भवेत् । तथा चारित्रेन्धनस्याऽङ्गारस्येव करणमिति विग्रहे +कारिते पुंसि संज्ञायां घे च कृते भवत्यङ्गार× इति । चारित्रेन्धनस्य धूमवत इव करणमिति विग्रहे कारिते घे मतुब्लोपे च स्याद्धूम* इति, चारित्रेन्धनस्य धूमायमानतेत्यर्थः । अनयोश्च दोषत्वं प्रतीतमेव । तथा 'कारणं' भोजनहेतुः,

---

+ अङ्गारशब्दस्याग्रे कारितः । × अङ्गारं करोति तद्व[तच्च व]ति तदाचष्टे इन् कारि अङ्गारयतीति घे [कृते] स्यादङ्गार इत्यर्थः । * धूमो विद्यते यस्य स तथावन्तः, धूमवन्तं करोतीति "मन्तु-वन्तु-विनां लुक्चे ति वन्तलोपः" इति "लिङ्गस्ये"त्यादिनाऽन्त्यस्वर-लोपः, धूमयतीति धुमः । वे धूमः सिद्ध्यति । इति टिप्पणानि अ. पुस्तके ।

एतस्य दोषत्वमनाश्रीयमाणत्वात् । अथ संयोजनादोषव्याख्यानायाऽऽह–प्रथमा–ऽऽद्या संयोजनेत्यर्थो वसते–रुपाश्रयाद्बहि–र्बहिस्ताद्भिक्षाटन इत्यर्थः, अन्तरे वा–वसतिमध्ये वेति अथवा रसहेतो–र्विशिष्टास्वादनिमित्तं द्रव्याणां–दुग्धदध्योदनादीनां 'संयोगो' मीलनं तस्मिन्सति संयोजना, भवतीति पूर्वेण योगः, तत्र बहिर्भक्तपानसंयोजना–भिक्षामटतो दुग्धदध्यादिलाभे गुडादिप्रक्षिपतोऽन्तर्भक्तपानसंयोजना पुनः–पात्रे मुखे च स्यात्तत्र पात्रे मण्डकगुडघृतादि संयोज्य भक्षयत, एतान्येव मुखप्रक्षेपेण संयोजयतो मुखसंयोजना, पिण्डप्रस्तावाच्चैवमुच्यते, अन्यथा उपकरणं गवेषयत एव साधोश्चोलपट्टकाद्यवाप्तौ विभूषाप्रत्ययमन्तरकल्पं याचित्वा परिभुञ्जानस्य बहिरुपकरणसंयोजना, वसतौ चाऽऽगत्य तथैव परिभुञ्जानस्याऽन्तरुपकरण-संयोजनेत्याद्यपि द्रष्टव्यमिति । इह च रसहेतोरिति विशेषणेन कारणतः संयोजनायामपि न दोष इत्यावेदयति, यदाह—

"रसहेउं संजोगो, पडिसिद्धो कप्पए गिलाणट्ठा । जस्स व अभत्तछंदो, सुहोचिओऽभाविओ जो य ॥१॥"

सुगमा, नवरं–यस्य चाऽऽहारेऽरुचिस्तथा यः शुभाहारोचितो राजपुत्रादिर्यश्च साधूचिताहारेणाऽभावितस्तस्य संयोगोऽनुज्ञात इति गाथार्थः ॥ ९४ ॥ अथाऽऽहारप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—

दी०—'संयोजना' रसगृद्ध्या गुणान्तरार्थं द्रव्यान्तरसंयोजनं १, अप्रमाणं मानमतिक्रम्य भोजनं २, 'अङ्गार' इति चारित्रेन्धनस्याङ्गारस्येव करणात् ३, 'धूम'त्ति चारित्रेन्धनस्य धूमवत इव करणं, वन्तुलोपाद्धूम ४, अकारणं–भोजनहेत्वनाश्रयणं ५, एतद्व्याख्यामाह–एषु पञ्चसु प्रथमा संयोजना स्याद् 'वसते'रुपाश्रया'द्बहि'र्भिक्षाटने रसहेतोर्विशिष्टास्वादनार्थं 'द्रव्यसंयोगाद्' दुग्धादौ गुडादिक्षेपात् 'वा' अथवा 'अन्तरे' वसतेर्मध्ये पात्रे मुखे च तथा करणात्, पिण्डप्रस्तावादिदमत्रोक्तं,

ग्रासैषणादोषपञ्चकोद्देस्तत्र च संयोजनायाः स्वरूपम् ।

परतस्तूपकरणादीनामपि ज्ञेयं, रसहेतोरिति भणनादुग्लानादिकारणतः संयोजनायामपि न दोष इति गाथार्थः ॥ ९४ ॥

अथाहारप्रमाणाख्यमाह—

धिइबलसंजमजोगा, जेण ण हायंति संपइ पए वा । तं आहारपमाणं, जइस्स सेसं किलेसफलं ॥९५॥

व्याख्या—'धृतिश्च' चित्तस्वास्थ्यं-मनःसमाधानमित्यर्थः 'बलं च' शारीरः प्राणः 'संयमयोगाश्च' चरणकरणव्यापारा-धृतिबलसंयमयोगाः 'येन' यावन्मात्रेण द्वात्रिंशत्कवलादिनाऽऽहारेण, भुक्तेनेति गम्यते । 'न' नैव 'हीयन्ते' हानिमुपगच्छन्ति, कदेत्याह-'सम्प्रति' तदैव-तद्दिन एवेत्यर्थः 'प्रगे' वा प्रभाते-द्वितीयदिन इत्यर्थः, वेत्यथवा, तत्तावन्मात्र'माहारप्रमाणं' भोजनमानं, विज्ञेयमिति गम्यते, कस्येत्याह-'यतेः' साधोः, सूत्रे च कुक्कुट्यण्डकमात्रकवलापेक्षमेवमाहारमानमभिधीयते-

"बत्तीसं किर कवला, आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ । पुरिसस्स महिलियाए, अट्ठावीसं भवे कवला ॥१॥"

नपुंसकस्य चतुर्विंशतिः । उदरभागापेक्षं त्वेवं—

"अद्धमसणस्स सव्वं-जणस्स कुज्जा दवस्स दो भागा । वाउपवियारणट्ठा, छब्भागं ऊणगं कुज्जा ॥१॥"

'सेसं'ति पुनः शब्दाध्याहाराच्छेषं पुनरायोपायकुशलतया सम्यगाकलितात् संयमव्यापारनिर्वाहहेतोः स्वदेहस्वभावानुगुणादाहारमानादन्यदतिबहुप्रभृतिकं, किमित्याह-'क्लेशफल'मैहिकामुष्मिकदुःखपरम्पराजनकमिति गाथार्थः ॥ ९५ ॥

कुतः शेषं क्लेशफलमित्याह—

दी०—'धृति'र्मनःस्वास्थ्यं 'बलं' शारीरिकं 'संयमयोगा'श्चरणकरणव्यापारास्ते 'येन' यावन्मात्रेण भुक्तेन नैव हीयन्ते

'सम्प्रति' तदेव अथवा 'प्रगे' द्वितीयदिना(न्तरा)रम्भे तत्तावन्मात्रमाहारप्रमाणं यतेः स्यात्, सूत्रे कुर्कुट्यण्डकप्रमाणाः पुरुषस्य द्वात्रिंशत्कवलाः स्त्रियोऽष्टाविंशतिर्नपुंसकस्य चतुर्विंशतिरुक्तास्तत्रापि—

"अद्धमसणस्स सव्वं-जणस्स कुज्जा दवस्स दो भागे। वायपवियारणट्ठा, छब्भागं ऊणयं कुज्जा ॥१॥"

इतः 'शेषं' संयमनिर्वाहहेतुदेहानुगुणाहारमानादन्यदतिबहुप्रभृतिकं 'क्लेशफलं' ऐहिकामुष्मिकदुःखजनकमिति गाथार्थः ॥९५॥

कुतः शेषं क्लेशफलं ? इत्याह—

जेणऽइबहु अइबहुसो, अइप्पमाणेण भोयणं भुत्तं। हादिज्ज व वामिज्ज व, मारिज्ज व तं अजीरंतं ॥९६॥

व्याख्या—येन कारणेना'ऽतिबहु'पूर्वोक्तस्वप्रमाणाधिकं, आकण्ठमित्यर्थः, तथा'अतिबहुशो'ऽतिबहून्वारान्, वारत्रयमित्यर्थः, तथा'अतिप्रमाणेन' वारत्रयोल्लङ्घनलक्षणेन करणभूतेनाऽतृप्यता वा साधुना कर्त्रा भोजन-मशनादिकं भुक्त-मभ्यवहृतं, किं कुर्यादित्याह-'हादयेद्वा' पुरीषनिसर्गाधिक्यं कारयेद्वा 'वामये'च्छर्दिं कारये'न्मारयेद्वा' प्राणत्यागं कारयेद्वाशब्दा विकल्पार्थाः, किं तदित्याह-तदतिबहुकादिभोजनं कर्तृ, किंविशिष्टं सदित्याह-'अजीर्यत्' परिणाममगच्छत्, तस्मात्प्रमाणयुक्तमेव भोक्तव्यं, तस्यैव गुणावहत्वाद्यदाह—

"अप्पाहारस्स न इं-दियाइँ विसएसु संपयट्टंति। नेव किलम्मइ तवसा, रसिएसु न मुज्झए या वि ॥१॥"

तथाहि—"हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा। न ते विज्जा चिगिच्छंति, अप्पाणं ते चिगिच्छगा ॥२॥"

'हिताहाराः'देहस्वभावानुकूलभोजनाः'मिताहाराः'प्रमाणोपेतभोजनाः'अल्पाहाराः'प्रमाणप्राप्तादपि हीनतराहारा इति गाथार्थः।

ग्रासैषणा-दोषपञ्चके आहार-प्रमाणम्।

अथाङ्गार-धूमलक्षणं दोषद्वयं व्याचिख्यासुराह—

दी०—येन कारणेन 'बहु' पूर्वोक्तस्वप्रमाणाधिकमाकण्ठमित्यर्थः, अतिबहुशो—बहून् वारान् 'अतिप्रमाणेन' वारत्रयोल्लङ्घनादिना अतृप्यता वा साधुना भोजनं भुक्तं सत् किं कुर्याद् ? इत्याह—ह्रादयेत् पुरीषाधिक्येन, वामयेच्छर्दिकाकरणेन, मारयेत्प्राणत्यागेन, 'वा' शब्दा विकल्पार्थाः । तद्भुक्तं कथम्भूतं ? 'अजीर्यत्' परिणाममगच्छदिति गाथार्थः ॥ ९६ ॥

अथाङ्गारधूमाख्ये आह—

अंगारसधूमोवम-चरणिंधणकरणभावओ जमिह । रत्तो दुट्ठो भुंजइ, तं अंगारं च धूमं च ॥९७॥

व्याख्या—अङ्गारसधूमे प्रतीते, तदुपमस्य—तथाविधासारतासाधर्म्यात्तत्सदृशस्य 'चरणेन्धनस्य' चारित्रेन्धसः 'करणभावा'न्निर्वर्त्तनसद्भावाद्यं मनोज्ञामनोज्ञमाहारं भुङ्क्ते, साधुरिति योगः । 'इह' जैने प्रवचने, किंविशिष्टः सन्नित्याह—'रक्तः' प्रेमवान् 'द्विष्टश्च' द्वेषवान्, इह चशब्दोऽध्याहार्यः । 'भुङ्क्ते'ऽभ्यवहरति, साधुरिति गम्यते, तमाहारं यथाक्रममङ्गारं चा—ङ्गारमिति ब्रुवते 'धूमं च' धूममिति ब्रुवते । अयमर्थः—यमाहारं साधुः सुन्दरमिति कृत्वा रक्तः सन् भुङ्क्ते, तमिह प्रवचनेऽङ्गारोपमचरणेन्धनकरणभावादङ्गारमित्याचक्षते, यं चाऽसुन्दरमिति कृत्वा द्विष्टोऽभ्यवहरति, तं सधूमोपमचरणेन्धनकरणभावाद्धूममिति, आह च—"तं होइ सइंगालं, जं आहारेइ मुच्छिओ संतो । तं पुण होइ सधूमं, जं आहारेइ निंदंतो ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ ९७ ॥

अथ कारणद्वारं व्याचिख्यासुराह—

दी०—अङ्गारसधूमे प्रतीते 'तदुपमस्य' तथाविधासारतया तत्तुल्यस्य 'चरणेन्धनस्य' चारित्रेन्धसः 'करणभावात्'

निर्वर्त्तनायोगाद्यमाहारमिह-जिनागमे साधुर्भुङ्क्ते 'रक्तो' मनोज्ञमिति प्रेमवान् 'द्विष्टो'ऽमनोज्ञमिति द्वेषवान्, तत् किं? तद्यथाक्रममङ्गाराख्यं च धूमाख्यं च स्यादिति गाथार्थः ॥ ९७ ॥ अथ षोढा कारणाख्यमाह—

छुहवियणावेयाव-च्चेसंजमसुज्झाणपाणरक्खट्ठा। इरियं च विसोहेउं, भुंजे न उ रूवरसहेउं ॥ ९८ ॥

व्याख्या—इह च क्षुद्वेदनादिपदानां द्वन्द्वं कृत्वा रक्षार्थमिति पदेन प्रत्येकं सम्बन्धः कर्त्तव्यः, ततश्च क्षु-द्बुभुक्षा, तस्यास्तद्रूपा वा 'वेदना' पीडा क्षुद्वेदना 'तद्रक्षार्थं' तन्निवारणानिमित्तं, यदाह—"**नत्थि छुहाए सरिसिया, वियणा भुंजेज्ज तप्पसमणट्ठ**त्ति"। तथा वैयावृत्त्य-माचार्यादिप्रतिचरणं, तद्रक्षार्थं-तद्धानिवारणार्थं, आह च "**छाओ वेयावच्चं, न तरइ काउं अओ भुंजे।**" 'छाओ' त्ति 'प्सातो' बुभुक्षित इत्यर्थः, तथा 'संयमः' प्रत्युपेक्षणाप्रमार्जनादिलक्षणः साधु-व्यापारस्तत्पालनार्थं, बुभुक्षित एनं कर्तुं न शक्नोतीति कृत्वा, तथा शोभनं ध्यानं सुध्यानं-सूत्रार्थानुचिन्तनादिलक्षणं शुभचित्तप्रणिधानं, एतदपि बुभुक्षितः कर्तुं न शक्नोतीति, तथा 'प्राणा' जीवितं, तेषां रक्षार्थं-परिपालनानिमित्तं, ईर्यां वा-ईर्यासमितिं, वेत्यथवा 'विशोधयितुं' निर्मलीकर्त्तुं, बुभुक्षितो हि श्यामललोचनत्वादितस्तां तथा कर्त्तुं न शक्नोतीति, किं कुर्यादित्याह-'भुञ्जीत' भोजनं कुर्यात् 'न तु' न पुना 'रूपं च' शरीरलावण्यं 'रसश्च' भोजनास्वादो रूपरसौ, तद्धेतो-स्तन्निमित्तं, बलवर्णादिनिमित्तं रसगृद्ध्या च न भुञ्जीतेत्युक्तं भवतीति गाथार्थः ॥ ९८ ॥

अथाऽन्यान्यप्यजेमनकारणानि प्रतिपादयन्नाह—

दी०—'क्षुद्वेदना' बुभुक्षापीडा १, वैयावृत्त्यं दशधा प्रतीतं २, संयमः प्रत्युपेक्षणप्रमार्जनादिलक्षणः ३, सुध्यानं-सूत्रा-

र्थानुचिन्तनादौ प्रणिधानं ४, प्राणा–जीवितं, एतेषां रक्षार्थं ५, ईर्यां च–गमनमार्गं विशोधयितुं ६, साधुर्भुञ्जीत–अश्नीयान्न रूपरसहेतोर्देहादिसौन्दर्यविशिष्टास्वादायेति गाथार्थः ॥ ९८ ॥   अजेमनकारणान्यपि षडेवाह—

अहव न जिमेज्ज रोगे[1], मोहुदए सयणमाइउवसग्गे[3] । पाणिदयातवहेउं, अंते तणुमोयणत्थं च ॥९९॥

व्याख्या–'अथवा' यद्वा 'न' नैव जेमे-दश्नीयात्साधुरिति गम्यते, केत्याह–'रोगे' ज्वराक्षिरोगाजीर्णाद्यातङ्के सञ्जाते सति, अभोजनस्य रोगनिवर्त्तनोपायत्वाद्, यदाह—सहसुप्पन्नं वाहिं, अट्ठमेणं निवारए" तथा "बलाविरोधिनिर्दिष्टं, ज्वरादौ लङ्घनं हितम् । ऋतेऽनिलश्रमक्रोध–शोककामक्षतज्वरान् ॥ १ ॥" तथा 'मोहस्य' पुरुषादिवेदलक्षणस्य 'उदये' विपाकप्राबल्ये, तपसो मोहोपशमहेतुत्वाद्, यदाह—"विषया विनिवर्त्तन्ते, निराहारस्य देहिनः ।" इति । तथा 'स्वजनादीनां' मातृपितृकलत्रनृपप्रभृतीनां 'उपसर्गे' प्रव्रज्यामोचनादिलक्षणे उपद्रवे, ते हि तपस्यन्तं साधुमवलोक्य तन्निश्रयावगमान्मरणादिभीतेर्वोपसर्गकरणाद्विनिवर्त्तन्ते, तथा 'प्राणिदया च' सत्त्वरक्षणं, तपश्च चतुर्थादिलक्षणं प्राणिदयातपसी, तद्धेतोस्तन्निमित्तं,अयमर्थः–पानीये महिकायां वा निपतन्त्यां प्रभूतश्लक्ष्णमण्डूकिकादिसत्त्वसमाकुलायां वा भूमौ तत्तज्जीवसंरक्षणार्थं भिक्षाऽटनादि न कुर्यात्, एतच्चोपोषितस्यैव निर्वहति, तपोऽपि चाऽभुञ्जानस्यैव भवतीति । तथा'अन्ते' पर्यन्ते–मरणकाल इत्यर्थः । 'तनुमोचनार्थं' संयमपालनासमर्थदेहपरित्यागनिमित्तं, चशब्दो 'न जेमे'दिति क्रियाऽनुकर्षणार्थ इति गाथार्थः ॥९९॥

अथ ग्रन्थोपसंहारमत्रानुक्तार्थातिदेशं च कुर्वन्नाह—

दी०—'अथवा' यद्वा न जिमेत्, क ? 'रोगे' ज्वराक्षिरोगाजीर्णाद्यातङ्के १, तथा मोहस्य–पुरुषादिवेदलक्षणस्योदये–

विपाकप्राबल्ये २, तथा स्वजनादीनां—मातृपितृपुत्रकलत्रप्रभृतीनां 'उपसर्गे' प्रव्रज्यामोचनाद्युपद्रवे ३, तथा प्राणिदया—वृष्ट्यां महिकापाते सूक्ष्ममण्डूकिकादिसत्त्वाकुलायां वा भूमौ जीवरक्षा ४, तपश्चतुर्थादि 'तद्धेतो'स्तयोर्निमित्तं ५, तथा 'अन्ते' मरणकाले 'तनुमोचनार्थं' संयमाक्षमदेहत्यागाय ६ चेति गाथार्थः ॥ ९९ ॥ अथ ग्रन्थार्थमुपसंहरन्नाह—

इय तिविहेसणादोसा, लेसेण जहागमं मएऽभिहिया। एसु गुरुलहुविसेसं, सेसं च मुणेज्ज सुत्ताओ॥१००॥

व्याख्या—'इति' एवं पूर्वोक्तप्रकारेण त्रिविधा चाऽसौ गवेषण-ग्रहण-ग्रासभेदादेषणा च—शुद्धाशुद्धपिण्डविचारणा, तस्यां 'दोषा' आधाकर्म-धात्रीत्व-शङ्कित-संयोजनादिलक्षणानि दूषणान्यभिहिता इति योगः, कथमित्याह—'लेशेन' संक्षेपेण 'यथागमं' आगमस्यानतिक्रमेण—पिण्डनिर्युक्त्यादिग्रन्थानुसारेणेत्यर्थः, अनेन चाऽस्य प्रकरणस्य प्रामाण्यमाह। 'मया' कर्त्रा 'अभिहिताः' प्रतिपादिताः। 'एसु'त्ति चकाराध्याहारादेषु च दोषेषु 'गुरुलघुविशेषं' कस्कोऽत्र दोषो गुरुः कस्कश्च लघुरित्येवंविधं प्रकारं 'शेषं च' अन्यच्च यदत्र नोक्तं पिण्डविचारसम्बद्धं नामादिन्यास-दृष्टान्त-भङ्गक-विस्तरविचारणादिकं शय्यातरराजपिण्डोपाश्रय-वस्त्रपात्रगतदोषादिकं च, तत्किमित्याह—'मुणेज्ज' त्ति जानीयास्त्वं हे श्रोतः! कस्मादित्याह—'सूत्रा'दागमात्तत्र सर्वगुरु मूलकर्म, तस्माच्चाऽऽधाकर्मिकं कर्मौद्देशिकचरमत्रिकं मिश्रान्त्यद्विकं बादरप्राभृतिका सप्रत्यपायाऽभ्याहृतं लोभपिण्डोऽनन्तकायाव्यवहितनिक्षिप्तपिहितसंहृतमिश्रापरिणतछर्दितानि संयोजना साङ्गारं वर्त्तमानभविष्यन्निमित्तं चेति लघवो दोषाः, मूलप्रायश्चित्ताच्चतुर्थतपो वत्। एतेभ्यः कर्मौद्देशिकाद्यभेदो मिश्रप्रथमभेदो धात्रीत्वं दूतीत्वमतीतनिमित्तमाजीवनापिण्डो वनीपकत्वं बादरचिकित्साकरणं क्रोधमानपिण्डौ सम्बन्धिसंस्तवकरणं विद्यायोगचूर्णपिण्डाः प्रकाशकरणं द्विविधं द्रव्यक्रीतमात्मभावक्रीतं लौकि-

कम्रामित्यपरावर्त्तिते निष्प्रत्यपायपरग्रामाभ्याहृतं पिहितोद्भिन्नं कपाटोद्भिन्नमुत्कृष्टमालापहृतं सर्वमाच्छेद्यं सर्वमनिसृष्टं पुरःकर्म पश्चात्कर्म गर्हितम्रक्षितं संसक्तम्रक्षितं प्रत्येकाव्यवहितनिक्षिप्तपिहितसंहृतमिश्रापरिणतच्छर्दितानि प्रमाणोल्लङ्घनं सधूममकारण-भोजनं चेति लघवश्चतुर्थादाचाम्लमिव । एतेभ्योऽप्यध्यवपूरकान्त्यभेदद्वयं कृतभेदचतुष्टयं भक्तपानपूतिकं मायापिण्डोऽनन्त-कायव्यवहितनिक्षिप्तपिहितादीनि मिश्रानन्ताव्यवहितनिक्षिप्तादीनि चेति लघवः, आचाम्लादेकभक्तमिव । एतेभ्योऽप्यौघो-द्देशिकमुद्दिष्टभेदचतुष्टयमुपकरणपूतिकं चिरस्थापितं प्रकटकरणं लोकोत्तरं परावर्त्तितमपमित्यं च परभावक्रीतं स्वग्रामाभ्याहृतं दर्दरोद्भिन्नं जघन्यमालापहृतं प्रथमाध्यवपूरकः सूक्ष्मचिकित्सा गुणसंस्तवकरणं मिश्रं कर्दमेन लवणसेटिकादिना च म्रक्षितं, पिष्टादिम्रक्षितं किञ्चिद्दायकदुष्टं प्रत्येकपरम्परस्थापितादीनि च मिश्रानन्तरस्थापितादीनि चेति लघवः, एकभक्तात्पुरिमार्धमिव। एतेभ्योऽपि चेत्वरस्थापितं सूक्ष्मप्राभृतिका सस्निग्धसरजस्कम्रक्षितं प्रत्येकमिश्रपरम्परस्थापितादीनि चेति लघवः, पुरिमार्धा-न्निर्विकृतिकमिव । इत्ययं सामान्यतो गुरुलघुविशेषो, विशेषतस्तु सूत्रादेवाऽवसेयः (इति गाथार्थः+) ॥ १००* ॥

अथ शय्यातरपिण्डविचारणा—

सागारिओ त्ति को पुण, काहे वा कइविहो +य से पिंडो। असिज्जायरो व काहे, परिहरियव्वो य सो कस्स ।१।
दोसा वा के तस्स, कारणजाए व कप्पए कम्मि। जयणाए वा काए, एगमणेगेसु घेत्तव्वो ॥ २ ॥

अस्य गाथाद्वयस्य व्याख्या—'सागारिकः' शय्यातरस्तत्र सहाऽगारेण—साधुयोग्यगृहेण वर्त्तत इति सागारः, स एव

+ भ. प्रतावेवैतद्वाक्यं। * अ. भ. प्रत्योरेवात्राङ्कविन्यासः। + "°विहो वि सो पिंडो" भां०। "°विहो वि से पिंडो" अ।

सागारिकस्तथा शय्यां तद्गतसाधून् वा संरक्ष्य तद्दानेन वा संसारसागरं तरतीति शय्यातरः १ । कः पुनरसौ ?, उच्यते-य उपाश्रयस्य प्रभुस्तत्सन्दिष्टो वा, तेषु चाऽनेकेषूत्सर्गतः सर्वेऽपि वर्जनीयाः, अनिर्वाहे तु परिपाट्यैकैको वर्जनीयः, यदा चोपाश्रयसङ्कीर्णत्वकारणेन भिन्नोपाश्रयेषु वसन्ति, तदाऽपि सर्वानपि वर्जयितुमशक्नुवन्त आचार्यशय्यातरं वर्जयन्त्येवेति २ । कदा वा ?-कुतः कालात्प्रभृति शय्यातरो भवतीत्यर्थस्तत्रोच्यते-प्रत्यूषावश्यके कृते स्वापे वा विहिते, यदाह—

"जइ जग्गंति सुविहिया, करेंति आवस्सगं च अन्नत्थ । सेज्जायरो न होई, सुत्ते व कए व सो होइ ॥१॥"३॥

कतिविधश्च तस्य पिण्डः स्यात्तत्रोच्यते-अशन-पान-खादिम-स्वादिम ४ वस्त्र-पात्र-कम्बल-रजोहरण ४ सूची-पिप्पलक-नखरदन-कर्णशोधन ४ भेदाद्द्वादशविधः, यदाह—

"असणाईया चउरो, पाउँछणवत्थपत्तकंबलयं । सूइछुरकन्नसोहण-नहरणिया सागरियपिंडो ॥ १ ॥"

तृणादिस्तु न भवति, यदाह-

"तणडगलछारमल्लग-सेज्जासंथारपीढलेवाई । सेज्जायरपिंडो सो, न होइ सेहो य सोवहिओ ॥ २ ॥४"

अशय्यातरो वा कदा भवति ?, तत्रोच्यते-निर्गमनकालाद्दिनमेकं वर्जयन्ति, ततः परमशय्यातरो भवति, यदाह-"वुच्छे वज्जंतऽहोरत्तं" । आदेशान्तरेण तु दिनद्वयादिति,

"सूरत्थमणे दिणनि-ग्गयाण सूरोदए असागरिओ । अत्थमियनिग्गयाणं,बारसजामा उ सागरिओ ॥१॥"त्ति।

तथा परिहर्त्तव्यश्च स कस्येत्यत्रोच्यते—

" लिंगत्थस्स उ वज्जो, तं परिहरओव्व भुंजओ वा वि। जुत्तस्स अजुत्तस्स व, रसावणो तत्थ दिट्ठंतो ॥१॥"

अस्या भावार्थः-लिङ्गस्थस्य यः शय्यातरस्तस्य पिण्डो वर्ज्यः, तं-शय्यातरपिण्डं परिहरतो वा भुञ्जानस्य वाऽपि, तथा युक्तस्य श्रामण्यगुणैरयुक्तस्य [वा] तैरेव, अत्र 'रसापणो' मद्यविपणिस्तस्य+ दृष्टान्तो यथा—किल महाराष्ट्रविषये ×कल्पपालापणेषु मद्यं भवतु वा मा वा तथापि ध्वजो बध्यते, तं च दृष्ट्वा सर्वेऽपि भिक्षाचरादयः परिहरन्ति, अभोज्यमिति कृत्वा, एवमत्राऽपि यस्य धर्मध्वजो दृश्यते तस्य शय्यातरो वर्जनीय इति ६। दोषा वा के ? तस्य पिण्डे गृह्यमाण इत्यत्र कथ्यते—तीर्थकरनिषिद्धत्वादयो बहवः, यदाह—

" तित्थयरपडिकुट्ठो, अन्नायं उग्गमो वि न य सुज्झे। अविमुत्ति अलाघवया, दुल्लहसेज्जा य वोच्छेओ ॥१॥"

अस्यार्थः-तीर्थकरैराद्यान्तिममध्यमविदेहजिनैः 'प्रतिकुष्टः' स्वसाधूनां तदाश्रयस्थानामन्याश्रयस्थानां वा निषिद्धः शय्यातरपिण्डः, यदाह—

"पुरपच्छिमवज्जेहिं, अविकम्मं जिणवरेहिं लेसेणं। भुत्तं विदेहएहि य, न य सागरियस्स पिंडो उ ॥१॥"

'लेसेने' ति यस्यैवैकस्य कृते कृतं तस्यैवैकस्य न कल्पते, शेषसाधूनां तु कल्पत एवेत्यंशेनेति १। कस्मादेवमित्याह—'अज्ञातस्या'ऽविदितस्य *राजादिप्रव्रजितत्वेन यद्भैक्षं तदज्ञातमुच्यते, तदेव च प्रायः साधुना ग्राह्यं, "अन्नायउंछं चरई

+ नास्त्ययं शब्दो भाण्डारकरीयातिरिक्तासु प्रतिकृतिषु। × सर्वास्वपि प्रतिकृतिषूपलभ्यते "कलपाल" इति, अभिधाचिन्तामणौ तु "कल्यपालः सुराजीवी" इत्यस्ति। * "प्रव्रजितो नृपादिर्भिक्षार्थं यस्य गृहे प्रविष्टो न प्रत्यभिज्ञायते, तस्य सम्बन्धि"। इति टि॰ अ॰।

विसुद्धं"इति वचनात्, तच्चाऽऽसन्ननिवासादतिपरिचयेन ज्ञातस्वरूपतया शय्यातरगृहे पिण्डं गृह्णतो यतेर्न शुद्ध्यतीति योगः २। तथा 'उद्गमः' कल्पनीयभक्तादिभवनमपि, चेति समुच्चये 'न शुद्ध्यति' न शुद्धो भवति शय्यातरपिण्डग्रहणे सति,कथं ?
"बाहुल्ला गच्छस्स उ, पढमालियपाणगाइकज्जेसु । सज्झायकरणआउ-ट्टियाइ करे उग्गमेगयरं ॥ १ ॥" ३ ।

तथा 'अविमुक्तिः' सलोभता, तद्वशाच्छय्यातरकुलस्याऽमोचनं, आह च—

" भावे उक्कोसपणी-यगेहिओ तं कुलं न छड्डेइ । ण्हाणाईकज्जेसु य, गओ वि दूरं पुणो एइ ॥ १ ॥ " ४ ।

तथाऽविद्यमानं 'लाघवं' लघुता यस्य स तथा, तस्य भावोऽलाघवता, तत्र विशिष्टाहारलाभेनोपचितत्वाच्छरीरालाघवं, शय्यातरात् तत्परिचितजनाच्चोपधिलाभादुपधेरनल्पतया तदलाघवमिति, उदाहरणं चाऽत्र—एकस्य साधोः शय्यातरेण कम्बलकानि प्रदत्तानि, तत्प्रत्ययाच्च तत्पुत्रभ्रात्रादिभिश्च कम्बलकाद्युपकरणं तस्मै वितीर्णं, ततश्चाऽसौ प्रचुरोपकरणप्रतिबन्धाद्भारभयाच्च न विहरति, इतश्च दैवयोगाद्दुर्भिक्षे जाते शय्यातरेण चिन्तितं—यथाऽयं वयं चाऽत्र मरिष्यामस्ततः केनाऽप्युपायेनैनं विसर्जयामि सुभिक्षदेशान्तर इति, ततो बहिर्भूमौ गते तस्मिन् सर्वमुपकरणं निष्कास्याऽन्यत्र सङ्गोप्य च प्रदीप्तस्तदुपाश्रयः, आगतस्य चार्पितानि भाजनानि शेषमुपकरणं दग्धमिति निवेद्य। ततोऽसौ प्रस्थितो देशान्तरं भणितश्च शय्यातरेण—सुभिक्षे पुनरिहाऽऽगन्तव्यमिति । आगतश्चाऽसौ सुभिक्षे जातेऽर्पितं च सर्वमुपकरणमित्येवं शय्यातरपिण्डग्रहणेऽलाघवं भवतीति । तथा दुर्लभा-ऽसुलभा शय्या च—वसतिः कृता भवति, येन किल शय्या देया तेनाऽऽहाराद्यपि देयमित्येवं गृहिणां भयोत्पादनात्, अत्राप्युदाहरणं—एकस्य गृहपतेर्गृहे पञ्चशतिकः साधुगच्छः स्थितवान्, तस्य च साधवः प्रतिदिनं भिक्षार्थं व्रजन्तः शय्यातर-

गृहे प्रथममेव (*कारणतो) भिक्षां गृह्णन्ति, कालेन च स निर्धनो जातस्ततश्च तैः साधुभिर्गतैरन्ये समागतास्तैरपि तत्पार्श्वे सैव वसतिर्याचिता, +स प्राह—अस्ति मे वसतिः, केवलं निर्धनोऽहमिदानीं, नाऽस्ति प्रथमभिक्षादानयोग्यं किमपीत्यतो न वसतिं दास्यामीति। साधुभिरुक्तं—शय्यातरभिक्षाऽस्माकं न कल्पतेऽतो देहि शय्यां, स (×च पूर्वसाधुवचनाभिसंस्कृतमतिः) प्राह—असमद्गृहाद्रिक्तभाजना निर्गच्छन्तो भवन्तोऽमङ्गलं स्युरतो न दास्यामीति, ततस्तं प्रज्ञाप्य कष्टेन गृहीतेति, एवं दुर्लभा शय्या भवतीति। तथा 'व्यवच्छेदो' विनाशो दानभयाच्छय्यायाः शय्यातरेण क्रियते, वसत्यभावाद्भक्तपान-शिष्यादेर्वा व्यवच्छेदः स्यादिति। अथैते दोषाः प्रायः पिण्डान्तरग्रहणेऽपि समानाः, अतः कोऽत्र भावार्थः? इत्यत्रोच्यते—

"पडिबंधनिराकरणं, केई अन्नेऽगिहीयगहणस्स। तस्साउंटणमाणं, एत्थऽवरे बेंति भावत्थं ॥ १ ॥"

प्रतिबन्धनिराकरणं—साधुशय्यातरयोर्योऽत्यन्तोपकार्योपकारकभावेन स्नेहस्तन्निरासं, केचिदाचार्या, भावार्थं ब्रुवन्तीति योगः। अन्ये पुनराचार्या अगृहीतग्रहणस्य—साधुभिरस्वीकृतभक्तादिदातव्यद्रव्यस्य शय्यातरस्याऽऽकुण्टन—मावर्जनमहो !! निःस्पृहा एतेऽतो वसत्यादिदानतः पूज्या इति भावोत्पादनात्। तथा 'आज्ञां' आप्तोपदेशं, अत्र—शय्यातरपिण्डपरिहारे 'अपरे' अन्ये 'ब्रुवन्ति' आहु'र्भावार्थं' तात्पर्यमिति सप्रसङ्गं दोषद्वारं ७। तथा तस्य पिण्डः कस्मिन् कारणजाते कल्पते? तत्रोच्यते—

"दुविहे गेलन्नंमी, निमंतणे दव्वदुल्लभे असिवे। ओमोयरियपओसे, भएण गहणं अणुन्नायं ॥ १ ॥"

द्विविधं ग्लानत्वं—अत्यागाढमनागाढं च, तत्राऽत्यागाढे क्षिप्रमेव प्रायोग्य‡द्रव्यग्रहणं कर्त्तव्यं, अनागाढे त्वन्यत्रालाभ

* शब्दोऽयं भां. अ.प्रतिकृत्योरेव। + "स तान्प्रत्याह—" य०। × केवलं भां० प्रतावेवायं पाठः। ‡ "प्रायोग्यग्रहणं" प० अ० ह० क०।

एवेति। निमन्त्रणेऽपि तदभिमुखं वक्तव्यं–कार्ये ग्रहीष्यामः, न पुन'र्न कल्पत' इति ब्रुवते, यदाह—"कज्जंमि छंदिया+ घे–त्थिमो त्ति न य बेंति उ अकप्पं"ति। निर्बन्धे च प्रसङ्गनिषेधयतनया गृह्णन्त्यपि। दुर्लभद्रव्ये च घृतादावन्यत्राऽलभ्यमाने ग्लानादिकारणे ग्रहणमनुज्ञातं, तथा "ओमऽसिवे पणगाइसु, जइऊणमसंथरे गहणं।" तथा प्रद्वेषो राजादेः, तत्र च "उवसमणट्ठपदुट्ठे, सत्थो वा जा न लब्भए ताव। अच्छंता पच्छन्नं, गिण्हंति भए वि एमेव॥ १॥" चौरादिसम्बन्धिनि ८। यतनाद्वारमप्यत्रैव भावितं, यद्वा—"तिक्खुत्तो सक्खित्ते, चउदिसिं मग्गिऊण गीयत्थो। दव्वंमि दुल्लभंमी, सेज्जायरसंतिए गहणं॥ १॥" इति यतनाद्वारव्याख्यानम् ९। एवमेकमाश्रित्योक्तं, यत्राऽप्यनेके पितृपुत्रादयः शय्यातरा भवन्ति तत्राऽपि यावन्तः स्वामिनस्तत्सन्दिष्टा वा, सर्वेऽप्यनुज्ञापनीयाः‡ यो वा तन्मध्येऽनतिक्रमणीयवचनो भवति, तस्यैव च पिण्डो वर्जनीयः, भद्रकप्रान्तादिदोषाच्छेषाणामपि १०।

इति लेशतः शय्यातरपिण्डविचारो, विस्तरतस्तु ग्रन्थान्तरादवसेयः। अथ राजपिण्डविचारोऽयं—

"मुइयाइगुणो राया, अट्ठविहो तस्स होइ पिंडो त्ति। पुरिमेयराणमेसो, वाघायाईहिं पडिकुट्ठो॥ १॥"

मुदितादिगुण, आदिशब्दान्मूर्धाभिषिक्तादिपरिग्रहो, यदाह—

"मुदिओ मुद्धऽभिसित्तो,§सुइओ जो होइ जोणिसुद्धो×उ। अभिसित्तो इयरेहिं,सयं व भरहो जहा राया॥१॥"

+"छिंदिया" प० ह० क० य०। "छंदिया–निमन्त्रिताः" इति पर्यायः अ०। ‡ "पृच्छनीयाः।" इति पर्यायः अ०
§ "मुइओ" ह० क० प० य० भां०। × "मातृपक्ष–पितृपक्षशुद्धः" इति पर्यायः अ०।

ग्रन्थोपसंहारे शय्यातर-राजपिण्ड-विचारणा।

'राजा' नृपस्तत्र च मुदितो मूर्द्धाभिषिक्तश्चेत्यादि*चतुर्भङ्गी, तत्र प्रथमो दोषाभावेऽपि वर्जनीयोऽसावितरेषु तु दोषसम्भव एवेति । 'अष्टविधो'ऽष्टभेदस्तस्य–राज्ञो भवति 'पिण्डो' भैक्षं, तद्यथा—

"असणाईया चउरो, वत्थं पायं च कंबलं चेव । पाउंछणगं च तहा, अट्ठविहो रायपिंडो उ ॥ १ ॥"

'पूर्वेतराणा'मादिमान्तिमजिनसाधूनां'एष'राजपिण्डो व्याघातादिभिर्दोषैः 'प्रतिक्रुष्टो' निषिद्धो जिनैस्तथाहि—

"ईसरपभिईहिं तहिं, वाघाओ खद्धलोहुदाराणं । दंसणसंगो गरहा, इयरेसि न अप्पमायाओ ॥ १ ॥"

'ईश्वरप्रभृतिभि'र्युवराजादिभिरादिशब्दात्तलवरमाडम्बिकादिपरिग्रहः, तलवरश्च राज्ञ उत्थासनिको बद्धपट्टः, माडम्बिकस्तु संनिवेशविशेषनायकस्तैः प्रविशद्भिर्निर्गच्छद्भिश्च सपरिकरैस्तस्मिन्–राजकुले 'व्याघातः' स्खलना साधोस्तत्र प्रवेशस्य निर्गमस्य वा, अत एव भिक्षास्वाध्यायकार्याणामपि स्यात्,अमङ्गलबुद्ध्या हननं वा कोऽपि कुर्यात्सम्मर्दात्कायपात्राणां भङ्गो वा स्यात्, तथा 'खद्ध'त्ति प्रचुरेऽन्नादौ लभ्यमाने यो 'लोभो' लुब्धता स खद्धलोभः, स च तत्र स्यात्ततश्चैषणाप्रेरणं स्यात्, तथा 'उदाराणां'उदारदेहानां हस्त्यश्वस्त्रीपुरुषादीनां 'दर्शने'ऽवलोकने 'सङ्गो'ऽभिष्वङ्गो–दर्शनसङ्गः स्यात्, ततश्चाऽऽत्मविराधनादयः स्युः, तथा चारिक-चोरा-भिमर-कामुकादिसम्भावनया राजकोपात्कुलगणसङ्घाद्युपघातः स्यात्, तथा 'गर्हा' निन्दा, यथाऽहो राजप्रतिग्रहमेते गर्हणीयमपि स्वीकुर्वन्ति, गर्हणीयता च तस्य स्मार्त्तैरेवमुच्यते,—

"राजप्रतिग्रहदग्धानां, ब्राह्मणानां युधिष्ठिर ! । स्विन्नानामिव बीजानां, पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १ ॥"

---

* "मुदितो मूर्द्धाभिषिक्तश्च १, मुदितो न मूर्द्धाभिषिक्तः २, मूर्द्धाभिषिक्तो न मुदितः ३, न मुदितो न मूर्द्धाभिषिक्तः ४।" इति पर्यायः अ० ।

अथवाऽनभिष्वङ्गा यतयो भवन्ति, एते त्वदृष्टकल्याणवत्कथं गजवाज्यादिषु सङ्गं कुर्वन्तीत्येवंरूपा। अथैते दोषा मध्यमजिनसाधूनामपि सम्भवन्तीति कथं तेषां तस्य ग्राह्यताऽपीत्यत आह–'इतरेषां' मध्यमजिनसाधूनां 'न' नैवैते दोषा भवन्ति, कुत ? 'अप्रमादात्' प्रमादाभावाद्धेतोस्ते हि ऋजुप्राज्ञत्वाद्विशेषेणाप्रमादित्वेनोक्तदोषपरिहारसमर्था भवन्ति, इतरे तु ऋजुजड-वक्रजडत्वेन न तथेति राजपिण्डविचारः। तथा शय्याऽपि पिण्डवद्दोषरहितैव सेव्या, यदाह—

"मूलुत्तरगुणसुद्धं, थीपसुपंडगविवज्जियं वसहिं। सेविज्ज सव्वकालं, विवज्जए होंति दोसा उ ॥ १ ॥"

तत्रेयं मूलगुणैरशुद्धा वसतिर्यथा—

"पट्ठीवंसो दो धा–रणी उ चत्तारि मूलवेलीओ। मूलगुणे हुववेया, एसा उ अहागडा वसही ॥ १ ॥"

'पृष्ठिवंशो' मध्य×वलको 'द्वे धारण्यौ' द्वे बृहद्वेल्यौ यत्प्रतिष्ठो*ऽसावेव, चतस्रो मूलवेल्यो याश्चतुर्षु गृहस्य पार्श्वेषु क्रियन्ते, एते सप्ताऽपि मूलगुणास्तैश्च साधुमाधाय कृतैर्युक्ता मूलगुणैरुपेता†, एषा त्वियं पुनराधाय कृता वसतिराधार्मिकीत्यर्थः। उत्तरगुणाश्च द्विविधा भवन्ति–मूलोत्तरगुणा उत्तरोत्तरगुणाश्च, तत्रैते मूलोत्तरगुणाः—

"वंसगकडणुक्कंवण–छायणलेवणदुवारभूमी य। सप्परिकम्मा वसही, एसा मूलुत्तरगुणेसुं ॥ १ ॥"

अत्र वृद्धव्याख्या—'वंसग'त्ति दण्डकाः 'कडणं'ति' कटकादिभिः कुड्यकरणं 'उक्कंबण'त्ति दण्डगोवरि ओलवणं+ 'छायणं'ति' दर्भादिनाऽऽच्छादनं 'लेवणं'ति' चिक्खल्लेन कुड्याण लिंपणं 'दुवार'त्ति' गृहद्वारस्य बाहल्यकरणमन्यस्य वा

× "वलको" य.। "वस्यूको" भां.। * "यत्प्रविष्टो" य.। † "°रुपपेता" प. ह. क.। + "दण्डकोपर्युल्लपनं" भां०।

विधानं 'भूमि'त्ति' भूमिकम्मं विसमाए समीकरणं ति वुत्तं होइ, एसा सपरिकम्मा वसही 'मूलुत्तरगुणेसु'त्ति मूलभूतो-त्तरगुणेष्वित्यर्थः। एते च पृष्टिवंशादयश्चतुर्दशाऽप्यविशोधिकोटिः, इमे पुण उत्तरोत्तरगुणा विसोहिकोडि+विसया-वसहीए उवघायकरा।

"दूमियंधूवियंवासियं-उज्जोवियं बलिकडा अवत्ता य। सित्ता सम्मट्ठा वि य, विसोहिकोडिं गया वसही॥१॥"

अत्राऽपि वृद्धव्याख्या-'दूमिय'त्ति उल्लाइया-सेटिकादिभिः संसृष्टेत्युक्तं भवतीति। 'धूविय'त्ति दुग्गंध त्ति काउं अगुरुमाईहिं सुगंधी कया। 'वासिय'त्ति पटवासकुसुमादिभिरपनीतदुर्गन्धभावा। 'उद्योतिता' रत्नप्रदीपादिभिः प्रकाशिता। 'बलिकड'त्ति कृतकूरादिबलिविधाना। 'अवत्त'त्ति छगणमृत्तिकाभ्यां जलेन चोपलिप्तभूमितला। 'सित्ता' केवलोद-केनाऽऽर्द्रीकृता। 'सम्मृष्टा' प्रमार्जिता, साध्वर्थायेति सर्वत्र प्रक्रमः। 'विसोहिकोडिं गया वसहिं'त्ति अविशोधिकोटौ न भवतीत्युक्तं भवति, एतदनुसारतस्तु चतुःशालादिष्वपि मूलोत्तरगुणविभागो विज्ञेयः, यदाह—

"चाउस्सालाईए, विन्नेओ एवमेव उ विभागो। इह मूलाइगुणाणं, सरूवा पुण सुण न जं भणिओ॥१॥"

"विहरंताणं पायं, समत्तकज्जाण जेण गामेसु। वासो तेसु य वसही, पट्ठाइजुया तओ तासिं॥२॥"

ततस्तासां वसतीनां साक्षाद्धणनमकारीति, अन्ये चाऽमी सामान्यतो वसतिदोषाः—

"कालाइक्कंतुव-ट्ठाणा अभिकंता अणभिकंता य। वज्जा य महावज्जा, सावज्ज महऽप्पकिरिया य॥१॥"

+"॰कोडिट्ठियवस॰" पु॰ क॰। "॰कोडिट्ठिया वस॰" इ॰।

ऋतुबद्धे वर्षासु वा यत्र वसतौ स्थितास्तत्रैव मासे चातुर्मासिके वा पूर्णेऽपि तिष्ठतां कालातिक्रान्ता भवति, ऋतुबद्धे यत्र मासकल्पो विहितस्तत्रैव वसतौ मासद्वयं, वर्षासु च यत्र चतुरो मासान् स्थितास्तत्रैवाऽष्टौ मासानपरिहृत्य यदि समागच्छन्ति तदोपस्थाना स्यात् , यदाह—

"उउ-वासा समईया, कालाईया उ सा भवे सेज्जा। सच्चेव उवट्ठाणा, दुगुणादुगुणं अवज्जेत्ता ॥ १ ॥"

अन्ये प्रतिपादयन्ति—यत्र वर्षाकालं स्थितास्तत्र यदि वर्षाकालद्वयमन्यत्र कृत्वा समागच्छन्ति तत उपस्थानदोषवती शय्या न भवतीति कल्पचूर्णिः। तथा यावदर्थिकार्थं विहिता शय्या यावत्का, सा यद्यन्यैश्चरकादिपाषण्डिभिर्गृहस्थैर्वा निषेविता भवति, तदनन्तरं च संयताः प्रविशन्ति, तदाऽभिक्रान्तेत्युच्यते, सैवाऽन्यैरपरिभुक्ता सती साधुभिः सेव्यमानाऽनभिक्रान्तेति। तथाऽऽत्मार्थं कृतां साधुभ्यो दत्त्वा स्वार्थमन्यां कुर्वतो गृहस्थस्य वर्ज्येति, यदाह—

" अत्तऽट्ठकडं दाउं, जईण अन्नं करेइ वज्जा उ। जम्हा तं पुव्वकडं, वज्जेइ तओ भवे वज्जा ॥ १ ॥"

तथा श्रमणब्राह्मणादीनां पाषण्डिनामर्थाय कृता महावर्ज्या, तथा पञ्चानां श्रमणानामर्थाय कृता सावद्या, तथा जैनसाधूनामर्थाय कृता महासावद्येति, आह च—

"पासंडकारणा खलु, आरंभो अहिणवो महावज्जा। समणट्ठा सावज्जा, महसावज्जा य साहूणं ॥ १ ॥"

तथा या पूर्वोक्तकालातिक्रान्तादिदोषाष्टकवर्जिता स्वार्थं जिनबिम्बप्रतिष्ठार्थं वा कारिता धवलधूपनाद्युत्तरगुणवर्जिता च, साऽल्पक्रिया—शुद्धेत्यर्थः। अल्पशब्दस्याऽभाववाचकत्वाद्यदाह—

"जा खलु जहुत्तदोसे-हिँ वज्जिया कारिया सयट्ठाए। परिकम्मविप्पमुक्का, सा वसही अप्पकिरियां उ ॥१॥"

तथा स्त्र्यादिरहितैव शय्या सेवनीया, सा चेयं—

"थीवज्जियं वियाणह, इत्थीणं जत्थ ठाणरूवाणि। सद्दा य न सुव्वंती, ता वि य तेसिं न पेच्छंति ॥१॥"

तत्र स्थानस्वरूपमिदं—

"ठाणं चिट्ठंति जहिं, मिहो कहाईहिँ नवरमित्थीओ। ठाणे नियमा रूवं, सिय सद्दो जेण तो वज्जं ॥१॥"

स्यात्कदाचिच्छन्दो न भवत्यपि विप्रकृष्टे, येन एवं ततो वर्ज्यं स्थानं, अवर्जने त्वमी दोषाः—

"बंभवयस्स अगुत्ती, लज्जानासो य पीइवुड्ढी य। साहुतवो वणवासो !!, निवारणं तित्थहाणी य ॥१॥"

तत्र हि ब्रह्मव्रतस्याऽगुप्तिर्भवति, प्रतिषिद्धवसतिनिवासात्, लज्जानाशश्च भवत्यसकृद्दर्शनेन प्रीतिवृद्धिश्च भवति, जीव-स्वाभाव्यात्, साधुतपो वनवास !! इति लोके गर्हा, निवारणं तद्द्रव्यान्यद्रव्याणां, तीर्थहानिर्लोकाप्रवृत्त्येति। तथा स्थाने रूपे चाऽमी दोषाः साधूनां स्युर्यथा—

"चंकमियं ठियं मो-ट्टियं च विप्पेक्खियं च सविलासं। सिंगारे य बहुविहे, दट्ठुं भुत्तेयरे दोसा ॥ १ ॥"

'मोट्टियं' किलिकिञ्चितं-रमितमित्यर्थः 'भुत्तेयरे'त्ति' भुक्ताभुक्तभोगयोर्दोषाः स्मृतिकुतूहलादयः। तथा साध्वा-लम्बनाः स्त्रीणामप्यमी दोषाः स्युर्यथा—

"जल्लमलपंकियाण वि, लावन्नसिरी उ जहेसि देहाणं। सामन्ने वि सुरूवा, सयगुणिया आसि गिहवासे ॥१॥"

जल्लमलपङ्कितानामपि-बहलमलदिग्धानामपीति भावः, लावण्यश्रीर्यथैषां साधूनां श्रामण्येऽपि सुरूपा तथैवमहं मन्ये-शतगुणा आसीद्गृहवास इति। तथा स्त्रीशब्दविषया यतीनामिमे दोषा भवेयुर्यथा—

"गीयाणि य पढियाणि य, हसियाणि य मंजुले य उल्लावे। भूसणसद्दे राह-स्सिए य सोऊण जे दोसा॥१॥"

साधुशब्दविषयास्तु स्त्रीणामप्यमी दोषा उत्पद्यन्ते, यथा—

"गंभीरमहुरफुडविसय-गाहगो सुस्सरो सरो जहेसिं। सज्झायस्स मणहरो, गीयस्स णु केरिसो होइ? ॥१॥"

'गम्भीरो' महा'न्मधुरः' कोमलः 'स्फुटविशदो'ऽत्यन्तव्यक्ताक्षरः 'स्फुटविषयो'वा स्फुटार्थो 'ग्राहको'ऽक्लेशेनार्थबोधकः, एतेषां कर्मधारयः, तथा 'सुस्वरो' +मालवकोशिकादिप्रधानस्वरानुरञ्जितः 'स्वरो' ध्वनिर्यथा-अमीषां स्वाध्यायस्याऽपि मनोहरो, गीतस्य, नु इति वितर्के, कीदृशो भवतीति। "एवं परोप्परं मो-हणिज्जदुव्विजयकम्मदोसेणं। होइ दढं पडिबंधो, तम्हा तं वज्जए ठाणं ॥ १ ॥" तथा—

"पसुपंडगेसु वि इहं, मोहानलदीवियाण जं होइ। पायमसुहा पवित्ती, पुव्वभवऽब्भासओ तह य ॥ १ ॥"

"तम्हा जहुत्तदोसे-हिँ वज्जियं निम्ममो निरासंसो। वसहिं सेविज्ज जई, विवज्जए आणमाईणि ॥ २ ॥"

इति वसत्यधिकारः।

तथा वस्त्रमपि पिण्डवद्दोषदुष्टं वर्जनीयं, तद्दोषाश्च प्रायस्तद्वदेवाऽवबोद्धव्याः, विशेषस्तु कश्चिदुच्यते-इह तावद्वस्त्रमेकेन्द्रिय-

+"मालवकौशकादि" अ.। मालवदेशकादि" प.य.। "मालववेशिकादि" ह.। "मालावकैशिकादि" क.। मालावकोशिकादि" प्र०।

विकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियावयवनिष्पत्तिभेदात्रिविधं भवति। तत्रैकेन्द्रियावयवनिष्पन्नं कार्पासिकादि, विकलेन्द्रियावयवनिष्पन्नं कौशेयकादि, ऊर्णादिमयं तु तृतीयं, अत्र कारणग्राह्यं कौशेयकादि। एतदपि जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदात्प्रत्येकं त्रिविधं, तत्र जघन्यं–मुखपोतिकादि, मध्यमं चोलपट्ट-पटलकादि, उत्कृष्टं प्रच्छदादि, एतदपि पुनः प्रत्येकं यथाकृता-ल्प बहुपरिकर्मभेदा-त्रिधा भिद्यते, एतेषु च गृह्णद्भिः पूर्वं यथाकृतं ग्राह्यं, सर्वोपाधिविशुद्धत्वात्तस्य, तदलाभे चाल्पपरिकर्म ग्राह्यं, स्तोकदोषत्वात्त-स्य, तस्याभावे बहुपरिकर्मापि ग्राह्यं, एतच्च सर्वमपि वस्त्रं गच्छगतैरेताभिश्चतसृभिः प्रतिमाभि–रेषणाभिरित्यर्थः, गवेषणीयम्।

"उद्दिट्ठ १ पेह २ अंतर ३ उज्झियधम्मा ४" इति। तत्रोद्दिष्टा–यद्गुरुसमक्षं स्वयं प्रतिज्ञातं जघन्यादिकमे-केन्द्रियावयवनिष्पन्नादिकं वा वस्त्रं, तदेव गृहिभ्यो याचमानस्य स्यादिति, १। प्रेक्षा नाम वस्त्रमवलोक्य ब्रवीति साधुर्यथा–भोः श्रावक! यादृशमिदं दृश्यते तादृशमिदं वा मे वस्त्रं देहि २। तृतीया तु परिधानवस्त्रं प्रावरणवस्त्रं वा शय्याया अधस्तनवस्त्रमुपरितनवस्त्रं वाऽन्यद्भोक्तुकाममग्रेतनं च मोक्तुमनसं दातारमत्राऽन्तरे याचमानस्येति ३। चतुर्थी पुनः स्वदेशं बहुवस्त्रदेशं वा गन्तुकामाः कार्पटिकादयो यदुज्झन्ति बहुवस्त्रदेशे वा यत्त्यक्तं लभ्यते, तद्याचितमयाचितं वा गृह्णतां स्यादिति ४। जिनकल्पिकास्त्वासां मध्यादुपरितनद्वयादन्यतरयैवाऽऽददते, न त्वाद्यद्वयेनेति। तत्पुनः केन विधिना गच्छ-वासिन उत्पादयन्ति? इति चेदुच्यते–यद्यस्य साधोर्वस्त्रं नास्ति स तत्प्रवर्त्तिसाधवे निवेदयति, सोऽपि च गुरुभ्यो, यथा–अमुकस्य साधोरमुकं वस्त्रं नाऽस्तीति। गच्छे चेयं सामाचारी, यदुताऽऽभिग्रहिकसाधवो भवन्ति यथाऽस्माभिर्वस्त्राणि पात्राणि वाऽन्येन वा येन केनचिद्वस्तुना साधूनां प्रयोजनं तदानेतव्यं, तत आचार्यस्तेभ्यो निवेदयति, यथा–हे आर्या! अमुकस्य

साधोरमुकं वस्त्रं नाऽस्तीति, अथ न सन्त्याभिग्रहीकास्ततः स एव भण्यते, यथा—त्वमेव स्वयोग्यं वस्त्रमुत्पादय, अथाऽसावशक्तस्ततो योऽन्यः समर्थस्तं गुरवो व्यापारयन्ति। अथ कस्मिन् काल उत्पादयन्तीति चेदुच्यते—सूत्रपौरुषीमर्थपौरुषीं च कृत्वा भिक्षार्थमेव हिण्डमाना उत्पादयन्ति। यदि च तदा न लभन्ते, ततो द्वितीयपौरुष्यामपि गवेषयन्ति, तथाप्यलाभे प्रथमायामपि मृगयन्ति। यद्येवमपि न लभन्ते, ततो भिक्षार्थं व्रजन्तः सर्वेऽपि सङ्घाटका व्यापार्यन्ते, ततस्तेऽपि याचन्ते, तथाऽप्यलाभे बहूनि वा वस्त्राण्युत्पादनीयानि, ततो 'वृन्दसाध्यानि कार्याणी'ति कृत्वा गीतार्था अगीतार्थसहिता वाऽऽचार्यं मुक्त्वा समुदायेनोत्तिष्ठन्ति, आचार्यस्तु यद्यपूर्वस्थानगृहचैत्यपरिपाटेरन्यत्र +वस्त्रार्थमेव गृहेषु हिण्डते ततः प्रायश्चित्तं प्राप्नोति। उपयोगं च युगपन्निषीदनोत्थानादिविधिना कुर्वन्ति, तत्र च चिन्तयन्ति—किं प्रमाणं वस्त्रं गृहीतव्यं? किं जघन्यं मध्यम-मुत्कृष्टं वा? अथवा किं यथाकृत-मल्पपरिकर्म बहुपरिकर्म वा? यद्वा कः प्रथमं याचितोऽवश्यं दास्यतीति। कायोत्सर्गं च यो ज्येष्ठो गीतार्थो लब्धिमाँश्च स प्रथमं पारयति, तथा 'यस्य च योग' इति× वचनोच्चारवेलायां 'यथाऽऽदिष्ट'मिति भाषते, तस्याऽभावे लघुरपि तादृश एव पारयति, स एव च पुरतो हिण्डते। गच्छन्तश्च दण्डकं भूमौ न स्थापयन्ति यावत्प्रथमो लाभः, वसत्यागमनं वा यावदित्यन्ये। इत्यादिविधिना च गृहं गतैरभावितश्रावको न याचनीयः, विपरिणामक्रीतादिदोषसम्भवात्, किञ्च—श्रावकाणामाचार एवाऽयं यदेषणीयमुद्धरितं स्वत एव प्रयच्छन्ति, यदाह—

"सड्ढुणं सइ विभवे, साहूणं वत्थमाइ दायव्वं। गुणवंताण विसेसो, तत्थ वि जेसिं न तं अत्थि ॥ १ ॥"

+ "चैत्यपरिपाटिनिमित्तं च गतस्य कश्चिद्वस्त्राणि ददाति तदा कल्पन्ते" इति टिप्पितं अ पुस्तके। × "इति योगवचनो°" अ० य०।

तस्माद्यान्यन्यानि भावितकुलानि, तेषु दानफल-दातृगुणवर्णनं वर्जयद्भिर्याञ्चा कर्तव्येति, गत्वा च वक्तव्यो यः प्रष्टु-र्यथा—'धर्मलाभो भोः श्रावक! एष साधुजनस्तव समीपमागत ईदृशैर्वस्त्रैः प्रयोजनमस्ती'ति। ततश्चाऽनुग्रहं मन्यमानेन तेन दर्शिते वस्त्रे भणितव्यं—'कस्य सम्बन्ध्येतद्वस्त्रं? किं वा आसीत्? किं वा भविष्यति? कुत्र वाऽऽसी'दिति याचनावस्त्रे प्रश्न-द्वयं विधेयं। तत्र कस्यैतत्प्रश्ने कथयत्येव प्राञ्जलभावो गृही, यथा—'भवदर्थं कृतं क्रीतं धौतं वेत्यादि, अमुकेन वा इहाऽऽनीय स्थापितं, येन तद्गृहे न गृह्णन्ति भवन्त' इत्यादि। ततश्च साधोरविशोधिकोटि-विशोधिकोटिपरिज्ञानं स्यात्तत्स्वरूपं चेदं—

"तणविणणसंजयट्ठा, मूलगुणा उत्तरा उ पज्जणया।" अस्य गाथादलस्य चूर्णिरियमर्थतः—वस्त्रनिष्पत्त्यर्थं यत्क्रियते, यथा—तानं परिकर्मणं वानं चैते मूलगुणा-अविशोधिकोटिरित्यर्थः, संयतार्थं करोति, ये निष्पन्नस्य क्रियन्ते, ते उत्तरगुणा-विशोधिकोटिरिति भावः, यथा—पज्जणं मोडणं +उप्पुंमणं धावनादयश्चैतान्वा संयतार्थं करोतीति। अत्र प्रेरकः—पज्जणं सज्जणं च उग्गमकोडिं इच्छइ तणणं विणणं च विसोहिकोडिं ति। अत्राऽऽचार्यो ब्रवीति—हे प्रेरक!

"अत्तट्ठयतंतूहिं, समणऽट्ठ×तओ अपाइय* वुओ य। किं सो न होइ कम्मं, फासूण वि पज्जिओ जो उ॥१॥"

'फासूण वि'त्ति, स्वार्थविहितेनाऽपीत्यर्थः।

"जइ पज्जणं तु कम्मं, इयरमकम्मं सकप्पऊ धोउ। अह धोओ वि न कप्पइ, तणणं विणणं च तो कम्मं॥२॥"

तथा पूर्वोपभुक्ते वस्त्रे दर्शिते प्रष्टव्यं—'किमेतदासीत्!'। ततो दाता ब्रवीति—'नित्यनिवसनं, यद्वा मज्जनवस्त्रं, यद्वा

+ "पुम्भः—निष्काशनमि"ति पर्यायः अ०। × श्रमणार्थं। * "अपाययित्वैव व्यूतः" इति पर्यायः अ०।

राजदौवारिकं, यद्वा उत्सववस्त्रमिदममुकस्ये'ति । अत्र यद्वस्त्रं दर्शितं, यदि तस्य सदृशं वहमानं चा×ऽन्यदप्यस्ति दातुस्ततो गृह्यते, अन्यथा ग्रहणे तु गृहयन्यमुत्पादयति क्रीणाति वा, अन्यच्च +वसानो देहस्य चीवरस्य* वा धूपनं कुर्यात् स्नानं वा कुर्यादित्यादिदोषजालं स्यात् । अथाऽपरिभुज्यमानं दर्शितं तत्र प्रष्टव्यं—किमेतद्भविष्यति ? क्व वा स्थाने इदमासीदिति । अत्राऽपि दाता यत्कथयति तत्समानापरवस्त्रे वहमानेऽवहमाने वा विद्यमान एव ग्रहणं कर्त्तव्यं, तदभावे तु त एवोत्पादनादयो दोषाः स्युः । एवं पृच्छाशुद्धं यदा कल्पनीयमिति निर्द्धारितं भवति, तदा द्वयोरप्यन्तयोर्गृहीत्वा सर्वतो निरीक्षणीयं, मा तत्र गृहिणां मणिर्वा सुवर्णं वाऽन्यद्वा रूपकादि द्रव्यं निबद्धं स्यात्ततः सोऽपि गृहस्थो भण्यते 'निरीक्षस्वैतद्वस्त्रं सर्वतः' । एवं च यदि तेन मण्यादि दृष्टं, ततो लष्टं, अथ न दृष्टं, ततः साधुरेव दर्शयति—'एनमपनये'ति । आह—गृहिणः कथिते कथमधिकरणं न भवति ?, उच्यते—कथिते स्तोकतर एव दोषोऽकथिते तु उड्डाहादिर्महान् स स्यादिति । तथा—

दे	आ	दे
मा	रा	मा
दे	आ	दे

" नवभागकप्पणाए, पढमं वत्थं करित्तु जोएंति । नाऊण फलविसेसं, गिण्हंती अहव वज्जंति ॥ १ ॥ "

" चत्तारि देवयाभागा, दुवे भागा य माणुसा । आसुरा य दुवे भागा, मज्झे वत्थस्स रक्खसो ॥ २ ॥ "

" अंजणखंजणकद्दम–लित्ते मूसगभक्खिय अग्गिविदड्ढे ।
तुन्नि य कुट्टिय पज्जव–लीढे होइ विवागु सुहो असुहो वा ॥ ३ ॥ "

× "चेदन्यदप्यस्ति" अ. । + "अन्यवस्त्रपरिधानं कुर्वन्" इति पर्यायः अ० । * "चीरस्य" प० ह० क० य० ।

"देवेसु उत्तमो लाभो, माणुसेसु य मज्झिमो। आसुरेसु य गेलन्नं, मज्झे मरणमाइसे ॥ ४ ॥"

एतेन च विधिना लब्धेषु वस्त्रेषु आगताः सन्तो गुरूणां समर्पयन्ति साधवः, ततो गुरवोऽपि यद्यस्य साधोर्वस्त्रं नाऽस्ति तत्तस्मै प्रयच्छन्ति, अथवा यावतां साधूनां दातुमिष्टानि तानि तावत्सु भागेषु समेषु क्रियन्ते, ततो यथाज्येष्ठं गृह्णन्तीति। तथा परिभोगकालेऽतिप्रमाणं वस्त्रं छिन्दानैर्मूलभागा न छेत्तव्या, अमङ्गलत्वादिति याचनावस्त्रविधिः। निमन्त्रणावस्त्रविधिरप्ययमेव, नवरं–उपयोगे "जस्स य जोगो"त्ति वक्तव्यं। तथा सङ्घाटकेन विनिर्गतः कस्मिन्नपि कुले प्रविष्टः सन्केनचित्प्रमदादिना दातृविशेषेण महता सम्भ्रमेण भक्तपानाभ्यां प्रतिलम्भ्य वस्त्रेण निमन्त्रित एवं प्रश्नयति, यथा–'कस्येदं ? किं वाऽऽसीद्भविष्यति वा ? कुत्र चाऽसीत् ? केन वा कारणेन मह्यं दीयते ? इति। यद्येवं न पृच्छति तदा पूर्वोक्तदोषा आज्ञाभङ्गादयश्च स्युः, तथा निमित्तादिप्रश्नबुद्ध्या प्रदत्ते वस्त्रे गृहस्थस्य निमित्तादिप्रश्ने तत्कथनाकथनादयो ये दोषाः सम्भवन्ति, तेऽपि स्युः। ततश्चाऽयमत्र भावार्थः–यदि कोऽपि मम पिताऽयं मम पितृसदृशो वाऽयमित्यादिपूर्वसम्बन्धेन, मम भ्राता-भर्ता-भ्रातृ-भर्तृसदृशो वाऽयमित्यादिपश्चात्सम्बन्धेन वा ददाति,अन्येन वा निमित्तादिप्रश्नपरिणामादिलक्षणेन कारणेन ददाति, तदा न ग्राह्यं, यदा तु यूयं धर्मे कृतमतयस्ततश्च धर्मार्थं सर्वारम्भप्रवृत्तैर्गृहिभिर्दातव्यमेवेत्यादिकारणेन ददाति, तदा ग्राह्यमेवेति वस्त्रविधिः।

तथा पात्रमप्येकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियावयवमयत्वभेदात्त्रिविधं भवति। तत्रैकेन्द्रियदेहनिष्पन्नं तुम्बकादि, विकलेन्द्रियशरीरनिर्वृत्तं शङ्खशुक्त्यादि, पञ्चेन्द्रियदेहावयवमयं कुतुप-दन्त-शृङ्गपात्रादि। अत्रौघतः प्रथममेव ग्राह्यं, तदपि तुम्बक–दारु–मृत्तिकापात्रभेदात्त्रिविधं, एतदपि प्रत्येकं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदात्त्रिविधमेव। तत्र जघन्यं उ(ओ)लङ्कादि मध्यमं

मात्रकमुत्कृष्टं पतद्ग्रहः। पुनरप्येकैकं त्रिविधं–यथाकृत-मल्पपरिकर्म-बहुपरिकर्म च। पूर्वपूर्वाभावे चेहोत्तरोत्तरं ग्राह्यं, एतदपि चतसृभिः प्रतिमाभिर्गवेषणीयं, ताश्चेमाः—"उद्दिट्ठ १ पेह २ संगय ३, उज्झियधम्मत्ति ४।" अत्र प्रतिमात्रयं प्राग्वन्नवरं–इह पात्राभिलापो वक्तव्यः। तृतीया पुनरेवं–"संगइयं वा वेजईयं वा" कस्याऽपि गृहिणः पात्रद्वयं भवति, स च तयोर्मध्यादेकैकस्मिन्दिन एकैकं वारकेण वाहयति। तत्र यद्वाहयति तत्साङ्गतिकं, यत्तिष्ठति तद्वेजयिकं, ईदृशं च कोऽपि साधुरभिग्रहविशेषाद्याचते। शेषविधिस्तु पात्रेऽपि यथासम्भवं वस्त्रवद्द्रष्टव्यः। तथा गृह्णन्नमुं विधिं प्रयुङ्क्ते—

"दाहिणकरेण कोणे, घेत्तुत्ताणेण वाममणिबंधे। खोडेइ तिन्नि वारे, तिन्नि तले तिन्नि भूमीए ॥१॥" तथा—

"तस-बीयादि व दट्ठुं, न गिह्णई गिह्णई य अदिट्ठे। गहणंमि उ परिसुद्धे, कप्पइ दिट्ठेहि वि बहूहिं ॥ २ ॥"

उत्तरार्धस्याऽयं भावार्थः–ग्रहणे परिशुद्धे पश्चाद्यदि बीजादीनि बहून्यपि पश्यति तथापि गृह्णात्येव, न पुनः परिष्ठापयति प्रत्यर्पयति वा पात्रं, किन्तु यतनया तान्येवा※ऽऽस्फेटयति–यत्र न विराध्यन्ते तत्र च क्षिपतीति। मूलोत्तरगुणविभागश्चाऽयमत्र–"मुहकरणं मूलगुणा, पाए× निक्कोरणं च इयरे उ"त्ति गाथादलं सुगममेव। किञ्च—

"उवगरणंपि धरेज्जा, जेण न रागस्स होइ उप्पत्ती। लोगंमि य परिवाओ, विहिणा य पमाणजुत्तं तु ॥१॥"

इति सप्रसङ्गगाथार्थः ॥ १०० ॥ आह—यद्येतद्दोषविप्रमुक्त एव यतिनाऽऽहारो ग्रहीतव्यस्तदा कदाचिदेवंविधस्य तस्याऽप्राप्त्या बुभुक्षातो देहादेर्बाधा स्याद्यदाह—

※ "०व स्फेटयति" प. ह. क. प.। × "तुम्बकपात्रे बीजनिष्कासनम्" इति प० अ.।

"तं नत्थि जं न बाहइ, तिलतुसमित्तं छुहा सरीरस्स। सन्निज्झं सव्वदुहा-इं दिंति आहाररहियस्स ॥१॥" यतः-
"पंथसमा नत्थि जरा, दारिद्दसमो य परिभवो नत्थि। मरणसमं नत्थि भयं, छुहासमा वेयणा नत्थि ॥२॥" तथा
"गलइ बलं उच्छाहो, अवेइ सिढिलेइ सयलवावारे। नासइ सत्तं अरई, विवड्ढए असणरहियस्स ॥ ३ ॥"

ततश्च स्वर्गापवर्गावन्ध्यनिबन्धनत्वेनाऽधःकृतचिन्तामणिकल्पद्रुमोपमानानामतिदुर्लभतरसच्चरणकरणव्यापाराणां कथं हानिर्न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—

दी०—इत्येवं त्रिविधैषणाया—गवेषण-ग्रहण-ग्रासभेदात्सप्तचत्वारिंशद्विधाया दोषा 'लेशेन' संक्षेपेण 'यथागमं' पिण्डनिर्युक्त्यादिग्रन्थानुसारेण मया 'अभिहिता' उक्ताः। एषु च दोषेषु गुरुलघुविशेषं—को दोषो गुरुः? कश्च लघुरित्येवं स्वरूपं 'शेषं च' यदत्र नोक्तं—नामादिन्यास-दृष्टान्त-भङ्गक-विस्तरविचारणादिकं, तत् ×'मुणे'ज्जानीयात् सूत्रा—दागमादिति गाथार्थः ॥१०१॥

अथैतावद्दोषरहितपिण्डस्याभावे मुनिः किं कुर्यादित्याह—

सोहिंतो य इमे तह, जइज्ज सव्वत्थ पणगहाणीए। उस्सग्गऽववायविऊ, जह चरणगुणा न हायंति ।१०१।

व्याख्या—'शोधयन्' विशुद्धपिण्डग्रहणार्थमवलोकयन्, चः शब्दः प्राक्तनोपदेशापेक्षयोपदेशान्तरसमुच्चयार्थः, कानित्याह-'इमान्' अनन्तरोक्तदोषां'स्तथा' तेन सर्वथा शुद्धाहाराप्राप्तौ +मनागशुद्धादितद्ग्रहणलक्षणेन-प्रकारेण 'यतेत' यतनां कुर्यात्। क?, सर्वत्र क्षेत्रकालादौ। कया करणभूतयेत्याह—पञ्चकहान्या, इहाऽकृतवीप्सोऽपि पञ्चकशब्दस्तदर्थसम्भवाद्वीप्सार्थो

× "मुने-ज्जानीयात्" ह. क.। 'मुणेज्ज' जानीयादिति सङ्गतमिति मे मतिः। + "मनाक्शुद्धाशुद्धादि" प. ह. क. अ. य.।

व्याख्येयस्ततश्च पञ्चकेन पञ्चकेनाऽऽगमप्रसिद्धप्रायश्चित्तलक्षणेन कृत्वा यका 'हानिः' स्वानुष्ठानव्ययो, व्येति चाऽशुद्धाहारग्रहणादिनाऽपराधसम्भवे तच्छुद्ध्यर्थं विधीयमानमनुष्ठानं, नृपापराधे दीयमानदण्डद्रव्यवत्, सा पञ्चकपरिहाणिस्तया, एतदुक्तं भवति–सर्वथा शुद्धाहारस्याऽप्राप्तौ लघुगुरुपञ्चकप्रायश्चित्तार्हदोषदुष्टमाहारं गृह्णीयात्, तस्याऽप्राप्तौ लघुगुरुदशकप्रायश्चित्तार्ह+दोषवन्तं, तस्याऽप्यभावे लघुगुरुपञ्चदशकप्रायश्चित्तार्हदोषदुष्टमित्यादि, न पुनः कारणोत्पत्तावपि गुरुगुरुत्तरप्रायश्चित्तशोध्यगुरुगुरुत्तरदोषदुष्टमशनादि प्रथमत एवासेवेतेति। कः ? इत्याह–'उत्सर्गापवादौ' कारणाभावसद्भावौ 'वेत्ति' अवगच्छति यः स उत्सर्गापवादविद्वान्–सम्यगधीतच्छेदादिश्रुत इत्यर्थः। साधुरिति गम्यते। 'यथा' येन देहोपष्टम्भकरणलक्षणेन प्रकारेण 'चरणगुणा' आवश्यकादयश्चारित्रधर्मा 'न' नैव 'हीयन्ते' हानिमुपगच्छन्तीति गाथार्थः॥ १०१ ॥

इत्थं चाऽशठस्य यतनया प्रवर्तमानस्य विराधनाऽपि निर्जराफलैवेति प्रतिपादयन्नाह—

दी०–'शोधयन्' विशुद्धपिण्डार्थमन्वेषयन्, च शब्द उपदेशान्तरसमुच्चये, कान्? इमान्–दोषान्। 'तथा' तेन–निर्दोषाहाराप्राप्तौ मनागशुद्धस्यापि ग्रहणेन 'यतेत' यतनां कुर्यात्, क्व? सर्वत्र क्षेत्रकालादौ, कया? पञ्चकहन्या, पञ्चकशब्दोऽत्र वीप्सया व्याख्येयस्ततः पञ्चकपञ्चकेन सूत्रप्रसिद्धप्रायश्चित्तलक्षणेन या हानिः स्वानुष्ठानव्ययरूपा, कोऽर्थः? सदोषाहारग्रहणाद्यपराधशुद्धये विधीयमानानुष्ठानं, नृपापराधे दीयमानदण्डद्रव्यवत्, तया। को यतेत? 'उत्सर्गापवादवित्' कारणाभावसद्भावविद्वान् यतिः, यथा, किं स्याद्? इत्याह–चरणगुणा न हीयन्त इति गाथार्थः॥१०१॥ इत्थं चाशठस्य यतनायोगे निर्जरामाह–

+ " दोषदुष्टमाहारं गृह्णीयात्तस्याभावे " अ.।

जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स। सा होइ निज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स॥१०२॥

व्याख्या—या काचिद्विराधनेति योगः 'यतमानस्य' कारणिकसेवायामपि यथाशक्त्या गुरुदोषपरिहारेण प्रवर्त्तमानस्य साधो 'भवे'त्स्या'द्विराधना'स्वानुष्ठानखण्डना, पुनः किंविशिष्टस्य साधोरित्याह—'सूत्रस्या'ऽऽगमस्य 'विधि'र्विधानमर्थ इत्यर्थः सूत्रविधिस्तेन 'समग्रो' युक्तस्तस्य गीतार्थस्येत्यर्थः, सा विराधना 'भवति'जायते 'निर्जराफला' कर्मविशोधिका। पुनरपि कथम्भूतस्य ?, 'अध्यात्मं' मनस्तस्य 'विशोधि'र्यथौचित्येन प्रवर्त्तनाद्रागद्वेषाभावरूपा निर्मलता, तया 'युक्तस्य' समन्वितस्येति गाथार्थः॥१०२॥

अथ ग्रन्थसमाप्तौ स्वनामाविष्करणगर्भं स्वप्रवृत्तेः स्वरूपं फलवत्त्वं च दर्शयन् ग्रन्थकारः कामपि बहुश्रुतप्रार्थनां कर्तुमिदमाह—

दी०—या काचिद् 'यतमानस्य' कारणिकसेवायामपि यथाशक्त्या गुरुदोषपरिहारिणो यतेर्भवेद् 'विराधना' स्वानुष्ठानखण्डना, कथम्भूतस्य ? 'सूत्रविधिसमग्रस्य' सिद्धान्तार्थसम्पूर्णस्य, सा विराधना भवति 'निर्जराफला' कर्मविशोधिका, कीदृशस्य सतः ? अध्यात्मं—मनस्तस्य विशोधि—र्यथौचित्याचरणाद्रागद्वेषाभावरूपा, तया युक्तस्येति गाथार्थः॥ १०२॥

अथ ग्रन्थसमाप्तौ ग्रन्थकारो निजनामग्रथनफलबहुश्रुतप्रार्थनागर्भितं शार्दूलवृत्तमाह—

इच्चेयं जिणवल्लहेण गणिणा जं पिंडनिज्जुत्तिओ, किंची पिंडविहाणजाणणकए भव्वाण सव्वाण वि।
वुत्तं सुत्तनिउत्तसुद्धमइणा भत्तीइ सत्तीइ तं, सव्वं भवममच्छरा सुयहरा बोहिंतु सोहिंतु य॥१०३॥

व्याख्या—इत्येतदनन्तराभिहितत्वेन प्रत्यक्षं यत्किञ्चिदुक्तं, तद्भव्यान् बहुश्रुता बोधयन्त्वित्ति योगः। केनोक्तमि-

त्याह—'जिनवल्लभेन' जिनवल्लभनाम्ना साधुविशेषेण, किंविशिष्टेनेत्याह—'गणिना' व्याख्याप्रज्ञप्त्युपधानोद्वहनावाप्तगणि-लक्षणनामचिह्नेन, अथवा गुणगणः साधुगणो वा विद्यतेऽस्येति गणी, तेन, यत्पिण्डनिर्युक्तेर्ग्रन्थविशेषात् 'किञ्चित्' स्तोकमात्रं, किमर्थमुक्तमित्याह—'पिण्डविधानज्ञानकृते' आहारविधिपरिज्ञानहेतोः, केषामित्याह—'भव्यानां' योग्यानां 'सर्वेषामपि' साधुश्रावकव्यक्तिसङ्ग्रहणात्समस्तानामपि, श्रावकाणामपि पिण्डैषणाध्ययनार्थस्याधिकारित्वाद्यदाह आवश्यकचूर्णिकारः—"सावओ पुण सुत्तओ अत्थओ य जहन्नेण अट्ठपवयणमायाओ सिक्खइ, उक्कोसेणं सुत्तत्थेहिं जाव छज्जीवणियं, अत्थओ पिंडेसणज्झयणं, न पुण सुत्तओ वि "त्ति। 'वुत्तं'ति 'उक्तं'—प्रस्तुतग्रन्थरूपतया विरचय्य भाषितं। किंविशिष्टेन जिनवल्लभेनेत्याह-सूत्रनियुक्तमुग्धमतिना,सूत्रे नियुक्ता-ऽऽगमे व्यापारिता मुग्धा-ऽनिपुणा +मति-बुद्धिर्येन स तथा तेन, अनेन च किलाऽऽत्मौद्धत्यपरिहारमाह। कया हेतुभूतया तेनोक्तमित्याह—'भक्त्या' प्रवचनबहुमानेन 'सत्तीइ'त्ति च शब्दाध्याहाराच्छक्त्या च—स्वबुद्धिसामर्थ्येन, तदस्मदुक्तं 'सव्वं भव्वं'ति जातिनिर्देशात् 'सर्वान्' समस्तान् 'भव्यान्' योग्यान्, यद्वा सर्वमिति उक्तस्य विशेषणं भव्यमिति बोधयन्त्विति क्रियाया विशेषणं, भव्यानिति च प्रक्रमगम्यं, अमत्सरा—अद्वेषिणः, संज्वलनकषायोदये मत्सरस्याऽपि सम्भवात्, न श्रुतधराणां प्रस्तुतविशेषणव्यवच्छेद्यार्थासम्भव आशङ्कनीयः, दृश्यते चोत्तराध्ययनचूर्णौ निर्ग्रन्थविचारणायामयमर्थः "नाण-पडिसेवणाकुसीलो" ज्ञानविराधनां करोति कालविनयबहुमानादीनि न सम्यक्करोति, तथा ज्ञानस्य ज्ञानिनां च निन्दाप्रद्वेषमत्सरादीनि करोतीत्यादि, बकुशपरिसेवनाकुशीलाद्यन्यतराश्च साम्प्रतसाधव इति। के? इत्याह—'श्रुतधरा' आगमवेदिनो 'बोधयन्तु' ज्ञापयन्तु तथा शोधयन्तु चोत्सूत्रार्थापनयनेन निर्दोषं

स्वौद्धत्य-
परिहारपूर्वं-
दूषणाप-
नयनाभ्य-
र्थना श्रुत-
धरान्प्रति।

कुर्वन्तु, च शब्दो बोधनक्रियापेक्षया समुच्चयार्थ इति शार्दूलच्छन्दोवृत्तार्थः ॥ १०३ ॥ समाप्ता चेयं पिण्डविशुद्धिप्रकरण-वृत्तिः । २८०० ग्रन्थाग्रं । प्रतिवर्णतो गणनया, न्यूनं सहस्रत्रयं शतद्वयेनेति ।

दी०—इत्येतत्पूर्वोक्तं जिनवल्लभाख्येन 'गणिना' उदूढभगवत्यङ्गादियोगेन यत् पिण्डनिर्युक्तितो मूलग्रन्थात् 'किञ्चित्' स्वरूपमात्रं 'पिण्डविधानज्ञानकृते' आहारविधिपरिज्ञानहेतोः, केषां ? 'भव्यानां' योग्यानां सर्वेषामपि साधुश्राद्धादीनां 'वुत्तं' प्रकरणरूपतया विरच्योक्तं, किंविशिष्टेन ? 'सूत्रनिर्युक्तमुग्ध(शुद्ध)मतिना' सिद्धान्तव्यापारित+निपुणबुद्धिना, औद्धत्यपरिहारार्थमिदं । कयोक्तं ? 'भक्त्या' प्रवचनबहुमानेन 'शक्त्या च' स्वबुद्ध्यनुसारेण । तत्सर्वं मदुक्तं भव्यं यथा भवत्येवं 'अमत्सरा' ? अद्वेषिणः 'श्रुतधरा' यथार्थागमवेदिनो 'बोधयन्तु' शिष्यान् ज्ञापयन्तु 'शोधयन्तु च' उत्सूत्रापनयनेन निर्दोषं कुर्वन्तु इति गाथार्थः ॥ १०३ ॥ समाप्ता चेयं पिण्डविशुद्धिदीपिका ।

[वृत्तिकृत्प्रशस्तिः]—

आसीच्चन्द्रकुलोद्गतिः शमनिधिः सौम्याकृतिः सन्मतिः, संलीनः प्रतिवासरं निलयगो वर्षासु सुध्यानधीः ।
हेमन्ते शिशिरे च शार्वरहिमं सोढुं कृतोर्ध्वस्थिति-र्भास्वच्चण्डकरे निदाघसमये चाऽऽतापनाकारकः ॥ १ ॥
आदेयता तपस्त्याग-व्याख्यातृत्वादिसद्गुणैः । लोकोत्तरैर्विशालश्च, श्रीमद्वीरगणिप्रभुः ॥ २ ॥ [युग्मम्] ।
श्रीचन्द्रसूरिनामा, शिष्योऽभूत्तस्य भारतीमधुरः । आनन्दितभव्यजनः, शंसितसंशुद्धसिद्धान्तः ॥ ३ ॥

+ " मुग्धो मूढे रम्ये " इति हैमानेकार्थोक्तिः ।

तस्याऽन्तेवासिना, दृब्धा श्रीयशोदेवसूरिणा । सुशिष्यपार्श्वदेवस्य, साहाय्यात्प्रस्तुता वृत्तिः ॥ ४ ॥
श्रुतोपयोगोऽशुभकर्मनाशनो, विपक्षभावप्रतिबन्धसाधनः । परोपकारश्च महाफलावहो, विचिन्त्य चैतद्विहितोऽयमुद्यमः ॥५॥
पिण्डविशुद्धिप्रकरण-वृत्तिं कृत्वा यदवासं मया कुशलम् । तेनाऽऽभवमपि भूयाद्, भगवद्वचने ममाऽभ्यासः ॥ ६ ॥
श्रुतहेमनिकषपट्टैः, श्रीमन्मुनिचन्द्रसूरिभिः पूज्यैः । संशोधितेयमखिला, प्रयत्नतः शेषविबुधैश्च ॥ ७ ॥*

* * * *

पंन्यासकेशरमुनीशमहाशयानां, शिष्योऽस्ति बुद्धिमुनिरत्र गणी प्रधानः ।
तस्याऽऽज्ञया लिखितवान् पुरिमोहमय्यां, सुश्रावको विजयचन्द्र इमां प्रतिं तु ॥ १ ॥

* * * *

अथ दीपिकाकृत्प्रशस्तिः—

इति विविधविलसदर्थं, सुविशुद्धाहारमहितसाधुजनम् । श्रीजिनवल्लभरचितं, प्रकरणमेतन्न कस्य मुदे ? ॥ १ ॥

---

* " इति श्रीखरतरगणगगनमार्त्तण्ड-श्रीजिनवल्लभसूरिविरचितश्रीपिण्डविशुद्धिप्रकरणवृत्तिः समाप्तेयम् । " इति अ. पुस्तके । ग्रन्थाग्र २८०० । प्रतिवर्णतो गणनया, न्यूनं सहस्रत्रयं शतद्वयेनेति । षड्वाजीन्दुहिमांशुभिः (११७६), परिमिते वर्षे गते विक्रमान्निर्मितेयम् ॥ ८ ॥ इति प. ह. पुस्तके । आर्यायामस्यां " वर्षे गते " इत्येतौ शब्दावधिकावाभातः, छन्दोभङ्गत्वात् ।

माद्दश इह प्रकरणे, महार्थपङ्कौ विवेश बालोऽपि । यद्वृत्त्यङ्गुलिलग्नस्तं श्रयत गुरुं यशोदेवम् ॥ २ ॥
आसीदिह चन्द्रकुले, श्रीश्रीप्रभसूरिरागमधुरीणः । तत्पदकमलमरालः, श्रीमाणिक्यप्रभाचार्यः ॥ ३ ॥
तच्छिष्याणु+र्जडधी–रात्मविदे सूरिरुदयसिंहाख्यः । पिण्डविशुद्धेर्वृत्ति–मुदध्रे दीपिकामेनाम् × ॥ ४ ॥
अनया पिण्डविशुद्धे–र्दीपिकया साधवः करस्थितया । *शस्यावलोककुशला, दोषोत्थतमांस्यपहरन्तु ॥ ५ ॥
विक्रमतो वर्षाणां, पञ्चनवत्यधिकरविमितशतेषु(१२९५) । विहितेयं श्लोकैरिह, सूत्रयुता त्र्यधिकसप्तशती(७०३) ॥ ६ ॥
एषा पिण्डविशुद्धिसाधनधियां बोधात्मिका दीपिका, तन्वाना विशदप्रभापरिचयं दूरे हरन्ती तमः ।
श्रेयः श्रीभरसङ्गमेन दधती सत्पात्रशोभां परां, विद्वद्भिः स्वपरप्रकाशनकृते स्नेहेन सम्पुष्यताम् ॥ ७ ॥ †

इति पिण्डविशुद्धिदीपिका समाप्ता । ग्रं० ७०३ ।

संवत् शशिमुनिशशिकलामितवर्षे(१६७१) शरदृतौ आश्विनसितद्वितीयातीथौ रविवारे श्रीमरोट्टकोट्टे श्रीवाचनाचार्य-श्रीविजयमंदिरगणिवराणाम् शिष्य पं० सौभाग्यमेरुसाधुना लिखितमिदं । शुभं भूयात् लेखकपाठयोः । इति अ. पुस्तके ।

+ "तच्छिष्योऽहं ज°" प. अ. । × "°मेताम्" प. । * "तस्या°" (?) प. अ. । † सं० १५०८ वर्षे श्रीदेवकुलके प्रतीपत्तिथौ भौमदिने लिखितं । इति ह. पुस्तकान्ते ।

संवन्नेत्रनिधानसिन्धुरधरासङ्ख्ये सिते मार्गके, चन्द्रे रुद्रतीथौ गणे खरतरे दुर्गे च मण्डोवरे ।
प्राप्तं पुण्यवशाद्गुरोश्च कृपया सूर्यास्पदं सत्तमं, ते श्रीजैनमहेन्द्रसूरिगुरवो जीयासुरुर्व्यां सदा ॥ १॥×



× यैर्विंशतितमायाः शताब्द्याः जैनशासनस्यासाधारणप्रभावकाः क्रियोद्धारविधायकाः श्रीमन्मोहनमुनीश्वराः संवन्नेत्रखनिधीन्दु-वत्सरे [१९०२] वैक्रमे यतित्वेन दीक्षितास्तेषां श्रीपूज्यानां श्रीजिनमहेन्द्रसूरिवराणामाचार्यपदप्राप्तिसमयादिसूचकोऽयं पद्यो जैतारण-ग्रामस्थे श्रीसङ्घसत्के चित्कोपे एकस्मिन्नेव क्षुल्लके पत्रखण्डे लिखितः समुपलब्धः ।

शुद्धिपत्रकम्—

पत्रम्	पृष्टम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
६	१	८	द्रव्यन्नि॰	द्रव्यनि॰
१५	२	४	॰दुवउगे	॰दुवओगे
१९	२	१	आचरित्वा॰	आचरितत्वा॰
२३	१	१	हेतुत्वनु०	हेत्वनु
२७	२	२	मालवाकादे॰	मालवकादे॰
,,	,,	३	स्यादत्तत॰	स्यात्तत॰
२८	२	१०	॰खगतवो॰	॰खवगतवो॰
३१	२	६	कियतीरपि	कियती अपि
३९	,,	१३	पा न प्र॰	पानप्र॰
४१	,,	३	दट्टण	दट्ठूण
४३	१	१०	ताड्यसि	ताडयसि
५४	२	११	सुट्ठ	सुट्ठु
५८	२	१०	॰मने न	॰मनेन
६०	१	१	॰मुवविट्ठो	॰मुवविट्ठो
६४	२	६	भणा॰	भणना॰
८१	२	४	घेतव	घेत्तव॰
९२	२	९	॰राधार्मिकी॰	॰राधाकार्मिकी॰
९४	१	११	वहविहे	वहुविहे
९६	१	१	॰याद्धियञ्चिा	॰यद्धियच्चिा

आसन्नखरतरे गच्छे, सुविशुद्धक्रियान्विते । नाम्ना मोहनलालेति, क्रियोद्धारस्य कारकाः ॥ १ ॥

इति पिण्डविशुद्धिप्रकरणं समाप्तम् ।

तच्छिष्यशिष्यपंन्यास–गणिकेशरसन्मुनेः । शिष्यं हि गणिबुद्ध्यब्धि, ते प्रयच्छन्तु शं सदा ॥ २ ॥